प्रकाशक :
प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्व-विद्यालय
पाण्डव भवन, माऊण्ट आबू-307501
(राजस्थान)

पुस्तक मिलने का स्थान :
साहित्य विभाग प्र.ब्र.कु.ई.वि.वि.
पाण्डव भवन, आबू पर्वत-307501

प्रथम मुद्रण :
मई, 1996 (5000)

मुद्रक :
ओम शान्ति प्रेस,
ज्ञानामृत भवन,
शान्तिवन, तलहटी
आबू रोड-307026
☎ 22678, 22340

भूमिका

मूल्याधारित समाज के निर्माण की ओर

सन् 1996 प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्वविद्यालय के लिए "हीरक जयन्ती वर्ष" है। इस वर्ष, अपने निजी पुरुषार्थ के लिए हरेक व्यक्ति के सामने यह लक्ष्य रहेगा कि *"सच्चे एवं अमूल्य हीरे की तरह बे-दाग़ एवं निर्दोष बनना है।"* समाज- सेवा के कार्य में हरेक इस नारे को लिये होगा कि *"मूल्यों पर आधारित समाज की ओर आगे बढ़ना है।"* कई लोग इस बात को स्पष्ट रूप से जानना चाहते हैं कि *"मूल्याधारित समाज"* (Value-based Society) का क्या भावार्थ है और उसके लिये हमें क्या करना होगा। इस उद्देश्य से यह चर्चा करना ज़रूरी है कि इस प्रसंग में "मूल्य" शब्द से हमारा क्या भाव है?

"मूल्य" क्या है?

हम जिस वस्तु को जितना लाभकारी, ज़रूरी और महत्वपूर्ण मानते हैं, हमारे लिये वह वस्तु उतनी ही *"मूल्यवान"* होती है। "मूल्य" किसी वस्तु को केवल क्रय (खरीदने) या विक्रय (बेचने) के लिए आवश्यक धन-राशि (रुपये-पैसे) ही को नहीं कहते बल्कि किसी वस्तु की प्राप्ति, किसी कार्य की सफ़लता या किसी लक्ष्य की सिद्धि के लिये जितनी मेहनत की आवश्यकता हो, उसको भी मूल्य कहते हैं। किसी वस्तु की 'गुणवत्ता', 'लाभकारिता', 'उपयोगिता' या सुख शान्ति-सौंदर्य-सत्य की प्राप्त्यार्थ किसी चीज़ की 'महत्वात्मिकता' भी उसके मूल्यों को निर्धारित करती है। किसी चीज़ को प्राप्त करने में कितने उद्यम, परिश्रम, समय, सूझ इत्यादि को लगाना पड़ता है, उस पर भी उसका मूल्य आधारित होता है। जिस चीज़ को प्राप्त करने के लिए हमें कुछ भी मेहनत न करनी पड़ती हो और जो काफ़ी मात्रा में सहज सुलभ हो या जिस चीज़ की हमारे लिये कोई आवश्यकता या उपयोगिता न हो, उसका हमारे लिये कोई भी मूल्य नहीं होता या उस वस्तु का हमारी निगाह में उतना ही कम मूल्य होता है।

''भौतिक मूल्य''

यदि *'मूल्य'* शब्द को इस अर्थ में ग्रहण किया जाये तो संसार में बहुत-से लोगों के लिये धन, भवन, भोग्य पदार्थों इत्यादि का अधिक मूल्य होता है क्योंकि वे मानते हैं कि इन पदार्थों ही से सुख और यश की सिद्धि होती है। वे भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति, प्रकृति के पदार्थों की उपलब्धि, इह-सांसारिक कामनाओं की सिद्धि, कर्मेन्द्रिय अथवा शरीर की सुख-सुविधा की सामग्री के संचय को ही सर्वाधिक महत्व देते हैं। इनके बिना वे जीवन को व्यर्थ, निरर्थक, निकृष्ट अथवा निम्न स्तर का मानते हैं। ऐसे लोग **'भौतिकवादी'** (Materia-lists) कहलाते हैं और उनके लिए भौतिक मूल्य (Material Values) ही प्राथमिकता रखते हैं। वे वित्तैष्णा तथा व्यवसाय में ही प्राय: अपना सारा जीवन लगा देते हैं और पैसा तथा पदार्थ अर्जित और संचित करने में ही बिता देते हैं क्योंकि उनके जीवन का लक्ष्य ''धन, पदार्थ और ऐन्द्रिय सुख'' ही होता है। उसको ही वे एकमात्र अथवा सर्वोपरि एवं सर्वश्रेष्ठ प्राप्ति मानते हैं। यों पैसा कमाने या भौतिक सुखों को प्राप्त करने को *'बुरा'* नहीं कहा जा सकता क्योंकि सुखी जीवन के लिये इनकी भी आवश्यकता है परन्तु कई लोग ईमानदारी, दया, प्रेम, सच्चाई, सहयोग, सहानुभूति इत्यादि को छोड़कर येन-केन-प्रकारेण पैसा कमाना चाहते हैं, अर्थात् वे अन्य महत्वपूर्ण बातों को महत्व ही नहीं देते। अत: वे कट्टर, नितान्त अथवा कोरे *भौतिकवादी* होते हैं। वे अपनी माँ के प्रति स्नेह और सेवा-भाव से भी पैसे और मुनाफ़े को अधिक मूल्य तथा महत्व देते हैं। वे किसी का खून सुखा कर अथवा बहाकर भी पैसे की प्राप्ति को मूल्य देते हैं। उनके मन में **'बुराई'** और **'भलाई'** में इसके सिवा कोई भेद नहीं है कि *'अच्छाई'* वह है जिससे अपने स्वार्थ की सिद्धि हो और विषय-वस्तु की प्राप्ति हो।

नैतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक मूल्य

इन लोगों से भिन्न कुछ सज्जन ऐसे होते हैं जो **'अच्छाई'** और **'बुराई'** के भेद को ठीक तरह जानते हैं और वे उस कार्य-विधि, व्यवहार-विधि तथा विचार- पद्धति को मूल्य देते हैं जिससे दूसरों का भी भला हो या कम-से-कम दूसरों की हानि तो न हो। ऐसे लोगों के मूल्यों को **''नैतिक मूल्य''**, **''सामाजिक मूल्य''** या **''आध्यात्मिक मूल्य''** कहा जाता है क्योंकि उनके इस दृष्टिकोण एवं

कार्यकलाप से उनकी अन्तरात्मा उन्हें कचोटती नहीं है और उन से समाज का भी भला होता है तथा उनकी अपनी भी आध्यात्मिक उन्नति होती है।

ऐसे लोग यह मानकर चलते हैं कि भौतिक वस्तुयें, ऐन्द्रिय सुख के पदार्थ तथा इह-सांसारिक प्राप्तियाँ क्षणभंगुर हैं, परिणामी हैं, अस्थाई हैं, नाशवान हैं और वे मनुष्य की इच्छाओं को बढ़ाने वाली हैं। इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण बात यह है कि यदि व्यक्ति *'अच्छा'* साधन न अपनाकर किसी *'बुरे'* तरीके से धन-धान्य, महल-माड़ी या मान-यश की प्राप्ति करता है तो उसका मन उसे कचोटता रहता है, उसे सुख-चैन की नींद भी नहीं करने देता बल्कि भयभीत बनाये रखता है, चिन्ता-चिता पर डाल देता है और कुछ ही समय में उसकी सुखानुभूति को धूमिल करता हुआ उसे उदास और निराश कर देता है। वह व्यक्ति स्वास्थ्य भी बिगाड़ बैठता है, लोगों की निगाहों में *'बुरा'* भी बनता है, सम्बन्ध भी बिगाड़ बैठता है और आखिर में पश्चाताप की अग्नि में दुःखी होता है। वह ईर्ष्या से जलता है, कामनाओं की गुलामी करता है, अपने भीतर की दैवी आवाज़ का गला घोंटता है, आत्म-सम्मान को कालिख से काला कर देता है और **बाहर से चौधरी परन्तु भीतर से चौपट होता है।** *बुरे* का अन्त *बुरा* और *अच्छे* का अन्त *अच्छा* ही होता है। कुछ समय तक तो यही देखने में आता है कि बुराई वाला व्यक्ति आगे बढ़ रहा है, तरक्की कर रहा है, पनप रहा है और प्रतिष्ठा प्राप्त करता जा रहा है परन्तु अन्ततोगत्वा वह ऐसा गिरता है कि "तोबा ही भली", अर्थात् उस पर "आह" भरने के सिवा उसके पास कोई चारा ही नहीं रहता। **अतः जो नैतिकता को मूल्य देते हैं, वे अच्छाई को छोड़कर सांसारिक पदार्थों की मृग-तृष्णा से बच कर रहते हैं। वे प्राथमिकता नैतिकता को तथा सद्गुणों ही को देते हैं क्योंकि मूल्यों या गुणों के बिना सफलता भी समस्या का रूप ले लेती है, प्राप्ति भी पुलिस के पास ले जाती है, प्रतिष्ठा भी पाखण्ड की तरह भासती है।**

'अच्छाई' क्या है और 'बुराई' क्या है?

गहराई से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि *'सम्पूर्ण और स्थाई सुख-स्वास्थ्य-सौंदर्य", "सदा के लिए पवित्रता-सुख-शान्ति", "स्थायी प्रसन्नता", सम्पत्ति और स्वास्थ्य", "सत्यं-शिवं-सुन्दरं" या 'निर्मल एवं प्रेम, प्रसन्नता और पदार्थ-प्राप्ति" ही मनुष्य-जीवन का लक्ष्य है* । मनुष्य -न-किसी को या इन सभी को प्राप्त करने के लिये निरन्तर है। इनकी प्राप्ति कराने के लिए जो व्यक्ति, वस्तुयें,

''भौतिक मूल्य''

यदि *'मूल्य'* शब्द को इस अर्थ में ग्रहण किया जाये तो संसार में बहुत-से लोगों के लिये धन, भवन, भोग्य पदार्थों इत्यादि का अधिक मूल्य होता है क्योंकि वे मानते हैं कि इन पदार्थों ही से सुख और यश की सिद्धि होती है। वे भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति, प्रकृति के पदार्थों की उपलब्धि, इह-सांसारिक कामनाओं की सिद्धि, कर्मेन्द्रिय अथवा शरीर की सुख-सुविधा की सामग्री के संचय को ही सर्वाधिक महत्व देते हैं। इनके बिना वे जीवन को व्यर्थ, निरर्थक, निकृष्ट अथवा निम्न स्तर का मानते हैं। ऐसे लोग **'भौतिकवादी'** (Materialists) कहलाते हैं और उनके लिए भौतिक मूल्य (Material Values) ही प्राथमिकता रखते हैं। वे वित्तैष्णा तथा व्यवसाय में ही प्राय: अपना सारा जीवन लगा देते हैं और पैसा तथा पदार्थ अर्जित और संचित करने में ही बिता देते हैं क्योंकि उनके जीवन का लक्ष्य ''धन, पदार्थ और ऐन्द्रिय सुख'' ही होता है। उसको ही वे एकमात्र अथवा सर्वोपरि एवं सर्वश्रेष्ठ प्राप्ति मानते हैं। यों पैसा कमाने या भौतिक सुखों को प्राप्त करने को *'बुरा'* नहीं कहा जा सकता क्योंकि सुखी जीवन के लिये इनकी भी आवश्यकता है परन्तु कई लोग ईमानदारी, दया, प्रेम, सच्चाई, सहयोग, सहानुभूति इत्यादि को छोड़कर येन-केन-प्रकारेण पैसा कमाना चाहते हैं, अर्थात् वे अन्य महत्वपूर्ण बातों को महत्व ही नहीं देते। अत: वे कट्टर, नितान्त अथवा कोरे *भौतिकवादी* होते हैं। वे अपनी माँ के प्रति स्नेह और सेवा-भाव से भी पैसे और मुनाफ़े को अधिक मूल्य तथा महत्व देते हैं। वे किसी का खून सुखा कर अथवा बहाकर भी पैसे की प्राप्ति को मूल्य देते हैं। उनके मन में **'बुराई'** और **'भलाई'** में इसके सिवा कोई भेद नहीं है कि *'अच्छाई'* वह है जिससे अपने स्वार्थ की सिद्धि हो और विषय-वस्तु की प्राप्ति हो।

नैतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक मूल्य

इन लोगों से भिन्न कुछ सज्जन ऐसे होते हैं जो **'अच्छाई'** और **'बुराई'** के भेद को ठीक तरह जानते हैं और वे उस कार्य-विधि, व्यवहार-विधि तथा विचार- पद्धति को मूल्य देते हैं जिससे दूसरों का भी भला हो या कम-से-कम दूसरों की हानि तो न हो। ऐसे लोगों के मूल्यों को **''नैतिक मूल्य''**, **''सामाजिक मूल्य''** या **''आध्यात्मिक मूल्य''** कहा जाता है क्योंकि उनके इस दृष्टिकोण एवं

कार्यकलाप से उनकी अन्तरात्मा उन्हें कचोटती नहीं है और उन से समाज का भी भला होता है तथा उनकी अपनी भी आध्यात्मिक उन्नति होती है।

ऐसे लोग यह मानकर चलते हैं कि भौतिक वस्तुयें, ऐन्द्रिय सुख के पदार्थ तथा इह-सांसारिक प्राप्तियाँ क्षणभंगुर हैं, परिणामी हैं, अस्थाई हैं, नाशवान हैं और वे मनुष्य की इच्छाओं को बढ़ाने वाली हैं। इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण बात यह है कि यदि व्यक्ति *'अच्छा'* साधन न अपनाकर किसी *'बुरे'* तरीके से धन-धान्य, महल-माड़ी या मान-यश की प्राप्ति करता है तो उसका मन उसे कचोटता रहता है, उसे सुख-चैन की नींद भी नहीं करने देता बल्कि भयभीत बनाये रखता है, चिन्ता-चिता पर डाल देता है और कुछ ही समय में उसकी सुखानुभूति को धूमिल करता हुआ उसे उदास और निराश कर देता है। वह व्यक्ति स्वास्थ्य भी बिगाड़ बैठता है, लोगों की निगाहों में *'बुरा'* भी बनता है, सम्बन्ध भी बिगाड़ बैठता है और आखिर में पश्चाताप की अग्नि में दुःखी होता है। वह ईर्ष्या से जलता है, कामनाओं की गुलामी करता है, अपने भीतर की दैवी आवाज़ का गला घोंटता है, आत्म-सम्मान को कालिख से काला कर देता है और **बाहर से चौधरी परन्तु भीतर से चौपट होता है।** *बुरे* का अन्त *बुरा* और *अच्छे* का अन्त *अच्छा* ही होता है। कुछ समय तक तो यही देखने में आता है कि बुराई वाला व्यक्ति आगे बढ़ रहा है, तरक्की कर रहा है, पनप रहा है और प्रतिष्ठा प्राप्त करता जा रहा है परन्तु अन्ततोगत्वा वह ऐसा गिरता है कि "तोबा ही भली", अर्थात् उस पर "आह" भरने के सिवा उसके पास कोई चारा ही नहीं रहता। **अतः जो नैतिकता को मूल्य देते हैं, वे अच्छाई को छोड़कर सांसारिक पदार्थों की मृग-तृष्णा से बच कर रहते हैं। वे प्राथमिकता नैतिकता को तथा सद्गुणों ही को देते हैं क्योंकि मूल्यों या गुणों के बिना सफलता भी समस्या का रूप ले लेती है, प्राप्ति भी पुलिस के पास ले जाती है, प्रतिष्ठा भी पाखण्ड की तरह भासती है।**

'अच्छाई' क्या है और 'बुराई' क्या है?

गहराई से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि *"सम्पूर्ण और स्थाई सुख-स्वास्थ्य-सौंदर्य", "सदा के लिए पवित्रता-सुख-शान्ति", "स्थायी प्रसन्नता", सम्पत्ति और स्वास्थ्य", "सत्यं-शिवं-सुन्दरं" या "निर्मल एवं निर्विघ्न प्रेम, प्रसन्नता और पदार्थ-प्राप्ति" ही मनुष्य-जीवन का लक्ष्य है।* मनुष्य इन ही में से किसी-न-किसी को या इन सभी को प्राप्त करने के लिये निरन्तर कुछ-न-कुछ करता रहता है। इनकी प्राप्ति कराने के लिए जो व्यक्ति, वस्तुयें,

वातावरण, वाक्य या व्यवस्था हैं, उनका ही वास्तव में मूल्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति करने के लिए जो दृष्टिकोण, विचार, या पुरुषार्थ हम करते हैं, वह "अच्छाई" अथवा "बुराई" को लिए हुए होता है। **'अच्छा'** हम उसे कहते हैं जिससे हमें भी सुख-स्वास्थ्य-सौंदर्य इत्यादि की प्राप्ति हो और दूसरे को भी हमारे इस कार्य से कष्ट न हो, अर्थात् उसका भी पतन न हो। यदि किसी साधन को अपनाने से हम में मनोविकार की उत्पत्ति होती है तो उससे हमारे जीवन में और समाज में कुप्रथायें फैलती हैं, कुरीतियाँ प्रचलित होती हैं, उच्छृंखलता, उपद्रव, अत्याचार, दुराचार, पर-पीड़ा, पर-निंदा, पर-चिन्तन और पर-पतन बढ़ते हैं। तब वह साधन या प्रयोग या कार्य-पद्धति "बुरा" कहलाते हैं। इसी बात को सामने रखकर ही नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों की चर्चा होती है।

नैतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक मूल्य

आज समाज में हमारे सामने जितनी भी समस्यायें हैं, चाहे वे पारिवारिक हों या वैश्विक, वे सभी किसी-न-किसी नैतिक मूल्य की अवहेलना या उन्माद ही के कारण हैं। उदाहरण के तौर पर सभी लड़ाई-झगड़े असहिष्णुता के कारण अथवा सहनशीलता के अभाव या उसकी कमी के कारण हैं। भ्रष्टाचार (Corruption), सन्तुष्टता और स्नेह-सौहार्द-सहानुभूति की कमी के कारण है। स्वार्थ और लोभ ही लूट-खसूट, हेराफेरी, घूसखोरी और धोखा, बनावट, मिलावट, अधिक मुनाफ़ाखोरी के मूल कारण हैं। पर्यावरण प्रदूषण भी पड़ोसियों के प्रति शुभ चिन्ता के अभाव तथा स्वार्थ-परता के कारण है। यही बात दूसरी समस्याओं के बारे में भी कही जा सकती है। समाज के भले की बात न सोचकर व्यक्ति जब अपने ही स्वार्थ की सिद्धि के लिए नाजायज़ (अनुचित) तरीके भी अपनाता है, तब **'सामाजिक प्रदूषण'** (Social Pollution) भी होता है। तब हर-कोई एक-दूसरे को देखकर ग़लत काम करने लगता है और, इस प्रकार, समाज की व्यवस्था टूट जाती है और सभी दुःखी हो उठते हैं। आज समाज की व्यवस्था की यही दशा है। सभी जगह हिंसा, नारियों का अपमान, घूसखोरी, लड़ाई-झगड़ा, विषय-भोग इत्यादि का वातावरण है। यही कारण है कि एक ओर तो बहुत-से लोग निर्धन हैं और दूसरी ओर जो धनवान हैं, वे भी प्रसन्नचित्त और शान्ति-युक्त नहीं हैं। समाज में व्यक्ति को न सुरक्षा का अनुभव होता है, न जीवन में सच्चे सुख की स्थायी अनुभूति होती है।

मूल्यों पर आधारित समाज

अतः जब हम मूल्यों पर आधारित समाज की बात कहते हैं तो उससे हमारा अभिप्राय ऐसे समाज से होता है जहाँ हरेक व्यक्ति जीवन में नैतिक मूल्यों को धारण किये हुए है। नैतिक मूल्यों के बिना तो मनुष्य का जीवन पशुओं से भी बदत्तर होता है और समाज में ''जंगल का नियम'', अर्थात् ''जिसकी लाठी उसी की भैंस'' वाली उक्ति चरितार्थ होती है। उस समाज में दया और सुरक्षा नहीं होती बल्कि बर्बरता, हिंसा और एक-दूसरे को शिकार बनाकर लोग जीते हैं। परन्तु जब समाज में नैतिक मूल्यों का पालन होता है, तभी इन्सान सही अर्थ में *'इन्सान'* होता है क्योंकि तभी वह मानव-धर्म को निभाता है। नैतिक मूल्यों के पालन के कारण ही वहाँ न वातावरण प्रदूषित होता है, न किसी वस्तु की कमी होती है, न वहाँ कोई भूख-प्यास से पीड़ित या निर्धन होता है, न वहाँ लड़ाई-झगड़े या दंगे-फसाद होते हैं। वह सभी सुख-शान्ति और स्वास्थ्य-सुरक्षा का सात्विक जीवन जीते हैं।

नैतिक मूल्यों तथा सद्गुणों या दिव्य गुणों का मेल

जब व्यक्ति अपने जीवन में नैतिक मूल्यों को अपनाते हैं, तो उनके अभ्यास से अथवा उनको व्यवहार में लाने से वो उनके गुणों के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। उदाहरण के तौर पर व्यक्ति जब कुछ समय तक *''सहनशीलता''* का अभ्यास अथवा पालन करता है तो आगे चलकर ''सहनशीलता'' उसका *स्वाभाविक गुण, दिव्य गुण* अथवा *सद्गुण* बन जाता है। वह व्यक्ति उन गुणों के कारण *देव-स्थिति* को प्राप्त कर लेता है। उन गुणों रूपी बीजों को बोने से उसे सुख-शान्ति की खेती प्राप्त होती है। उसका स्वास्थ्य भी ठीक रहता है क्योंकि वह क्रोध नहीं करता, तनाव-मुक्त भी होता है, अभक्ष्य का भक्षण भी नहीं करता और कर्मेन्द्रियों का गुलाम बनकर विषय-लोलुप भी नहीं होता। वह धन-धान्य सम्पन्न भी होता क्योंकि वह धन का अपव्यय नहीं करता और सन्तुष्ट होने से आन्तरिक प्रसन्नता की स्थिति अनुभव करता है।

योग साधना और ज्ञान-धारणा

जब तक मनुष्यों को ये बातें निश्चयात्मक रीति से स्पष्ट न हों कि (1) उसका वास्तविक एवं आदि स्वरूप पवित्रता एवं सद्गुणों वाला था, (2) वह

अपने स्वरूप में एक अनादि-अविनाशी आत्मा है, ज्योति-बिन्दु है, शुद्ध है, नित्य है, अजर-अमर है और शरीर तो उसका रथ है, कलेवर है, ताना-बाना है, यन्त्र-साधन मात्र है और स्वयं को शरीर मानने की *'एकज भूल'* के परिणाम-स्वरूप ही उसमें गिरावट, विकार, भौतिकता या बुराई आये हैं, (3) वह तो आत्मा के नाते परमपिता परमात्मा की शाश्वत सन्तान है और परमात्मा की अपार निधियों पर उसका अधिकार है और (4) कि वास्तव में तो वह ज्योति लोक, जिसे *'परमधाम'* या *'ब्रह्मलोक'* या *'शान्तिधाम'* कहते हैं, वहाँ से ही वह इस धरा-धाम में आया है और आखिर उसे यहाँ से चले जाना है और (5) कि कर्म का फल हरेक को अवश्य मिलता है और इसलिए उसे हर हालत में अच्छे ही कर्म करने चाहिएं और (6) कि अब कलियुग के अन्त और सतयुग के आरम्भ का संधिकाल (संगम समय) है और, इसलिए, कलियुग जाने वाला है तथा देवी-देवताओं वाला, सतोप्रधान, पूर्णत: सुख-शान्ति सम्पन्न सतयुग अब आने ही वाला है, तब तक उसके जीवन में स्थायी परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं होती। जब तक वह विश्व को एक बड़ा परिवार मानकर, सभी को बहन-भाई मान कर व्यवहार नहीं करता तब तक नैतिक मूल्य नहीं टिक पाते।

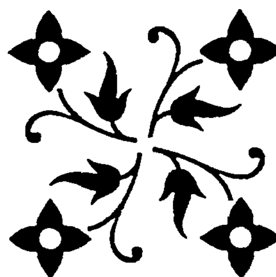
अन्यश्च, जब तक वह अपने मन की प्रीति, अपना सम्बन्ध परमपिता परमात्मा से नहीं जोड़ता, उसके गुणों का रसास्वादन नहीं करता और जीवन को उसके गुणों से प्रेरित होकर उसके अनुरूप बनाने का पुरुषार्थ नहीं करता तब तक उसके जीवन में निस्स्वार्थता, त्याग, सेवा-भाव, नम्रता, सहन-शीलता, सन्तुष्टता, मधुरता, पवित्रता इत्यादि नैतिक मूल्य या दिव्य गुण नहीं आते। अत: ज्ञान रूपी सद्विवेक और योग रूप तपस्या ही नैतिक मूल्यों की जननी और जनक या माता-पिता हैं।

इस प्रकार, इनकी शिक्षा देते हुए प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्व-विद्यालय, जो पिछले 60 वर्षों से जन-जन को नैतिक मूल्यों की शिक्षा देता आया है, अपने इस हीरक जयन्ती वर्ष में कृतसंकल्प है कि वह इस वर्ष और अधिक तीव्रता से *मूल्याधारित समाज* की स्थापना का कार्य करेगा।

आज लोग नैतिक मूल्यों की आवश्यकता की बात तो करते हैं, वे उसके महत्व को तो जतलाते हैं परन्तु, साथ-ही-साथ, **'मनोयोग'**, **'बुद्धियोग'** अथवा **'ध्यानयोग'** पर बल नहीं देते। सभी दिव्य गुणों का आदि-अनादि स्रोत तो एक परमात्मा ही है, उससे सम्पर्क-सम्बन्ध जोड़े बिना सभी दिव्य गुणों का उत्कर्ष

होगा कैसे? आज मनुष्यों का 'मनोयोग', 'प्रेमयोग' या 'ध्यानयोग' तो देह-धारी नर-नारियों ही से है और दैहिक सम्बन्ध-सम्पर्क में ही वे रात-दिन रमे हुए हैं तथा मोह-ममता में पड़े हुए हैं, तब भला वे ईश्वरीय गुणों से युक्त कैसे होंगे? मनुष्य में गुण तो उसी के संचारित होते हैं, जिससे उसकी प्रीति हो; अतः धन-दारा, पुत्र-पौत्र, जन-जाति के 'प्रेम' में डूबे होने से मनुष्य में गुण तो उन्हीं ही के आ रहे हैं। ईश्वर के गुण तो तभी आयेंगे जब वह ईश्वर की सन्तति के रूप में ईश्वर ही से मन-बुद्धि को जोड़ेगा। अतः योग और योग का प्रयोग ही व्यवहार को सद्व्यवहार, आचार को सदाचार, विचार को सद्विचार तथा गुणों को सद्गुणों में परिणत करते हैं। इसलिये ही तो कहा है कि "तस्मात् योगी भवः अर्जुन!" — हे अर्जुन, तू योगी बन! परन्तु केवल योगी ही नहीं बनना बल्कि योग का प्रयोग करते हुए 'प्रयोगी' भी बनना है, अर्थात् कर्म करते हुए भी योग-युक्त रहना है। यह विधि है गुणों के उत्कर्ष की। योग केवल 'मुक्ति' की प्राप्ति की युक्ति ही नहीं है बल्कि समाज के परिवर्तन की प्रक्रिया भी है। समाज को मूल्याधारित बनाने की विधि यही है।

-- ब्र.कु. जगदीश चन्द्र



अमृत सूची

दिव्य गुण और उनसे सिद्धि

मनुष्य के हरेक कर्म का कुछ-न-कुछ फल तो अवश्य होता ही है। हरेक साधना से उसे कुछ-न-कुछ सिद्धि तो मिलती है। जब वह सहन-शीलता, सन्तोष, त्याग, नम्रता, मधुरता इत्यादि को धारण करता है तो हरेक गुण की धारणा से उस-उस अनुसार उसे सिद्धि भी प्राप्त होती है। यहाँ हम गुणों द्वारा प्राप्त होने वाली सिद्धियों की चर्चा करेंगे —

सहनशीलता, सन्तोष, त्याग, नम्रता और मधुरता

शीलपूर्ण किसी कष्ट, अनुचित व्यवहार, दुर्घटना इत्यादि को सहन करना ही सहनशीलता है। कष्टों और दुर्घटनाओं को अपने ही कर्मों का फल मानकर शान्तचित्त हो सहन करने से मनुष्य आगे के लिए बुरे कर्मों से बचता है और उसमें शान्ति का संस्कार दृढ़ होता है गोया उसकी अवस्था अचल बनती है और वह स्वरूप स्थित होता है। घृणा और द्वेष न करते हुए दूसरे के व्यवहार को सहन करने से मनुष्य का मन उतरती कला से बचकर चढ़ती कला को प्राप्त होता है और दूसरों का भला सोचने से उसका अपना भी भला होता है। दूसरे के बुरे कर्म को न देखते हुए जो स्वयं बुराई और अशान्ति और असहिष्णुता की अग्नि से बचकर रहता है, उसे शीलता का वरदान प्राप्त होता है जिसके द्वारा वह अनेकों को शान्ति देने का उच्च कर्त्तव्य करके अपना उच्च भाग्य बना सकता है। अतः सहनशीलता द्वारा ही मनुष्य अपने मार्ग के अनेक कष्टों, विषमताओं, तूफ़ानों, आलोचनाओं इत्यादि को पार करता हुआ अपने लक्ष्य पर पहुँचता है जहाँ विजय-श्री उसका स्वागत करती है।

सन्तोष

भरसक पुरुषार्थ करने पर भी मनुष्य को जो-कुछ प्राप्त होता है, उतने से ही तृप्त होने वाला मानव सन्तोषी कहलाता है। जो इच्छाओं से छूटा है, उसकी ही सर्व इच्छायें स्वतः पूर्ण होती हैं। इच्छा प्रगट करने वाला व्यक्ति सदा भिखारी, कंगाल, गरीब अथवा मंगता दिखाई देता है। न केवल वह अपना स्वमान गँवाता है, बल्कि पानी होते हुए भी सदा प्यासा बना रहता है। अतः सन्तोष गुण ही एक ऐसा बड़ा कोष है जिसको पा लेने वाला व्यक्ति स्वयं को सदा भरपूर महसूस करता है। सन्तुष्ट वही रह सकता है जो यह मानता हो कि (1) वह सब शक्तियों के भण्डार, वरदानमूर्त एवं दाता परमात्मा की सन्तान है, (2) निकट भविष्य में

कोई भी वस्तु उसके लिए अप्राप्त रहने वाली नहीं है, (3) मनुष्य को जो कुछ प्राप्त होता है, वही उसके पुरुषार्थ और भाग्य का फल होता है और उससे अधिक इच्छा करना व्यर्थ है और (4) इच्छाओं की गुलामी सबसे बुरी गुलामी है। इसलिए वह इच्छाओं का दास बनने की बजाय सदा 'बेपरवाह बादशाह' बना रहता है। ऐसा ही व्यक्ति स्वर्ग में भी निश्चिन्त बादशाह बनने का अधिकारी बनता है और सब इच्छाओं को जीतने के फलस्वरूप सब खज़ाने उसे भेंट में मिलते हैं।

त्याग

साधनों की इच्छा न करके साधना में लगे रहना ही त्याग है। दूसरे को सुखी करने के लिए अपने सुख की भी परवाह न करना — यही त्यागी का लक्षण है। प्रभु की लग्न में मग्न रहने के लिए अन्य सब प्रकार के आकर्षणों और रसों को फीका मानना ही त्याग का मार्ग अपनाना है। त्याग ही भाग्य की कुंजी है। जो मन से छोड़ता है, वही पाता है, जो मन से पकड़े रखता है वही उस वस्तु द्वारा पकड़ा जाता है। त्याग कई प्रकार का होता है, परन्तु देह-अभिमान का त्याग सर्वोत्तम है। त्याग करने वाले में ही दानी, महादानी और वरदानी बनने की शक्ति आती है। जो प्रभु के प्यार के लिए सब-कुछ न्यौछावर कर देता है, वह प्रभु के प्यार से सब-कुछ पा लेता है। त्याग वाले व्यक्ति को इस जीवन में वह सुख प्राप्त होता है जो पदार्थों के पीछे परेशान होने वाले व्यक्ति को नहीं प्राप्त होता। जब मनुष्य मान, शान, अहंकार, मैं-पन मेरा-पन, तू-पन और तेरा-पन त्याग देता है तब सभी उसे अपना प्रेम अर्पित करते हैं और तब वह कदम-कदम में पद्म-पद्म की कमाई कर लेता है।

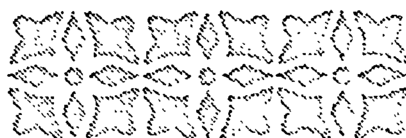
नम्रता

स्वयं में योग्यता, समर्थ और साधन-सम्पन्नता होते हुए भी उसका अहंकार न करना, उस द्वारा लोगों पर रोब न डालना ही नम्रता है। ऐसी नम्रता ही मनुष्य के मार्ग के विघ्नों को हटा देती है, दूसरों को उसका सहयोगी बना देती है और उसे बे-ताज बादशाह बना देती है। ऐसी नम्रता मनुष्य की कमज़ोरी की सूचक नहीं होती, बल्कि उसकी महानता का प्रतीक होती है। जो दूसरों के सामने झुकता है, वह ही विश्व को अपने सामने झुका लेता है। जो अकड़ता है और सामना करता है, वह टिक नहीं पाता। जो रोब डालता है, वह हृदय-सम्राट नहीं बन सकता। अतः प्रेम और नम्रता ही ऐसे अमेद्य शस्त्र हैं जिन द्वारा मनुष्य देव-

पद के ताउसी तख्त को जीत लेता है।

मधुरता

सबका मीठे वचनों से अभिवादन करना, मीठे वचनों द्वारा ही उनसे वार्तालाप में प्रवृत्त होना और उन द्वारा कोई अनुचित कार्य होने पर भी शिष्ट भाषा का प्रयोग करना, मधुरता रूपी गुण को धारण करना है। मधुरता मनुष्य की सज्जनता, सहिष्णुता, विशाल हृदयता और व्यक्तित्व की उच्चता का प्रतीक है। मधुरता द्वारा ही मनुष्य दूसरे को आह्लाद देकर उसे अपना बना लेता है। यह वह हथियार है जिसके सामने लोग अपने हथियार डाल देते हैं। मनुष्य के मन को जीतने का यदि कोई उपाय है तो वह मधुरता और नम्रता ही है। प्रेम के बिना मधुरता नहीं हो सकती और निःस्वार्थता के बिना प्रेम नहीं हो सकता और कल्याण भावना के बिना निःस्वार्थता नहीं हो सकती और कल्याणकारी शिव बाबा को याद किये बिना कल्याण वृत्ति नहीं हो सकती। अतः सच्ची, कृत्रिम नहीं और स्थाई मधुरता योगावस्था की ही सूचक है क्योंकि जैसे शहद, शहद के छत्ते से आती है, मधुर रस, मधुर फल से ही प्राप्त होता है, सुगन्धि, सुरभियुक्त पुष्प से ही प्राप्त होती है वैसे ही अलौकिक मधुरता, मधुरता के पुंज परमात्मा ही से प्राप्त होती है। मधुरता के पीछे सन्तुष्टता भी छिपी रहती है और शान्ति भी। मधुर अवस्था ही मन की एक ऐसी अवस्था है जो योग रूपी बीज बोने के वैसे ही अनुकूल है जैसे कि शोरे के बिना ज़मीन। तो जबकि मनुष्य को लोक-पसन्द बनना है और प्रभु-पसन्द भी तो मनुष्य को मृदुभाषी और प्रसन्न वदन-हर्षित मुख होना चाहिये, क्योंकि मधुरता और सम्मानपूर्वक व्यवहार करने वाले को ही सदा के लिए मधुरता और सम्मान से पूर्ण स्वर्ग में स्वराज्य मिलता है, यहाँ तक कि उनकी मूर्तियों को भी लोग जन्म-जन्मान्तर बूंदी, बर्फी आदि मिठाई का भोग लगाते हैं।



निर्विकारी क्यों बनें?

आजकल का भयंकर समय कलियुग के अन्तर्गत माना जाता है। इस समय काम, क्रोध इत्यादि विकारों का दौर-दौरा है। अब यदि लोगों को विकार छोड़ने के लिए कहा जाय तो वे इस बीसवीं शताब्दी के प्रचलित तरीके से पूछते हैं – "क्यों जी, काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा अहंकार को 'विकार' क्यों कहते हो? विकारों को छोड़ने से भला क्या होगा? यह तो बताओ कि निर्विकारिता आदि धार्मिक बातों का मनुष्य की दिनचर्या के साथ सम्बन्ध क्या है? क्या आज तक इनको किसी ने जीता भी है? इसके बिना तो संसार चल ही नहीं सकता....." अन्य कई जिज्ञासुओं से मिलिए तो आप उन्हें यह कहते सुनेंगे – "भाई, मन तो बड़ा ही चंचल है! पदार्थों तथा विषयों के नाम-रूप के पीछे भागता ही रहता है। अनेक प्रयत्न करने पर भी वश नहीं होता। क्या किया जाये? हम तो परेशान हो गए हैं!!"

"प्रात: उठकर हम संध्या भी करते हैं, पूजा भी, पाठ भी! परन्तु मर्ज़ बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की।"

फिर लुत्फ़ यह कि जिस्मानी बीमारियों से तो कोई बच भी गया होगा, लेकिन यह विकारों का मर्ज़ ऐसा है कि सत्यानाश ही हो गया। इससे तो कोई एक भी पूरी रीति नहीं बचा। इसका कारण यह भी नहीं कि किसी ने इसकी दवा नहीं की। परन्तु या तो यह मर्ज़ ही ला-दवा है या "नीम हकीम ख़तरा-ए-जान" के अनुसार इसका सही नुस्ख़ा देने वाला, सावधानी-उपचार (Precautions) बताने वाला, इन्जेक्शन लगाने वाला ही कोई नहीं रहा, क्योंकि "मुब्तला हैं सब मर्ज़े प्लेग में।" परन्तु इतना तो मानना होगा कि जब किसी बीमार को अपनी पुरानी बीमारी से जान बचाने की तरकीब (विधि) मालूम हो जाती है तो वह अन्य उम्मीदवारों को भी उस नुस्ख़े की 'अकल से नकल' करने के लिए कहे बिना रहता भी नहीं। और यह ला-ख़ता (त्रुटिरहित) साधन, संजीवनी बूटी, अमृतधारा अथवा इन्जेक्शन का नुस्ख़ा एक परमात्मा ही से मिल सकता है, क्योंकि वही एक है जो इससे स्वयं पूर्ण मुक्त, अमर एवं ज्ञान-स्वरूप हैं। अत: बहुत ही संक्षेप और सरलता से स्वयं उस सर्व दु:खहारी परमात्मा ही से प्राप्त ज्ञान-इन्जेक्शन का यहाँ वर्णन किया जाता है –

काम, क्रोध आदि को विकार क्यों कहा जाता है?

यह बात जानने के लिए कि विकारों को छोड़ना क्यों आवश्यक है, पहले यह सम[illegible] चाहिये कि विकार कहते किसको हैं।

'विकार' शब्दा का अर्थ है – 'रूप अथवा गुणों का परिवर्तन'। विशेषकर, जब किसी सत्ता का प्रारम्भिक (आदिम) रूप अथवा गुण बदलकर दोषयुक्त अथवा हानिकारक हो जाता है तो उस परिवर्तन को 'विकार' तथा परिवर्तित सत्ता को 'विकारी' कहा जाता है। उदाहरण के रूप में, यदि रक्त में कुछ बिगाड़ (दोष) होने से शरीर को हानि पहुँचती है तो रक्त के परिवर्तन को रक्त का विकार कहा जाता है। इसी प्रकार शरीर में वायु का तथा पित्त का भी विकार होता है जिससे शरीर अपने पहले वाली स्वस्थ अवस्था में न रहकर कष्ट भोगता है। ठीक इसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टिकोण से काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा अहंकार को भी विकार इस कारण कहा जाता है कि उनसे मनुष्यात्मा का स्वरूप बिगड़ जाता है। अर्थात् आत्मा स्वधर्म से पतित हो जाती है। या, यों कहिये कि उसकी अवस्था में ऐसा परिवर्तन आ जाता है जो दु:खदायक तथा हानिकारक होता है।

उदाहरण लीजिए – जब मनुष्य क्रोध करता है तो उसके मन में आवेश आता है। उसकी शान्ति भंग होती है। उसमें ईर्ष्या, प्रतिशोध (बदले की भावना) इत्यादि के रूप में अपवित्रता अथवा कुवासना आ जाती है। अब अपवित्रता और शान्ति ही तो वास्तव में आत्मा का स्वधर्म और स्वरूप है, परन्तु क्रोध इत्यादि तो मनुष्यात्मा में अपवित्रता और अशान्ति ला देते हैं। अर्थात् वे मनुष्य के स्वरूप में बिगाड़, उसकी अवस्था में दु:खजनक परिवर्तन अथवा गुण, कर्म, स्वभाव में हानिकर अन्तर लाने का कारण बनते हैं; अत: उन्हें 'विकार' कहा जाता है।

विकारों को छोड़ने की आवश्यकता

अब कौन ऐसा मनुष्य है जो सुख और शान्ति नहीं चाहता, जो अपने आपे (स्वरूप) से बिगाड़ पैदा करना चाहता है? उत्तर मिलेगा – "कोई भी नहीं।" तथा-कथित हिन्दू धर्म, बुद्ध धर्म, इस्लाम धर्म या ईसाई धर्म किसी को प्रिय हो या न, परन्तु स्वधर्म (पवित्रता और शान्ति) भला किसको प्रिय नहीं? लेकिन स्वधर्म में स्थित होने का अर्थ है विकारों (अपवित्रता और अशान्ति के कारण) का संन्यास करना। अब, जैसे स्वास्थ्य चाहने वाले मनुष्य के लिए रोग से छूटना आवश्यक है, वैसे ही लाभकर एवं प्रिय वस्तु (स्वधर्म) में स्थित होने के लिए हानिकर तथा अप्रिय वस्तु (विकारों) का छोड़ना भी अत्यावश्यक है। परन्तु जैसे मैले-कुचैले, सुस्त-नालायक और नादान बच्चों को जब माँ स्नान करने के लिए कहती है तो वह नटखट हो शेखी करते और अस्वीकृति देते हैं, वैसे ही आज बहुधा मनुष्यों को जब परमात्मा (जिसे वे 'त्वमेव मालाश्च पिता त्वमेव कहते रहते हैं') को आज्ञा सुनाई जाती है कि वे पवित्र

(निर्विकारी) रहें, तो वे भी कहते हैं कि "भाई, मुश्किल है, हम निर्विकारी नहीं रहेंगे।"

निर्विकारी न बनना महान् भूल है

विचार की बात है कि जब किसी मनुष्य को यह मालूम हो जाये कि अमुक वस्तु विष है और अमुक अमृत परन्तु तब भी यदि वह विष ही सेवन कर अपनी आत्म-हत्या करना चाहे अथवा करता रहे तो यह उसकी भूल नहीं तो और क्या है? इसी प्रकार, यह जानकर कि पवित्रता और शान्ति ही मनुष्यात्मा का जीवन है और अपवित्रता अथवा विकार ही उस जीवन की हत्या करने वाला शत्रु अथवा विष है तो विचारवान् मनुष्य को किसी भी मूल्य पर उससे बचना चाहिये। इसलिए ही कहा जाता है कि "सिर धरती पर पड़े, परन्तु धर्म न छोड़िये"! जो लोग इस बात को जानते हुए भी निर्विकारी नहीं रहते, मानो कि वे अपना विनाश आप करते हैं। इसलिए किसी ने कहा है–

"धर्मएव हतो हन्ति। धर्मो रक्षतिरक्षित:।।" अर्थात् जो स्वधर्म को नाश करते हैं यानी विकारी बनते हैं, वे मानो अविनाशी आत्मा के स्वत्व का नाश करते हैं और जो स्वधर्म की रक्षा करते हैं, यानी पवित्रता के व्रत का दृढ़तापूर्वक पालन करते हैं, उन्हीं का जीवन धन्य है।

क्या सृष्टि काम आदि विकारों से पैदा हुई है?

संसार की विचित्र ही गति है! एक ओर तो आजकल लोग महात्माओं के चरण छूते हैं और दूसरी ओर कहते हैं कि क्या कोई निर्विकारी बना भी है? एक ओर तो मन्दिरों में देवी-देवताओं का पूजन करते तथा उनकी महिमा में कहते हैं कि – 'आप सर्वगुण सम्पन्न, सम्पूर्ण निर्विकारी, मर्यादा पुरुषोत्तम हैं' और दूसरी ओर स्वयं विकारी बने रहते तथा यह कहते हैं कि काम विकार ही से तो सृष्टि उत्पन्न हुई है। एक ओर तो शंकर महादेव को अपना इष्ट देव कहकर वन्दना करते हैं परन्तु दूसरी ओर कहते हैं कि वह मोहिनी रूप देखकर कामातुर हो गया। 'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि' के अनुसार इस समय संसार में मन, वचन तथा कर्मों में विकारों ही का प्राबल्य होने के कारण खेद है कि कुछ भारतवासी देवी-देवताओं पर भी मिथ्या आरोप लगाते हैं। गीता के भगवान् के महावाक्य हैं कि जो लोग सृष्टि को स्त्री और पुरुष के भोगपूर्ण सम्भोग (काम) से उत्पन्न हुआ मानते हैं वे अज्ञानी लोग असुर हैं। मानो वे परमपिता परमात्मा, जो कि सृष्टि के रचयिता हैं, पर दोषारोपण करते हैं कि उसने सृष्टि विकारी रची। उनको यह मालूम ही नहीं कि सतयुग तथा त्रेता युग में लोग युगल निर्विकारी जीवन व्यतीत करते

थे जहाँ काम आदि विकारों का नाम भी नहीं था। अस्तु, यह एक पृथक ही विषय है जिसका स्पष्टीकरण योग-युक्त सज्जन शीघ्र समझ सकते हैं।

विकारी मनुष्य पशु से भी तुच्छ

वर्तमान समय में मनुष्यों में जो काम, क्रोध, मोह तथा अहंकार का प्राबल्य है, उतना तो पशुओं में भी नहीं। यदि मनुष्य विचारवान जीव होकर भी विकारी रहे तो उसका जन्म किस कार्यार्थ सफल समझा जावे? फिर मनुष्य तो विकारों से अन्धा होकर अनेकों का खून नाहक करता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि क्रोधवश तथाकथित मनुष्यों ने अन्य मनुष्यों के साथ क्या व्यवहार किया। पाकिस्तान-हिन्दुस्तान के विभाजन की, मिश्र (Egypt) देश या कोरिया की बात एक ओर रही, वर्तमान समय जिन्होंने ऐटम तथा हाईड्रोजन बाम्बस् के ढेर लगाये हुए हैं, समूची जीव-सृष्टि का रक्त बहाने के लिए उद्यत उन क्रोधान्ध मनुष्यों को क्या नाम दिया जाये? इसी प्रकार, जब अन्य विकार भी जिस मनुष्य में प्रवेश कर जाते हैं, वह मनुष्य पशु से भी इतना हेय हो जाता है कि उसे अच्छे और बुरे की पहचान भी नहीं रहती, वह अपनी भूल को नहीं समझ सकता, वह अपने हितैषी को भी शत्रु समझ बैठता है। अपनी जाति का नाश तो प्राय: पशु भी नहीं करते और पशुओं में तो मनुष्य के समान बुद्धि भी नहीं। इस कारण मनुष्य-तन में जो मनुष्यात्मा विकारी होने के कारण आदि, मध्य और अन्त स्वयं भी दु:खी होती है और दूसरों को सताती-दु:खाती रहती है, उसे पशु से भी हीन न समझा जाये तो क्या समझा जाये?

विकारों से निवृत्ति प्राप्त करने के लिए विकारों का कारण जानने की आवश्यकता है। विकारों के प्रसंग में जानने के योग्य एक बात यह भी है कि यद्यपि प्रकट रूप में तो विकार मुख्यत: पांच हैं, परन्तु उन पाँचों की उत्पत्ति का स्थान अथवा जन्म-भूमि मन है और मूल कारण कुछ और है। मन में संकल्प उठने पर ही कर्मेन्द्रियाँ अच्छे अथवा बुरे कर्म में तत्पर होती हैं। अत: जैसे एक वृक्ष के पत्तों को जल देना बुद्धिमत्ता नहीं है, बल्कि मूल को सींचना ठीक है अथवा जैसे रोग के लक्षण (Symptoms) दबाना युक्ति-युक्त नहीं, बल्कि रोग को मूल-सहित नष्ट करना ठीक है। वैसे ही विकारों के विस्तार में से एक विकार को दबाने का प्रयत्न करने की अपेक्षा, अर्थात् ऊपरी साधन करके कुछ समय के लिए काम की वासना को दबाना अथवा मोह से छूट शान्ति पाना कोई वास्तविक और स्थायी उपाय नहीं। बल्कि , मन में जो इन विकारों का मूल है, उससे ही निवृत्ति पाने का उपाय करना चाहिए।

परन्तु कुछ लोग समझते हैं कि दु:ख का कारण विकारों का होना नहीं, बल्कि पदार्थों अथवा विषयों का न होना है। यह बात सत्य नहीं। पहले एक दृष्टान्त के द्वारा इसे स्पष्ट किया जाता है। फिर मन में जो विकार हैं, उनके मूल कारण की चर्चा की जायेगी –

मान लीजिये, कुछ मित्र एक स्थान पर मिलन-विलास के लिए इकट्ठे हुए हैं। मेज़ें और कुर्सियाँ सजी हुई हैं। दस्तख़नि (Tables) पर भिन्न-भिन्न प्रकार के खाने परोसे पड़े हैं। गाना-बजाना हो रहा है और मित्र मेज़ों के आर-पार आपस में हँसी-मज़ाक (मनोरंजन-बहलाव) में मशगूल (व्यस्त) हैं, पुलावों की भी भीनी-भीनी खुशबू (सुगन्धि), चाइना-ग्रास (China grass) की सुन्दर प्लेटों का दृश्य, सन्तरे की फांकें – ये सब खाने के लिए उन्हें दावत (निमंत्रण) दे रहे हैं। बस, खाना शुरू करने के लिए वे अपने हाथ में चमचा उठा ही रहे हैं लेकिन........वह देखो.......

दरवाज़े के बाहर कौन खटखटा रहा है? इस समय अचानक ही कौन आ गया होगा? सबका ध्यान एक उस ओर जाता है। दावत करनेवाला (आतिथ्य करने वाला) चमचा हाथ से छोड़कर, कुर्सी से उठकर जाता है और दरवाज़ा खोलकर देखता है कि तार वाला खड़ा है। बेचारे की टाँगें लड़खड़ाने लगती हैं कि माँ बीमार थी, खुदा खैर करे! न जाने किसका तार होगा? काँपते हुए हाथों से तार खोलकर जब पढ़ता है तो वापिस अपनी जगह तक पहुँचने की भी शक्ति नहीं रहती क्योंकि उसकी माँ......इतनी प्यारी माँ, जिसने उसे लाड़ और मोहब्बत से पालकर इतना बड़ा किया है कि वह आज दोस्तों को खुश कर रहा है..... हाँ उसे न जाने किन गुप्त हाथों ने अपने बच्चे से छीन लिया है!!! बस, इतना बड़ा होते हुए भी, वह बच्चों की तरह बिलबिलाता हुआ अपने मित्रों तक पहुँचकर, तार उनके हाथों में देता है!!!

तब कहाँ गई उसकी वह हँसी और वह मुस्काती हुई सूरत? इस पाँच मिनट के खेल में इतना परिवर्तन कैसे आ गया? प्रश्न है कि क्या उसे कोई प्रकृति का पदार्थ प्राप्त नहीं? उत्तर मिलेगा – 'यह बात नहीं'। बल्कि, अब जबकि उसके दोस्त उसे खाना खाने के लिए मजबूर करते हैं तो वह भोजन, जिसे देखकर पहले उसके मुख में पानी आता था, अब फीका, कडुवा, बेज़ायका (अस्वादिष्ट) लगता है। अब दोस्तों की वह महफ़िल उसे भाती नहीं!! उसे न उनकी हँसी अच्छी लगती है, न वहाँ उनका बैठना, क्योंकि अब वह वहाँ से प्रस्थान कर, अपनी माँ के देहान्त स्थान पर जाने को आतुर है। अब यदि वही दोस्त उसको सलाह देते हैं कि 'भाई' खाना तो खाकर जाओ। तो यह बात सुनकर, मानो उस पर बिजली गिरती है। वही दोस्त उसे शत्रु

मालूम होते हैं। वह सोचता है – 'मेरी माँ मर गई है', इन लोभी पेटुओं को खाने और खिलाने की सूझी है। 'जिस तन लागे सो तन जाने! पीर पराई कोई न जाने.....।'

अत: स्पष्ट है कि यद्यपि खाने के पदार्थ अथवा विषय तो मौजूद हैं परन्तु मन में मोह का विकार आ जाने के कारण, अशान्ति अथवा बेचैनी आ जाने से वे पदार्थ भी अच्छे नहीं लगते। यही दशा दूसरे विकार उत्पन्न कर देते हैं। इसलिए याद रहे कि मन में विकारों के उत्पन्न होने से ही दु:ख का अनुभव होता है।

अब प्रश्न उठता है कि मन में जो विकार आता है अर्थात् अपवित्रता आती है या दु:खदायक परिवर्तन आता है, उसका मूल कारण क्या है? इसको स्पष्ट जानने के लिए ऊपर वाले उदाहरण को ही लीजिए। संसार में न जाने कितने मनुष्य आए दिन मरते होंगे! उनमें पड़ोसी भी हो सकते हैं और परिचित भी। अपरिचित तो बहुत ही होते हैं। तब, प्रश्न है कि उनके मरने से मनुष्य को दु:ख क्यों नहीं होता है? उत्तर मिलेगा कि इसका कारण है – **देह अभिमान**। जिनके साथ मनुष्य का दैहिक सम्बन्ध होता है वह उन ही के जीवन-मरण, निन्दा-स्तुति और हानि-लाभ को देखकर डाँवाडोल होता रहता है। वह यह नहीं समझता कि जिस आत्मा ने उसके साथ शरीर का सम्बन्ध जोड़ा था, वह नहीं मरी। वह यह भी नहीं जानता कि वह स्वयं भी आत्मा है और सब मनुष्य-देहों में देही हैं, जिनके साथ भी उसका अविनाशी प्यार होना चाहिए। वह यह नहीं समझता कि देह का सम्बन्ध तो क्षण-भंगुर है। देह के विनाशी होने के कारण उस पर आधारित सम्बन्ध तो एक दिन टूटता ही है। परन्तु उसकी आत्मा का (अर्थात् उसका अपना) अविनाशी पिता, माता, सखा अथवा स्वामी, पति अथवा पत्नी का सम्बन्ध किसी अविनाशी आत्मा (परमात्मा) ही से है जो देह के जन्म-मरण में नहीं आती, जो देह के विनाशी सम्बन्धों में नहीं आती। वह देही अथवा आत्मा के विषय में 'नहीं जानता' कहने का अभिप्राय है कि देह-अभिमान का भी मूल कारण है – **अज्ञान**।

बस, यह निश्चय जानिये कि अज्ञान के कारण देह-अभिमान है, देह-अभिमान के कारण मन में विकारों की उत्पत्ति होती है। विकार ही दु:ख तथा अशान्ति पैदा करने वाले हैं। दु:ख और अशान्ति ही मृत्यु अथवा नरक है। इस मृत्यु से हर एक आदमी डरता है और इस नरक की बजाय स्वर्ग चाहता है अथवा विषय-वैतरणी की बजाय अमृत चाहता है। अमर और स्वर्ग में निवास करने वाले देवता होते हैं, परन्तु देवता पवित्र होते हैं और अपने स्वधर्म, देवी-देवता धर्म में स्थित होते हैं। इसलिए मनुष्य को देवत्व या देवपद प्राप्त करने के लिए पवित्र यानी निर्विकारी बनना चाहिए।

विकारों को कैसे जीता जाय?

पवित्र बनने के लिए अपवित्रता के मूल कारण अज्ञान की निवृत्ति आवश्यक है। अब, जैसे यदि एक कमरे में अन्धकार हो तो उससे छुटकारा पाने के लिए कमरे में अन्धकार को लाठी मारने से अथवा झाड़ू मार बाहर निकाल फेंकने का प्रयत्न करने से अन्धकार दूर नहीं होता, बल्कि सभी जानते हैं कि अन्धकार को दूर करने के लिए प्रकाश का दीपक चाहिए। इसी प्रकार, अज्ञान की निवृत्ति हठ, तप आदि ऊपरी साधनों से नहीं होती, बल्कि ज्ञान-ज्योति जगाने से होती है। परन्तु जैसे एक बुझा हुआ दीपक, बुझे हुए दीपक द्वारा नहीं जल सकता वैसे ही जिसकी अपनी आत्म-ज्योति नहीं जगी, अर्थात् जो स्वयं पवित्र और शान्त नहीं, वह दूसरों की ज्योति कैसे जगा सकेगा? इसलिए आवश्यकता है कि मनुष्यात्मा परमपिता परमात्मा से योग-युक्त हो, क्योंकि वही एक 'सदा जागती ज्योति' है अर्थात् वही ऐसी ज्योति है जो सब ज्योतियों (आत्माओं) के बुझ जाने पर उनको फिर से जगाने में निमित्त बनता है।

नित्य ज्ञान धारण न करने वाला विकारी है

अब, जैसे नित्य प्रति स्नान न करने से शरीर में दुर्गन्ध पड़ जाती है और रोग अथवा उसके कीटाणु पैदा होने लगते हैं, वैसे ही नित्य-ज्ञान-स्नान न करने वाली आत्मा में भी विकारों की बदबू पड़ जाती है अथवा उसमें काम, क्रोध आदि विकारों रूपी प्लेग (Plague) के जीवड़े (कीटाणु) पैदा होने लगते हैं। दूसरे शब्दों में, जैसे मैले-कुचैले, निरक्षर, असभ्य मनुष्य में कोई भूत प्रवेश कर परेशान कर देता है, परन्तु एक उज्वल, पवित्र, श्रद्धालु आस्तिक-बुद्धि मनुष्य में कोई दैवी-आत्मा प्रविष्ट हो जाती है वैसे ही ज्ञान-स्नान न करने वाले में काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा अहंकार रूपी पंच महाभूत घुस जाते तथा दुःखित करते हैं इसके विपरीत, नित्य ज्ञान-स्नान करने वाले अथवा ज्ञानामृत का पान करने वाले में देवत्व (दैवी गुणों) का प्रादुर्भाव होता जाता है।

आत्मा के विकार स्थूल गंगा जल से तो नहीं धुल सकते। बल्कि परमपिता शिव से ब्रह्मा तन के आधार से उद्गारित ज्ञान-गंगा से ही मनुष्य पवित्र हो स्वर्ग को पधार सकता है। मरे हुए मनुष्य की हड्डियों अथवा अस्थियों की भस्म को स्थूल गंगा में बहाने से तो कोई वैकुण्ठ में नहीं पहुँचता, बल्कि मृत प्रायः आत्मा को ज्ञान-गंगा की धारा से धोने पर आत्मा कृष्णपुरी में पहुँचती है। अज्ञानी पण्डे का हाथ पकड़कर बीच गंगा में बहाकर या स्थूल केसर का तिलक पण्डे से लगवाकर, आज तक कौन पूर्ण शुद्ध [illegible] आया है? ज्ञान-पण्डों द्वारा ज्ञान-गंगा में स्नान करने से तथा दैवी गुणों का तिलक [illegible] ही देही-अभिमानी आत्मा का कल्याण होने वाला है। स्थूल हरिद्वार पहुँचकर

लौकिक पण्डों से पत्रिकाओं द्वारा यह जानकर कि – "तुम्हारे पिता, पितामह परमपितामह आदि-आदि ने अमुक समय यहाँ यात्रा की थी, क्षणिक खुशी से फूलने में कोई स्थायी लाभ नहीं। बल्कि ज्ञान के पण्डों (अर्थात् आत्म-द्रष्टाओं) से यह जानकर कि हमारे पूर्वज देवी-देवता थे और कि उन्होंने भी ज्ञान-गंगा में स्नान करके देव पद पाया था।" इस जानकारी से लाभ उठाना चाहिए। अत: जो नित्य प्रति ज्ञान-स्नान करने का अभ्यासी नहीं, वह विकारी और दु:खी रहेगा ही, क्योंकि वह तो गंगा में न बहकर मृत्यु लोक की पाप-वैतरणी में बहने वाला है।

क्या मन वश हो सकता है?

अब बहुत-से लोग कहते हैं कि हम तो बहुत पापी हैं। हमारा मन तो सुधरने वाला नहीं, बहुत ही विकारी और अशान्त हैं। पता नहीं हमने पिछले अनेक जन्मों में कितने विकर्म किए हैं। न जाने हमारा उद्धार कैसे होगा!! इन बातों का विचार कर विकर्मों की सज़ाओं (दण्ड) से डर, वे और भी परेशान-हाल (दु:खी) हो जाते हैं।

परन्तु वे भूल जाते हैं कि पापियों ही का तो उद्धार परमात्मा करते हैं जिस कारण उन्हें 'पतित-पावन' कहा जाता है। हाँ, उस सर्वशक्तिमान् के बिना कोई नहीं तार सकता। 'वही एक खिवैय्या है सारे जग का', जो साधुओं का भी परित्राण करता है और पापियों को भी ज्ञान-नौका द्वारा पार लगाता है, इसलिए गीता में उस ही के महावाक्य हैं कि – "हे वत्स, तू कितना भी पापी क्यों न हो, मेरी ज्ञान-नाव में सवार हो जा तो मैं तुझे अवश्य पार ले चलूँगा।" इसलिए ही भगवान का कथन है –

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकम् शरणम् व्रज।
अहम् त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षियिष्यामि मा शुच॥

गीता १८/६६

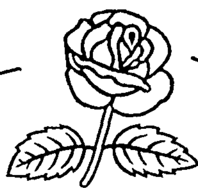
अर्थात् 'हे वत्स, तू निरुत्साह मत हो, चिन्ता न कर, क्योंकि तू कितना ही पापी क्यों न हो मैं तुम्हें सब विकर्मों से मुक्त कर दूँगा।' परन्तु इस वचन के साथ भगवान् की एक शर्त (Condition) है कि – "तू देह के सब धर्मों को त्याग कर एकमात्र मेरी शरण ले, अर्थात् ज्ञानी आत्मा बनकर, मन्मनाभव हो, मुझ अविनाशी पिता के साथ ही अनन्य भाव से योग लगा। बस, फिर मैं त्रिलोकी-सहित तेरा हूँ, मैं तुझे अवश्य परमधाम तथा वैकुण्ठधाम ले चलूँगा।"



अन्तर्मुखी सदा सुखी

सर्व गुणों का मूल आधार है अन्तर्मुखता। अन्तर्मुखता का यह अर्थ नहीं कि मुख से कुछ न बोलें, परन्तु अन्दर जो व्यर्थ संकल्पों के तूफ़ान आ जाते हैं उसमें अन्तर्मुख। अन्तर्मुखता की परिभाषा क्या है? मुख कहते हैं मुखड़े को, मुखड़े में ये चार शक्तियां हैं — सोचने की, देखने की, बोलने और सुनने की। यह मुख, सारे अंदर का भाव बताता है। आत्मिक स्थिति में स्थित हो कर इन शक्तियों को प्रयोग करें, इसको कहते हैं अन्तर्मुख। जैसे गुलाम मालिक की आज्ञा मानता है, गुलाम गुलाम की आज्ञा नहीं मानेगा, ठीक इसी प्रकार आत्मा अपनी आत्मिक स्थिति में स्थित हो कर अपनी कर्मेन्द्रियों को आर्डर करे तो ठीक काम होगा। ऐसे नहीं सोचने की शक्ति समर्थ की बजाए व्यर्थ सोच ले, इसके लिए अपने ऊपर नियन्त्रण चाहिए। नियन्त्रण शक्ति उनमें होगी जो सीट पर सेट होंगे। सीट है अन्तर्मुखता, इसलिए कहा जाता है अन्तर्मुखी सदा सुखी, बाह्यमुखी सदा दु:खी।

कोई कहते हमको खुशी नहीं, अन्दर-अन्दर सन्नाटा है, अब वह दु:ख ऐसा भी नहीं जो 'हाय' करे। जैसे एक होते हैं मोटे विकार दूसरे उसके बाल-बच्चे; तो दु:ख का भी महीन रूप है — न तो शिव बाबा की याद न माया का रूप — वास्तव में यह स्टेज भी सूक्ष्म दु:ख की है। अगर कोई सूक्ष्म कर्मेन्द्रिय धोखा देती है तो धोखा खाने वाला सदा दु:खी। अन्तर्मुखी सदा खुश रहेगा, उसको मायावी तूफ़ानों की कोई परवाह नहीं, सदा हर्षित। जैसे सागर में लहरें उठती हैं वैसे ही अन्तर्मुखी के अन्दर भी सदा खुशी की लहरें उठती रहती हैं।



दृष्टि परिवर्तन

शिव बाबा ने ब्रह्मा बाबा द्वारा जो हमें ज्ञान दिया है, उ
दृष्टि में परिवर्तन लाया है। दृष्टि परिवर्तन से
व्यवहार परिवर्तन तथा जीवन परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई और हमारे व्यक्तिगत परिवर्तन द्वारा हमारे परिवार, समाज और विश्व के परिवर्तन की प्रक्रिया आगे बढ़ी। दृष्टि परिवर्तन (Change in perspectives) से हमारे बोध, हमारी समझ, हमारे विचारों, हमारी मान्यताओं और हमारे एहसासों (Perceptions) में परिवर्तन आया और वह परिवर्तन हमारी जीवन परिवर्तन की पद्धति की बुनियाद बन गया। इसके कुछ उदाहरण दे देने से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाएगी।

बाबा द्वारा ज्ञान मिलने से पहले संसार के प्रति हमारा यह दृष्टिकोण था कि इसमें सुख और दु:ख सदा एक-साथ चले आये हैं। अत: यदि हम धार्मिक साधना करते थे तो उसके पीछे हमारा यह भाव रहता था कि हमें इस दु:खमय संसार से मुक्ति मिल जाये। यदि हम कोई सामाजिक कार्य करते थे तो उसके पीछे हमारा यह भाव रहता था कि संसार में दु:ख की कुछ तो कमी हो। गोया हमें इस बात का बोध अथवा इस बात की समझ ही नहीं थी कि यह संसार किसी समय पूर्णत: सुख, शान्ति सम्पन्न था और अब फिर भी इसे वैसा ही बनाया जा सकता है। यह एहसास (Perception) न होने से हम जीवनमुक्ति के लिए अथवा सतयुगी देवताई जीवन के लिए तो कभी कोशिश ही नहीं करते थे। परन्तु दृष्टि परिवर्तन (Change in perspectives) ने हमारी मान्यता, हमारे बोध और हमारे एहसास (Perception) में परिवर्तन करके हमारे जीवन-परिवर्तन की प्रक्रिया को प्रारम्भ कर दिया। इसका फल यह हुआ कि हम अपने जीवन को दैवी जीवन बनाने में तथा विश्व को सतयुगी बनाने में लग गये और इस प्रकार हमने विश्व-परिवर्तन की श्रृंखला शुरू कर दी।

इसी प्रकार मानव-जीवन के बारे में पहले हमारा यह दृष्टिकोण बना हुआ था कि ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना ही होता है और गृहस्थ में सम्भोग वर्जित नहीं है। हमारा ही नहीं, प्राय: हर मानव का यही दृष्टिकोण था और आज भी है कि सन्तानोत्पत्ति भी मानव-जीवन का एक आवश्यक कर्त्तव्य है। अत: गृहस्थ जीवन को एक मर्यादित और नियमित जीवन की तरह चलाने का एहसास तो हरेक धर्म-परायण व्यक्ति के सामने रहता ही था। परन्तु इस संसार के प्रति हमारा यह दृष्टिकोण तो था ही नहीं कि पूर्व काल में अर्थात् सतयुग और

..युग में 'योगज' सृष्टि हुआ करती थी और तब गृहस्थ सही मानों में आश्रम था और तब पति-पत्नि के सम्बन्धों में काम विकार का लेश भी नहीं था। जब शिव बाबा ने ब्रह्मा बाबा द्वारा नर-नारी के बीच के सम्बन्ध के प्रति हमारे इस दृष्टिकोण को परिवर्तित किया अथवा संसार और गृहस्थाश्रम के प्रति हमें नया दृष्टिकोण दिया, तभी हमें नया जीवन बनाने का एहसास (Perception) मिला और उस एहसास अथवा बोध की नींव पर हमने नई इमारत बनाना शुरू कर दिया। संसार में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाले कुछ लोग पहले भी थे; परन्तु वे संसार को मिथ्या मानकर अथवा प्रवृत्ति का बहिष्कार करके संन्यस्त जीवन जीते थे। गोया संसार के प्रति उनका दृष्टिकोण यथातथ्य (Matter of Fact; Realistic) नहीं था। परन्तु अब हमें परमात्मा से यथार्थ ज्ञान मिला, उससे यथार्थ बोध (right perception) हुआ और उससे सत्य-निष्ठ होकर हमने एक नये युग, नये समाज, नई मर्यादाओं और नये जीवन की नींव डालना शुरू कर दिया।

केवल काम विकार के बारे में ही नहीं, बाबा ने तो काल-चक्र के युग विभाग बताकर और संसार की चक्रिक गति (Cyclic movement) समझाकर, संसार के प्रति जो हमारा यह दृष्टिकोण बना हुआ था, कि छः विकार (Six evils) तो यहां सदा ही से चले आये हैं, ही बदल दिया। इससे हमें यह एहसास हो गया कि ये मनोविकार हमारे दुश्मन हैं जबकि पहले हम यह समझते थे कि ये स्वाभाविक हैं। पहले यह दृष्टिकोण था कि ऋषि मुनि भी विकारों को नहीं जीत सके और कि जैसे तरलता पानी का गुण हैं, स्निग्धता घी की विशेषता है, उष्णता धूप की सहगामिनी है वैसे ही ये विकार भी संसार की रचना का एक अविच्छिन्न और अमिट अंग अथवा गुण है। परन्तु अब हमारा दृष्टिकोण यह हो गया है कि विकारों ने तो इस संसार को उजाड़ दिया है, इसे कांटों का एक जंगल बना दिया है, इसे दलदल में परिवर्तित कर दिया और हमें फिर से कांटों को फूल बनाना है, दलदल में कमल पुष्प के समान रहना है और संसार को फिर से हरा-भरा करना है क्योंकि पहले यह सदा-बहार फुलवाड़ी थी। जब से हमें यह दृष्टिकोण मिला कि एक वो संसार था जिसे स्वर्ग कहते थे और एक यह संसार है जिसे नर्क कहते हैं तब हमें बोध हुआ कि हम बदलेंगे और इस संसार को बदल कर रहेंगे। पहले हम यह समझते थे कि भगवान ने यह संसार बनाया है परन्तु जब हमें यह दृष्टिकोण मिला कि भगवान द्वारा बनाया गया संसार एक सुन्दर और सुख शान्ति सम्पन्न संसार है और वर्तमान संसार तो मनुष्य के अपने ही कर्मों द्वारा एक दूषित हुआ संसार है तो हमारे बोध

में ऐसा परिवर्तन हुआ कि निराशा आशा में, उत्साह-हीनता उत्साह में और कर्त्तव्यविमुखता कर्त्तव्यपरायणता में बदल गई और हम अपने कर्मों को ठीक करते हुए चिरकालीन स्वप्नों को साकार करने में लग गए।

एक और दृष्टान्त दे देने से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जायेगी। पहले हम समझते थे कि अब कलियुग चल रहा है और कलियुग में तो सब अटपटी बातें, अनैतिकता और अनाचार होता ही है। भारत के अन्य सभी लोग भी प्राय: ऐसा ही मानते हैं। यदि किसी को यह देखकर कि हजारों की संख्या में एटम और हाइड्रोजन बम बन चुके हैं, यह विचार आता भी है कि ये तो बहुत विनाशकारी हैं तो भी वे विनाश को इस दृष्टिकोण से नहीं देखते कि इन द्वारा कलियुग का अन्त होने वाला है और कि उससे पहले ही सतयुग का सूत्रपात होना आवश्यक है। यह दृष्टिकोण न होने से भारत में तथा विश्व के अन्य देशों में इस होवनहार महाभारी महाविनाश से करोड़ों लोग डरते हैं परन्तु वे बदलते नहीं और अन्य बहुत से लोग डरते भी नहीं, बदलते भी नहीं बल्कि वे यह समझते हैं कि अगर विनाश होगा भी सही तो उससे पहले हमें खूब मौज मना लेना अच्छा रहेगा। और कि यह कैसे विश्वास से कहा जा सकता है कि इसका विनाश अवश्य ही होगा। इसके विपरीत हमारा अब यह दृष्टिकोण बन चुका है कि विनाश अवश्य होगा और कि कलियुग जा रहा है तथा सतयुग आ रहा है और परमपिता परमात्मा स्वयं अब सतयुग का सूत्रपात कर रहे हैं। इस दृष्टि परिवर्तन से ही हमारे एहसास में यह परिवर्तन आया है कि हमारा यह वर्तमान जीवन बहुत महत्वपूर्ण है और कि जबकि स्वयं भगवान हम पर वरदानों की वर्षा कर रहे हैं तब भी हम उसके अनमोल खज़ानों से वंचित रह जाते हैं तो यह हमारी अपरिवर्तनीय क्षति होगी और इसकी बजाय हमें दत्तचित्त होकर परमात्मा की मार्ग प्रदर्शना से स्वयं में परिवर्तन लाने का उत्कट यत्न करना चाहिए। "अब नहीं तो कभी नहीं" — ये जो एक धुन हमें लग गई है और जी-जान लगाकर तथा सब कुछ न्योछावर करके जो हम इस कार्य क्षेत्र में कूद पड़े हैं, उसका कारण हमारा दृष्टि परिवर्तन ही है। हमारा यह जीवन साधारण नहीं है — जब से यह दृष्टिकोण हमें मिला है तब से ही हमने इसे कौड़ी तुल्य से हीरे तुल्य बनाने का पुरुषार्थ प्रारम्भ किया है।

अत: यदि यह पूछा जाय कि ईश्वरीय ज्ञान का मनुष्य पर क्या प्रभाव पड़ता है तो दो शब्दों में यह कहा जायेगा कि इससे मनुष्य का दृष्टिकोण बदलता है और उससे उसका बोध, उसका एहसास और उसके जज़बात परिवर्तित होते हैं। उनसे

उसकी चेष्टाएं, आशाएं, उसकी भाव-तरंगें, उसके विचार और विश्वास बदलने लगते हैं और परिवर्तन की इस प्रक्रिया से उसका सारा जीवन ही लौकिक से अलौकिक, तामसिक से सात्विक और अपवित्र से पवित्र बनने लग जाता है।

वास्तव में सृष्टि में छः मुख्य समस्याएं हैं और ये समस्याएं मनुष्य में दृष्टि परिवर्तन होने से अन्त हो सकती हैं। सबसे पहले तो इन छः मुख्य समस्याओं के बारे में समुचित दृष्टिकोण पेश किया गया ताकि ये मालूम पड़े कि इनका मूल कारण क्या है। इन छ: समस्याओं के नाम ये हैं — मानसिक तनाव इसमें बताया गया था कि इससे दमा, कैन्सर, ट्यूमर, अल्सर आदि-आदि जैसे रोग ही नहीं होते बल्कि समाज में जो अपराध होते हैं, लड़ाइयां होती हैं, गलत निर्णय होते हैं, उनका भी मूल कारण प्राय: मानसिक तनाव ही होता है। अगर कोई उद्योगपति मानसिक तनाव में कोई गलत निर्णय ले ले तो उसके परिणामस्वरूप हड़ताल हो जाने से उसे लाखों-करोड़ों रुपयों की क्षति हो सकती है। किसी देश का नेता मानसिक तनाव में कोई घोषणा कर दे तो देश में उथल-पुथल हो सकती है। आज यद्यपि डाक्टर लोग मानसिक तनाव को कई रोगों का कारण बताते हैं परन्तु मानसिक तनाव के आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक दुष्परिणाम हैं, वे लोगों के सामने ठीक रीति से नहीं रखे गये वर्ना तो ये संसार की सभी समस्याओं यहाँ तक कि जनसंख्या में वृद्धि तथा द्रव्य प्रयोग (Drug Addiction) का भी एक कारण है। अत: इसे मानव का शत्रु मानकर इसका पूर्णत: बहिष्कार करना चाहिए।

इसी प्रकार इसमें निर्धनता, आण्विक अस्त्रों की दौड़ द्वारा अशान्ति, जनसंख्या में तीव्र गति से होती हुई अति वृद्धि पर भी अभिलेख पेश किये गए थे और साथ-साथ दो लेख इस विषय पर थे कि मनोपरिवर्तन अथवा व्यक्तित्व-परिवर्तन (Personality Transformation) का क्या भावार्थ है और हमारा व्यक्तित्व समायोजित (Integrated), संतुलित (Balanced) और शान्त एवं निर्द्वन्द (Harmonious) कैसे बने। इनके अतिरिक्त एक लेख इस विषय पर भी था कि युवा पीढ़ी इस युवा वर्ष में तथा बाद में भी क्या रचनात्मक कार्य करे तथा अपनी प्रवृत्तियों को किस कार्य में लगाए।



अपराध युग से दिव्य गुण की ओर

आज मानव इस बात के प्रति उपेक्षा भाव रखता है कि उसके कार्यों का दूसरों पर क्या प्रभाव होगा? उसमें दूसरों के कल्याण का भाव तो नाम-मात्र ही है। उसकी तीव्र लालसा अन्यों का अमानवीय शोषण करने में लगी है। इस कारण, वह दूसरों को अनिवार्य आवश्यकताओं से वंचित करने तक पहुँच गया है। चोर बाज़ारी, जमाखोरी, रिश्वत और मिलावट की तो कोई सीमा रह ही नहीं गयी है। वह अन्न, मसाले और जीवन के लिए अनिवार्य औषधियों तक में भी मिलावट करने से नहीं हिचकिचाता, वह नकली दवाइयों को भी बेचने से नहीं रुकता, चाहे वे दूसरों के स्वास्थ्य के लिए अहितकर क्यों न हों? दूसरों के अपकार करने वाले उद्योग धन्धों के व्यर्थ माद्दे, उनकी धुएं की कालिख तथा वाहनों के धुओं से वह वातावरण भी दूषित कर रहा है। संक्षेप में यह है कि मनुष्य आज भाई अर्थात् अन्य मनुष्य के जीवन को बिगाड़ कर जीवन जीता है। वह कठोर व निर्दयी बन गया है।

उसका क्रोध अब जंगली पशुओं से भी अधिक जंगली बन गया है। तर्क व भाषा रूप साधन होने के बावजूद भी वह अपने झगड़ों को सुलझाने के लिए एक दूसरे के सिर से सिर फोड़ता है। और उसके सिर पर सींग भी हैं साथ ही हाथों में पंजे भी। यह उसके क्रोध की पराकाष्ठा है कि उसने 'सभ्यता' समाप्त करने के लिए अणु व हाइड्रोजन बमों के ढेर लगाने पर ही बहुत बड़ी जन-शक्ति और धन-राशि खर्च कर दी है, हालांकि उसके करोड़ों भाइयों के पास खाने को कुछ भी नहीं है।

सम्भोग अब मनोरंजन का साधन बन गया है। लगभग चार करोड़ लोग प्रतिवर्ष बढ़ते जा रहे हैं जो कि मनुष्य जाति के लिए एक भयंकर खतरे का कारण बन रहे हैं। तो भी मनुष्य की पाशविक वृत्ति इस चरम सीमा तक पहुँच चुकी है कि उसने इस काम-कला में सभी जानवरों को भी मात दे दी है और जन्म रोकने के लिए उपायों की भी खोज कर ली है, साथ ही वह काम की पाशविक वृत्ति को भी जारी रखे हुए है।

अपराधों व विकारों की अनन्त सूची को जितना चाहे बढ़ाया जा सकता है, क्योंकि आज आदमी बन गया है - अभद्र, झूठा, धोखेबाज़, कपटी....।

आज वह माइक्रोफ़ोन पर चिल्ला-चिल्लाकर प्रार्थना करके या अनुचित साधनों द्वारा कमाये धन से मन्दिर बनवाकर भगवान को भी धोखा देना चाहता है।

समाज की ऐसी हालत में, हम चेतावनी देते हैं कि संसार जनसंख्या में अति वृद्धि, अणु युद्ध, प्राकृतिक आपदायें, घरेलू कलह क्लेश के द्वारा एक महान् आपत्ति की ओर बढ़ता जा रहा है।

लेकिन यह ध्यान रहे कि जो दैवी पुकार सुनने और अपने मार्ग बदलने के इच्छुक हैं; उनकी बुद्धि में दिव्य गुणारोपण द्वारा दिव्य सृष्टि के बीज बोने के दिव्य प्रयत्न जारी हैं। जो सावधान होंगे; वे दिव्य ज्ञान एवं राजयोग और गुणों के द्वारा दिव्य सृष्टि में जाएंगे।

नारायणी नशे में एवं ईश्वरीय कुल के स्वभाव में टिककर, दिव्यगुणों से युक्त होकर प्रस्ताव या आवेदन करना चाहिये। हमारे वचनों में नम्रता तो हो, परन्तु हीनता-दीनता, भय-ह्रास या गिरावट की दुर्गन्ध नहीं होनी चाहिये। हम स्वयं के लिये तो किससे कुछ धन मांगते नहीं; बाबा ने उसे भी 'भिखारीपन' कहा है। अत: हमारा आवेदन-निवेदन लोक-कल्याण ही के कार्यार्थ युक्त भाषा में होना चाहिये।

आदतों के गुलाम

कहते हैं कि गुलामी का ज़माना चला गया है। एक समय था जब मनुष्य को गुलाम बनाकर बेचा जाता था। उसे इतिहास का अन्धकारमय युग कहते हैं। फिर एक वह भी समय आया जब एक देश ने दूसरे देश को गुलाम बनाया। अब वह ज़माना भी नहीं रहा परन्तु हम यह भी नहीं कह सकते कि इतिहास में गुलामी का अध्याय समाप्त हो गया है। सच तो यह है कि गुलामी बढ़ी ही है, हाँ उस का रूपांतर अवश्य हुआ है। इस संसार में पहला श्वांस लेने के समय से लेकर आखिरी श्वांस लेने के समय तक, हमारे विचार में तो गुलामी की बेड़ियाँ मनुष्य के हाथों और पाँवों को ही नहीं, उसके आत्मन् को जकड़े रखती हैं। एक प्रसिद्ध दार्शनिक — रूसो (Rousseau) ने एक जगह कहा है कि मनुष्य जब जन्मा था तब स्वतंत्र था परन्तु अब वह अपने को एक सामाजिक प्राणी पाकर ज़ंजीरों में जकड़ा हुआ महसूस करता है। मालूम होता है कि रूसो ने इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया कि जन्म से ही मनुष्य अपने पूर्व कर्मों और संस्कारों की बेड़ियाँ पहने हुए होता है और जैसे-जैसे वह आगे बढ़ता है, वैसे-वैसे वह आदतों का भी गुलाम बनता जाता है और हालत यह होती है कि उसकी ज़हनीयत ही गुलामी की हो जाती है।

आज कोई व्यक्ति सिगरेट पीता है तो उस आदत का वह इतना गुलाम हो जाता है कि सवा पाँच फुट का आदमी होकर भी सवा दो इंच की सिगरेट की गुलामी से छुटकारा नहीं पा सकता। सर्वशक्तिमान् परमात्मा का पुत्र होकर भी वह अपनी इस आदत और इल्लत की पुरानी सड़ी हुई रस्सी को नहीं तोड़ सकता। गोया इन्सान होकर भी वह हैवान की तरह एक नहीं, कई खूंटों से बंधा हुआ है। सिगरेट के कश लगाकर अपनी नाक और साँस की नली को किसी मिल की धुएं की चिमनी बनाने में उनको एतराज़ नहीं। 'फेफड़े जले तो जलें पर इस मनचले का मन अपनी चाल चले' — इस विधि वह अपना सब-कुछ लुटाने को तैयार रहता है। दूसरा कोई व्यक्ति अपनी नोक-झोंक और टोका-टाकी की आदत से नहीं छूट सकता। उनकी वाणी ऐसी अग्नि-बाण का काम करती है कि पल में लोगों के आँसू टपकने लग पड़ते हैं, वह ऐसे [illegible] का काम करती है कि लोग मूर्छित हो जाते हैं, काम छोड़ कर बैठ जाते हैं और कई दिन [illegible] में आग लगे न लगे, [illegible] की आग [illegible] के [illegible] की नई

खिचड़ी बनाया करते हैं। परन्तु यह गुलामी कब तब? इस प्रकार सदमा लेने और देने की कोई हद भी है। वह शुभ घड़ी कब आयेगी जब इंसान सिग्रेट की साँस को छोड़ कर सुख की साँस, आज़ादी की साँस लेगा और जब वह अनबन की आग में जलने की बजाय प्यार के झूले में झूलेगा।

अब परमात्मा का अवतरण हुआ है। अब पुरानी आदतों को छोड़ने की बेला आई है। ये सब आदतें हमें उसके वरदानों से वंचित किए हुए हैं। कमाल है कि हम इन बेड़ियों को छोड़ना नहीं चाहते और जिसे हम जन्म-जन्मान्तर पुकारते थे, उसके पास पहुँचने के लिए इन आदतों की छोटी सी कुर्बानी भी नहीं कर सकते। शायद हम इन आदतों की गुलामी को गुलामी नहीं समझते; शायद हम इन बेड़ियों और हथकड़ियों को सजावटी पाजेब और सोने की चूड़ियाँ समझते हैं।

आज कोई व्यक्ति सिगरेट पीता है तो उस आदत का वह इतना गुलाम हो चुका है कि सवा पाँच फुट का आदमी होकर भी सवा दो इंच की सिगरेट की गुलामी से छुटकारा नहीं पा सकता। सर्वशक्तिमान् परमात्मा का पुत्र होकर भी वह अपनी इस आदत और इल्लत की पुरानी सड़ी हुई रस्सी को नहीं तोड़ सकता। गोया इन्सान होकर भी वह हैवान की तरह एक नहीं, कई खूंटो से बंधा हुआ है।

हमारे बोल

आम तौर पर हम लोगों को यह कहते हुए सुनते हैं कि किसी सार्वजनिक सभा में भाषण करना एक कला है — Public speaking is an art. परन्तु यदि देखा जाये तो केवल भाषण ही नहीं, बात को ऐसा प्रभावशाली, रोचक, विनोद-युक्त तथा युक्ति-युक्त बना देते हैं कि सुनने वाला और अधिक सुनना चाहता है अथवा प्रभावित हो जाता है और दूसरे कई उसी बात को निस्तेज, शुष्क एवं सारहीन ढंग से कहते हैं कि सुनने वाले जम्भाई लेने लगते हैं, ऊंघने लगते हैं या तो 'बोरिंग (Boring)' समझ कर अपने आसन को छोड़ चले जाते हैं। कुछ लोग बात मनवा लेते हैं अन्य अपनी सही और न्याय-संगत बात को भी ओजस्वी तरीके से नहीं रख पाते।

बात करने के ढंग में अन्य दृष्टिकोण से भी अन्तर होता है। परन्तु हम यहाँ भाषण कला (Oratory) या वकालत (Pleading or Advocacy) की चर्चा नहीं कर रहे; हम तो वाक्कला को आध्यात्मिक दृष्टिकोण से जानना चाहते हैं। आप देखते हैं कि कुछ लोग तो ऐसे तरीके से बात करते है कि दूसरा व्यक्ति अज्ञान-निन्द्रा को छोड़ कर या किसी बुरी आदत को छोड़कर अपना जीवन ही पलट देता है और कुछ लोग ऐसी बात करते हैं कि दूसरे के मन में फफोले पैदा कर देता है अथवा आग लगा देता है। बात करने का ढंग ऐसा भी हो सकता है कि सुनने वाले के मन में शान्ति आ जाये और दो व्यक्तियों के बीच झगड़ा मिट जाये और बात ऐसे तरीके से भी हो सकती है कि उकसाहट पैदा हो। अतः हम इस बात पर विचार करना चाहते हैं कि बात कैसे की जाए ताकि यह कला हमारे लिये 'चढ़ती कला' का साधन बन जाए।

सर्वेक्षण करने पर आप इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि बात या बात के विषय, या अवसर प्रायः सोलह प्रकार के होते हैं। बाबा ने इन पर प्रकाश डाला है। यदि हम बाबा के महावाक्यों पर ध्यान दें तो हम अपना तथा दूसरों का कल्याण करने के निमित्त बन सकते हैं। हम यहाँ संक्षेप में कुछेक पर चर्चा करेंगे —

१. चर्चा-परिचर्चा

बात या वार्तालाप के एक रूप को 'चर्चा' कहते हैं। राजनीतिक, सामाजिक, [illegible] किसी भी बात को लेकर अपने किसी मित्र, पड़ोसी इत्यादि से हम प्रायः चर्चा [illegible] देते हैं। जब दो व्यक्ति मिलते हैं तब वे सोचते हैं कि आपस में कुछ तो बात करनी ही चाहिये। परन्तु बाबा ने समझाया है कि इस जीवन के सकल [illegible] हैं,

चर्चा ऐसी करो जिससे उन्नति हो। पानी में मथनी मारने से तो मक्खन निकलेगा ही नहीं बल्कि समय व्यर्थ ही जाएगा। अत: चर्चा का विषय और लक्ष्य ऐसा हो जिस से कुछ लाभ हो, अवस्था कुछ ऊंची उठे। व्यर्थ उधेड़-बुन तो निकम्मे ही व्यक्ति करते हैं। हमें विश्व के कल्याण की सेवा करनी है, हमारे पास फ़ालतू समय कहाँ है? अत: रूह-रूहानियत की बातें करनी चाहिए और हंस की तरह क्षीर ले, नीर को छोड़ देना चाहिए। बाबा ने एक 'मुरली' में कहा है कि कई बार जब आपस में बातें करते दो व्यक्तियों से पूछते हैं – "क्या कर रहे हो?", तो वे कहते हैं – "ऐसे ही बातें कर रहे हैं!" परन्तु वास्तव में "ऐसे ही" बातें करने का क्या भाव है? बात तो किसी अच्छे प्रयोजन ही से करनी चाहिये। हमारी बात ऐसी हो कि मोती झड़ें हमारे बोल ऐसे हों कि पुष्पों की तरह कोमल तथा सुगन्धित करने वाले हों, हमारी चर्चा का विषय उन्नति-कारक हो।

२. सलाह-विमर्श-सुझाव

कई बार हम इसलिए बोलते हैं कि हमारे पास बैठा व्यक्ति हम से कोई राय मांगता है, सलाह करना चाहता है अथवा किसी समस्या का हल पूछता है। इस अवसर पर हमें चाहिये कि हम ब्रह्मा बाबा के जीवन को सामने रखें, स्वयं को भी शिव बाबा से योग-युक्त करके अच्छी स्थिति में स्थित हों ताकि हम ठीक सलाह दे सकें वरना दूसरे व्यक्ति के गुमराह या भ्रान्त होने की संभावना है। हम साक्षी अवस्था में टिककर, श्रीमत के आधार पर विश्व-कल्याण ही के भाव से उसे राय दें और बड़ी ज़िम्मेवारी से तोल-तोल कर बात करें, वरना उसे मार्ग-विमुख करने का पाप हमारे सिर पर चढ़ेगा। हमें अपने मत की बजाय उसे ईश्वरीय मत, दैवी या ब्राह्मण कुल की मर्यादा ही बताने के भाव से बोलना चाहिये।

३. समाचार

कुछ व्यक्ति इकट्ठे होते हैं तो एक-दूसरे से कहते हैं – सुनाओ भाई, क्या समाचार है? कोई नई-ताज़ी बात बताओ? आजकल क्या कर रहे हो, क्या चल रहा है? वह इस बात को लेकर समाचार सुनाना शुरू कर देता है। किसी ने मन को कोई चोट लगाई होती है या और ऐसा कोई किस्सा होता है तो वह भी 'समाचार' शीर्षक के अन्तर्गत आ जाता है। ऐसे समाचार से न तो सुनने वाले की उन्नति होती है, न सुनाने वाले को ही कोई लाभ होता है। सुनने वाला और लोगों को बताता है तो मनमुटाव होता है और वातावरण बिगड़ता है और सुनाने वाले के भी मन को टेर ही पड़ती है, दूसरा कोई लाभ तो होता नहीं। अत: समाचार ऐसा

हमें सुनाना चाहिये, जिससे कि दूसरे का पुरुषार्थ तीव्र हो, उसे प्रेरणा मिले, नैतिकता में उसकी भावना बढ़े और उसे खुशी मिले।

४. भाषण

यदि हम भाषण, प्रवचन, परिसंवाद आदि के रूप में बात करते है तो उसमें हमें कल्याणियत-भरी शिव बाबा की बातें ही अधिक कहनी चाहिए क्योंकि सबसे श्रेष्ठ बातें, जो संसार में अन्य न किसी को मालूम हैं और न कोई सुनाता है, तो शिव बाबा द्वारा ही बताई गयी हैं। उन्ही बातों से ही कल्याण भी होने वाला है, और तो सब 'लबार' है। हाँ, बात को जिस प्रकार के व्यक्ति के सामने रखना हो और जैसा मौका हो वैसे तरीके से तो कहना पड़ता है परन्तु बात तो हमें ईश्वरीय ज्ञान ही की करनी चाहिये। हमें शिव बाबा का परिचय, संगमयुग की सूचना, आदि-आदि तो स्पष्ट रूप में बताना ही चाहिये।

५. प्रश्न-उत्तर

हमारी बात का एक रूप प्रश्न-उत्तर भी हुआ करता है। हम या तो कोई बात किसी से पूछते हैं और या कोई हम से प्रश्न करता है तो उसे हम उत्तर देते हैं। हमारा पहला प्रयास यह होना चाहिये कि हम अपने प्रश्न ईश्वरीय ज्ञान के आधार पर स्वयं हल करें। इसलिए प्रश्न करने या पूछने की आदत के बारे में तो बाबा ने कह ही दिया है कि अब 'पूंछ निकाल दो' क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान के सार तथा विस्तार को हमने जान ही लिया है। बाबा ने हमें जो विस्तृत ज्ञान दिया है, वह हमारे सभी प्रश्नों को हल करने में समर्थ है। इसलिए बाबा कहते है कि अधिक पूछने से क्या लाभ; "मन्मना भव!" मन को शिव बाबा में लगायेंगे, और प्रतिदिन मुरली सुनेंगे तो प्रश्नों का ठीक उत्तर अवश्य मिलता ही जायेगा। यदि हम किसी के प्रश्न का उत्तर देते हैं तो वह उसे 'प्रसन्न' करने वाला हो – ऐसा हमारा उत्तर हो। वह प्रश्न और उसका उत्तर उसके जीवन को पवित्रता एवं योग के मार्ग पर लगा कर सदा के लिए उसे प्रसन्न-चित्त बना दे।

६. अनुभव सुनाना

बीमारी लग जाय, सुनाने से क्या लाभ? हरेक मनुष्य का जीवन अनमोल है; अतः उसे जीवन के लक्ष्य पर पहुँचने का ही अनुभव सुनाना चाहिये, न कि ऐसा अनुभव जिससे कि उसमें आलस्य, कमज़ोरी या कोई अवगुण आये।

७. परिचय देना

कुछ लोग जब हमारा परिचय पूछते हैं तो उसी विषय पर बात शुरू होती है। ऐसे अवसर पर हमें लौकिक परिचय के साथ-साथ अपना अलौकिक तथा पारलौकिक परिचय भी देना चाहिये या दूसरे का लौकिक परिचय सुनने पर उसे अलौकिकता में स्थित करने वाली बातें भी सुनानी चाहिये। अपना परिचय शिव बाबा के परिचय से तो जुटा ही रहना चाहिये क्योंकि वही हमारे माता-पिता, सखा, मार्ग-दर्शक एवं सर्वस्व हैं।

८. निवेदन, प्रस्ताव आदि

कई बार किसी से कुछ कार्य भी कराना होता है और उसके लिये अनुनय-विनय, निवेदन-आवेदन या प्रस्ताव-झुकाव भी करना होता है। परन्तु शिव बाबा ने समझाया है कि सदा शुभ और अच्छे ही कार्य के लिए आवेदन करना चाहिए और अपनी स्थिति से नीचे नहीं गिरना चाहिये बल्कि नारायणी नशे में एवं ईश्वरीय कुल के स्वभाव में टिककर, दिव्यगुणों से युक्त होकर प्रस्ताव या आवेदन करना चाहिये। हमारे वचनों में नम्रता तो हो परन्तु हीनता-दीनता, भय-ह्रास या गिरावट की दुर्गन्ध नहीं होनी चाहिये। हम स्वयं के लिये तो किससे कुछ धन मांगते नहीं; बाबा ने उसे भी 'भिखारीपन' कहा है। अतः हमारा आवेदन-निवेदन लोक-कल्याण ही के कार्यार्थ युक्त भाषा में होना चाहिये।

९. अभिवादन, स्वागत, निमन्त्रण

हमें किसी के स्वागत, अभिवादन आदि के सिलसिले में भी कुछ बोलना पड़ता है। ऐसे अवसर पर हमें व्यक्ति विशेष के गुण भी बताने पड़ते हैं परन्तु आत्मा के गुणों के साथ हमें प्यारे शिव बाबा, जो कि सर्वगुणों के अतुल भण्डार हैं और गुणदाता हैं, के गुणों की चर्चा करना भी नहीं भूलना चाहिये। स्वागत, निमन्त्रण से सम्बन्धित हमारे बोलों में अलौकिकता अवश्य होनी चाहिये और शिव बाबा के निमित्त बनकर ही हमें यह कार्य करना चाहिये।

१०. सहानुभूति प्रगट करना, आदि

कोई व्यक्ति शरीर छोड़ देता है तो उसके मित्र-सम्बन्धियों से सहानुभूति प्रगट

करने और यदि कोई रोग-ग्रस्त होता है अथवा व्यापार में हानि होने से पीड़ित होता है तो ऐसे अवसरों पर भी मनुष्य को बात करनी पड़ती है। परन्तु बाबा ने हमें समझाया है कि ऐसे अवसर पर शोक को बढ़ाने या देह-धारियों की याद दिलाने वाली बातें न कह कर, आत्मा और परमात्मा की, कर्मफल तथा दिव्य धारणा की बातें बतानी चाहिए ताकि आत्माओं को शान्ति मिले और वह देहाभिमान से निकल कर आत्मिक स्थिति को प्राप्त हों।

११. स्मृति-वार्ता

कई बार हम दूसरों को कोई बात याद दिलाने के लिये ही उनसे बोलते हैं। कोई बात जो वे भूल गये हों, उसकी ओर उनका ध्यान खिंचवाने के लिए या उनके बारे में ताकीद करने के लिये ही हम उनको सम्बोधित करते हैं। परन्तु देखने की बात यह है कि उन्हें याद दिलाते समय तुनका तो नहीं लगाते, अर्थात् 'टॉट' (taunt) तो नहीं करते? उदाहरण के तौर पर हम उन्हें ऐसा तो नहीं कहते – "अरे भाई, आप कैसे आदमी हैं; आप बार-बार भूल जाते हैं! लगता है कि आपका दिमाग यहाँ न होकर कहीं और चक्कर लगाने चला जाता है। हम आपके नौकर थोड़े ही हैं कि आपको बार-बार याद दिलाते रहें। आप तो ऐसे व्यक्ति हैं कि यदि हम आपको याद न दिलाते तब आप तो बट्टा ही बिठा देते ..।" इसकी बजाय हमें या तो शुभ-चिन्तक होकर दूसरे को वह बात याद दिलानी चाहिये जो हम उनकी समझते हैं, वरना चुप ही रहना चाहिये। हमें सोचना चाहिये कि हमें भी तो शिव बाबा पवित्र बनने और आत्मा निश्चय-बुद्धि बनने की बात बार-बार याद दिलाते हैं। हम फिर-फिर भूल जाते हैं परन्तु शिव बाबा तो हमारे कल्याण की भावना से, स्नेहपूर्वक हमें हजारों बार इसकी याद दिला चुके हैं। उन्होंने इस बात को कभी भी क्रोध से या डांट कर तो नहीं दुहराया। अतः हमें भी यदि स्मृति दिलाने के लिये बोलना हो तो चिड़चिड़ेपन से नहीं बल्कि सहानुभूति से बोलना चाहिये।

१२. प्रशंसा-वार्ता

अधिक प्रशंसा पाने से उसके कार्य का फल भी उसे उतना ही कम मिलेगा क्योंकि काफ़ी फल तो उसने प्रशंसा के रूप में प्राप्त कर ही लिया होगा।

पुनश्च: किसी के भी कार्य या गुणों की सराहना करते समय हमें शिव बाबा की भी स्मृति इस प्रकार बनी रहनी चाहिये कि सभी गुणों की खान तो शिव बाबा ही है और वही गुणदाता है। अत: मन में और वाणी में भी कल्याणकारी शिव बाबा की प्रशंसा प्रगट होनी चाहिये। ऐसे नहीं होना चाहिये जिससे शिव बाबा छिप जायें और कोई देहधारी व्यक्ति ही प्रत्यक्ष हो, बल्कि व्यक्ति की प्रशंसा द्वारा भी हमें शिव बाबा ही को प्रत्यक्ष करना चाहिये।

१३. शिकायत-वार्ता

ऐसा भी होता है कि हम जिस व्यक्ति से सन्तुष्ट नहीं होते उसके बारे में हम उसी से या अन्य किसी से शिकायत करने के लक्ष्य से, या नाराज़गी प्रगट करने के भाव से बोलते हैं। ऐसे समय में हमारा मन खिन्न होता है और इसलिये सम्भव होता है कि हमारे मुख से कुछ वचन ऐसे निकलें जिससे सुनने वाले व्यक्ति को उत्तेजना आ जाये, क्योंकि अपनी शिकायत हर व्यक्ति नहीं सुन सकता और दूसरा व्यक्ति भी प्राय: शिकायत को तुरन्त नहीं मान लेता। अत: पहली बात यह है कि शिकवे और शिकायत का प्राय: कोई विशेष लाभ नहीं होता। अत: ऐसी बातें करते समय हमें यह स्मरण रहना चाहिये कि इसका शुभ परिणाम तो बहुत कम ही निकला करता है। परन्तु यदि हम इस भावना से कुछ कहते हैं कि दूसरे आगे के लिये ग़लत कर्म अथवा विकर्म करने से बच जायें तो हमारे बोल कम और यथार्थ होने चाहिये। हमें इसमें भी अतिशयोक्ति नहीं करनी चाहिये और हम से जो अन्याय, अपेक्षा, प्रतिशोध-युक्त या स्वार्थ-युक्त व्यवहार होता है, उससे सहन करने में सफ़ल होने की या उससे छुटकारा पाने की कोशिश करनी चाहिये, वरना इस विषय में इधर-उधर, इसको-उसको शिकायत करने का अन्त शुभ नहीं होता। अत: हम शिकायत के भाव से न बोलें, मर्यादा-स्थापना के भाव से तथा कल्याण-भाव को सामने रख कर बोलें।

१४. विचार-प्राकट्य अथवा समालोचना

कई व्यक्ति मांगे-बिना ही राय देने लग जाते हैं अथवा किसी की योजना अथवा विचार पर अपनी टीका करने लग जाते हैं। वे अनाधिकार रूप हरेक की [illegible]ना करते हैं और अपने वचनों से दूसरों पर छींटा डालते हैं। हमें मालूम

होना चाहिये कि अपने बारे में कोई विरला ही व्यक्ति कटु-आलोचना अथवा तर्क-युक्त, यथार्थ परन्तु निषेधात्मक आलोचना सुन सकता है। अत: हमें आमन्त्रित हुए बिना ही आलोचना या विचार-प्राकट्य शुरू नहीं कर देना चाहिये। और, जब हम आलोचना, तुलना या मूल्यांकन करते भी हैं तो हमारी भावना परस्पर उन्नति ही की अथवा कार्य में अधिक कुशलता एवं सफ़लता लाने की होनी चाहिये। हमारे बोल दूसरे व्यक्ति को हताश, परास्त, अपमानित या प्रताड़ित करने के अथवा बदला लेने के लिये नहीं होने चाहिये, बल्कि रचनात्मक, हित-भावना से तथा स्वयं को सहयोग के लिये अर्पण करने के शुभ संकल्प से होने चाहिये।

१५. भाव-भंगिमा

बोलते समय हम अपने हाथों को जिस तरह हिलाते, जैसा चेहरा बनाते, किसी बात पर ताली बजाते, किसी बात को कहते समय आवाज़ को ऊँचा करते, पास बैठे व्यक्ति को आँखों से इशारा करते अथवा कोहनी मारते, दूसरे की बात पर भद्दे तरीके से हँस पड़ते, उसकी बात पर ध्यान ही न देते या उसे उड़ा देते या उसके प्रति अस्वीकृति का भाव अशिष्ट हरकत या वचन से व्यक्त करते हैं, वे सभी भी हमारे बोलों में गिने जाते हैं। हमारा रवैया, हमारी भाव-भंगिमा बहुत बार हमारे वचनों से भी अधिक अभिव्यक्ति करते हैं। अत: मुख द्वारा न बोले गये परन्तु हमारे हाव-भाव या अंगांन्यास द्वारा व्यक्त किये गये बोल भी दिव्य मर्यादा से युक्त होने चाहिये। उनमें भी शालीनता, संयम तथा हित-भावना और प्रेम होना चाहिये।

१६. मौन

बहुत बार हमारा मौन, हमारी चुप्पी, हमारा मूक भाव भी बोलने का काम करता है। कभी तो चुप को लोग 'मौन अर्ध सम्मति लक्षणम् (Silence is half-consent)' मान लेते हैं और कभी नाराज़गी मानते हैं। कभी वे इसे हमारे मन में भय की उपस्थिति का सूचक समझते हैं तो कभी हमारे बारे में अलग एवं न्यारा रहने का बोधक मानते हैं। अत: जैसे हम अपने बोलों पर ध्यान देते हैं, वैसे ही हमें अपने मौन पर भी ध्यान देना चाहिये। हम से बड़े यदि हमसे बार-बार कोई बात पूछते हैं, और हम मौन रहते हैं तो यह एक प्रकार से उनका अपमान माना जाता है चाहे हमारे न बोलने का कारण हमारी अप्रसन्नता ही हो। अतः हमारा मौन भी हमारे बोल का काम करता है और उसे भी हमें शब्दों की तरह मर्यादापूर्वक प्रयोग करना चाहिये।



दैवी मर्यादा

हम सतयुग के देवी-देवताओं की महिमा करते हुए जहाँ उन्हें "सोलह कला सम्पूर्ण, गुणवान और सम्पूर्ण निर्विकारी" बताते हैं, वहाँ हम उनकी महिमा में 'मर्यादा पुरुषोत्तम' उपाधि का भी प्रयोग करते हैं। प्रश्न उठता है कि देवताओं की मर्यादा में ऐसी क्या विशेषता थी कि जिसके कारण उस मर्यादा को उत्तम अथवा सर्वोत्तम मर्यादा कहा जाता है।

इससे पूर्व कि हम उस सर्वोत्तम मर्यादा के बारे में चर्चा करें, पहले हम थोड़ा यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि 'मर्यादा' शब्द से हमारा भाव क्या है। वैसे शाब्दिक अर्थ में तो मर्यादा सीमा का वाचक है। उदाहरणार्थ, यदि नदी अपने दोनों किनारों अथवा सीमाओं के बीच ही बहती रहती है तो हम कहेंगे कि वह मर्यादित है। यदि उसमें बाढ़ आ जाती है और वह वेग में आकर अपनी सीमाओं को तोड़ देती है तो हम कह सकते हैं कि उसने अपनी मर्यादा को तोड़ दिया। इस प्रकार 'मर्यादा' शब्द जहाँ एक ओर चले आ रहे मार्ग, विधि-विधान और सभ्य व्यवहार के तौर-तरीके (Tradition) का पर्यायवाची हो गया है, वहाँ दूसरी ओर मर्यादा शब्द वेग-रहित, संतुलित एवं शान्त बुद्धि से उचित जीवन-चर्या का भी वाचक है। छोटों का बड़ों से कैसा व्यवहार हो और बड़े छोटों के प्रति अपना कर्तव्य कैसे निभायें, राजा अपनी प्रजा से कैसे पेश आये और प्रजा राजा का कैसे सम्मान करे – इस प्रकार परस्पर व्यवहार को अनुशासन बद्ध करने वाले जो अलिखित नियम हैं, उन सब की परिगणना मर्यादा के अन्तर्गत होती है। संसार में हर देश की सरकार तो नागरिकों के व्यवहार के लिए विधि-विधान (Law) बनाती ही है परन्तु पिता-पुत्र, अध्यापक और शिष्य, पति-पत्नी, भाई और बहन, हमसाये और पड़ोसी, अर्थात् एक मनुष्य के दूसरे मनुष्य के साथ जो सामान्य अथवा विशेष सम्बन्ध हैं, उन सब की रीति अथवा सीमा निर्धारित करने वाले सभी नियम लिखे नहीं जा सकते और सरकारी कानून द्वारा सभी पालन भी नहीं कराये जा सकते। तो भी उनका महत्व सरकार के बनाये हुए कानून से कई गुना ज़्यादा है क्योंकि उनका पालन न करने से कलह-क्लेश और परस्पर वैर-विरोध पैदा होते हैं, तनाव बढ़ते हैं, मेल-मिलाप टूटता है, मनुष्य अनारक्षित अनुभव करता है, अशान्ति पैदा होती है और हरेक के लिए यह जानना अनिश्चित हो जाता है कि दूसरा व्यक्ति कल अमुक परिस्थिति में उससे

कैसा व्यवहार करेगा। परिणाम यह होता है कि लोगों की आपस में कहा-सुनी हो जाती है, वे समाज में एक-दूसरे की निंदा करना शुरू कर देते हैं; शब्द संयम टूट जाता है, सम्बन्धों का विच्छेद हो जाता है और किसी को हम त्योड़ी चढ़ाते देखते हैं तो दूसरे को मुट्ठी कसता हुआ पाते हैं, गोया सारे समाज का ताना-बाना बिखरता और टूटता हुआ-सा मालूम होता है और हम सभी को परेशान हाल में देखते हैं।

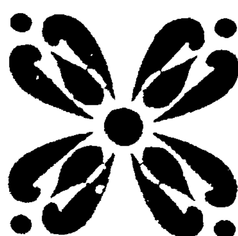
आजकल प्रचलित मर्यादा

बहन-भाई, पिता-पुत्र अथवा पड़ोसी और पड़ोसी में किस प्रकार का व्यवहार होना चाहिए, इसकी शिक्षा व्यक्ति को अपने से बड़े सम्बन्धियों के द्वारा अथवा धर्म शास्त्रों के अध्ययन या श्रवण ही से होती है क्योंकि स्कूलों और कालेजों में जो शिक्षा मिलती है, उसमें तो इतिहास, भूगोल, विज्ञान, गणित इत्यादि ही पढ़ाये जाते हैं जिनमें कि व्यवहार शिक्षा को विशेष स्थान नहीं दिया जाता। अब जहाँ तक बड़ों से यह शिक्षा मिलने का प्रश्न है, उस सम्बन्ध में हम देखते हैं कि स्वयं उनके जीवन में भी मर्यादाओं के पालन में ढीलापन होता चला आया है। स्वयं उनका अपना व्यवहार किसी न किसी विकार के वेग के वश, अमर्यादित होता गया है! इसका परिणाम यह हुआ है कि एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी में मर्यादाएँ अधिकाधिक टूटती चली गई हैं। पुनश्च विज्ञान के द्वारा औद्योगीकरण होने के फल स्वरूप भी मनुष्यों के रहने-सहने के तरीकों में काफी अंतर आ गया है। जहाँ पहले छोटे-छोटे नगर और उपनगर होते थे, वहाँ आज महानगर दिखाई देते हैं और जीवन इतना तीव्र गति सम्पन्न हो गया है कि अब पुरानी सामाजिक रीतियाँ अपना रूप काफी बदल चुकी हैं। जहाँ तक धर्म शास्त्रों का सम्बन्ध है उनमें यद्यपि विधि और निषेध (Do's and Don'ts) का उल्लेख है तो भी उनमें एक ओर तो परस्पर मत-भेद है और दूसरी ओर उनमें पूर्वकाल में हुए जिन ऋषियों, मुनियों, राजाओं इत्यादि का उल्लेख किया गया है, स्वयं उनके जीवन में भी पदे-पदे मर्यादाओं का उल्लंघन होते दिखाया गया है। अत: आज वे भी मनुष्य को मर्यादाओं का स्पष्ट ज्ञान देने वाली अथवा उन्हें श्रेष्ठता की ओर प्रेरित करने वाली अवस्था में नहीं हैं। वे शास्त्र उस व्याकरण के समान हैं, जिसके नियम कम लागू होते हैं, अपवाद (exceptions) ज्यादा। अत: लोग ऐसा मानते हैं कि उन शास्त्रों में जो बातें बताई गई हैं, वह अप्राप्य आदर्श हैं। उन शास्त्रों में स्वयं देवताओं का भी जो चित्र, चित्रण मिलता है, वह भी उत्साह

भंजक है, वर्द्धक नहीं। तब कौन बताये कि चिरातीत काल में जो हमारे पूर्वज थे, वह किस मर्यादा का पालन करते थे? सृष्टि के आदि युग में, जिसे 'देव युग' कहा गया है, देवी-देवता किस मर्यादा के अनुसार राज-काज, व्यवहार और व्यापार तथा पारिवारिक और सामाजिक जीवन को चलाते थे। स्वत: स्पष्ट है कि उस पुराकाल, जिसके बारे में इतिहास मौन है और जिसकी स्मृतियाँ भी काल में विलीन हो गई हैं, का असंदिग्ध और सुस्पष्ट परिचय स्वयं कालातीत अथवा त्रिकालज्ञ परमपिता परमात्मा ही बता सकते हैं।

सर्वोत्तम मर्यादा अथवा दैवी मर्यादा

उन्हीं परमपिता परमात्मा ने उस काल की सतोप्रधान सभ्यता, दैवी संस्कृति और उत्तम मर्यादा का रहस्योद्घाटन किया है। उन्होंने बताया है कि तब मनुष्यों के परस्पर व्यवहार की मर्यादा बताने वाले धर्म शास्त्र नहीं थे परन्तु लोग अपने स्वभाव और संस्कारों से ही सज्जन और सुशील थे। वहाँ सरकार की ओर से न कोई दण्ड-संहिता थी और न कोई कारावास न पुलिस और न न्यायालय, बल्कि लोग स्वभाव से ही सत्कर्मा थे। उनमें अपराध-वृत्ति ज़रा भी न थी बल्कि उनका मन निर्मल, स्व-अनुशासित और श्रेष्ठ वृत्ति वाला था। उनका सारा व्यवहार परस्पर स्नेह पर आधारित था और सभी विकारों से पूर्णत: रहित – पूर्णत: पवित्र था। अत: उस युग में बहन-भाई, पिता-पुत्र, राजा-प्रजा इत्यादि के बीच के सम्बन्ध और व्यवहार सर्वोत्तम मर्यादा से युक्त था। इसीलिए आज तक दैवी मर्यादा का और देवताओं का गायन है।



घृणा की निवृत्ति कैसे हो?

काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार और आलस्य — इन छः विकारों को मनुष्य के लिए षट् रिपु अर्थात् छः शत्रु कहा गया है क्योंकि ये छः मनुष्य का खज़ाना लूटने वाले और उसके मन को अशान्त करने वाले हैं। परन्तु हम देखते हैं कि घृणा और द्वेष भी किसी तरह से इन विकारों से कम नहीं है। छः शत्रुओं में इनकी गणना न करने का यह अर्थ नहीं है कि ये कोई विकार नहीं है। बल्कि इनकी गणना अलग इसलिए नहीं की गई कि ये ऐसे विकार हैं जिनमें काम, क्रोधादि सभी विकार समाये हुए हैं। अत: घृणा रूपी महाबली शत्रु पर पूर्ण विजय प्राप्त करने का भरसक यत्न करना चाहिए क्योंकि घृणा एक ऐसी अग्नि है जिसमें कि मनुष्य का अपना ही रक्त और अपना ही मस्तिष्क ईंधन की तरह जलने लगता है। उसका खून खौलता रहता है, वह डाह एवं रोष के मारे जलता-भुनता रहता है, वह सदा संतृप्त रहता है। उसका विवेक नष्ट हो जाता है और इसलिए उसका शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य बिगड़ने लग जाता है। जो मनुष्य योग का अभ्यास करना चाहता हो, उसे तो तुरन्त ही घृणा को अपने मन से निकाल देना चाहिए क्योंकि घृणा सदा उस मनुष्य के चित्र को हमारे मन की आँख के सामने लाती है जिससे हम घृणा करते हों और उस व्यक्ति का चित्र हमारे मानस पटल पर आते ही हममें द्वेष, क्रोध और दु:ख की लहरें पैदा होती हैं जबकि योगी का लक्ष्य किसी मनुष्य को याद न करके प्रभु ही की स्मृति में स्थित होना तथा द्वेष और क्रोध की बजाय प्रभु-प्रीति और शान्त-रस का अनुभव करना होता है।

घृणा की उत्पत्ति का एक कारण है – किसी व्यक्ति का हमारे साथ अभिमान-पूर्ण व्यवहार

गहराई से विचार करने पर आप इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि जिन व्यक्तियों से हमारा कार्य-व्यवहार, लेन-देन या मेल-जोल रहता है, उनमें यदि अहंकार हो या वे हमें दबाये रहें, हमें उन्नति का अथवा अपने विचारों को कार्यान्वित करने का अवसर न दें अथवा हमारी बुद्धि, कार्य-क्षमता अथवा सामर्थ्य को कम समझकर हमें छोटा ही मानते रहें तब भी हमारे मन में उन व्यक्तियों के प्रति घृणा का भाव जागृत होता है। जब साठ के दशक में काँग्रेस में फूट पड़ने से जो दल बने, उनमें परस्पर घृणा के कारणों पर यदि आप ध्यान दें तो

देखेंगे कि यही मुख्य कारण था। पुरानी काँग्रेस के कामराज, श्री मोरारजी देसाई, श्री पाटिल आदि-आदि सभी इसी नशे में रहे कि हम बहुत ही अनुभवी और विचार-कुशल हैं और इन्दिरा गांधी राजनीति एवं प्रशासन के कार्य में अभी नई हैं। कुछेक व्यक्ति तो इसी अभिमान में रहे कि हमने ही तो श्रीमती इन्दिरा गांधी को प्रधान मंत्री बनाया है, गोया हमारी ही बात सर्वोपरि होनी चाहिए। उनके इस प्रकार के व्यवहार से श्रीमती इन्दिरा गांधी के मन में घृणा उत्पन्न हुई होगी। वह तथा अन्य युवक सदस्य पुरानी पीढ़ी के नेताओं के इस अभिमान एवं दबाव को आतंक समझकर उनसे घृणा करने लगे होंगे। वे अपने मन-ही-मन उनके अहंकार तथा रोब को पीते रहे और घृणा का बीज अंकुरित होता रहा। जब फूट स्पष्ट रूप से सामने आई तो श्रीमती इन्दिरा गांधी ने अन्तरात्मा की आवाज़ (Conscience) की दुहाई दी अर्थात् भारत के राष्ट्रपति के चुनाव के समय उन्होंने कहा कि हरेक को अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ के अनुसार वोट देने का अधिकार है, जिसका अर्थ यह हुआ कि अब इन पुराने पंथी, अभिमानी नेताओं के दबाव, रोब या अभिमान से दबेंगे नहीं। युवा पीढ़ी के नेताओं, जिन्हें की 'युवा तर्क' (Young Turks) का नाम दिया जाता था, ने कहा कि – " हम अब पुराने पंथियों के अफसराना रवैये (Bossism) को बर्दाश्त नहीं करेंगे। इन्दिराजी के गुट ने यह भी कहा कि ये पुराने पंथी लोग हमारी प्रगतिवादी योजनाओं को कार्यान्वित होने में रुकावट बने रहे हैं। तो **स्पष्ट है कि जब कोई व्यक्ति अभिमान से, अनुचित रोब या दबाव से व्यवहार करता है या अहंकार के नशे में दूसरों के विचारों को सुनता नहीं या उन्हें मूल्य नहीं देता तो वह अपने प्रति दूसरों के मन में घृणा उत्पन्न कर देता है।**

२. घृणा का दूसरा कारण है- हित को हानि पहुँचाने का भय

जब हम देखते हैं कि कोई व्यक्ति हमें हानि पहुँचाना चाहता है, हमें दूसरों की नज़रों से गिराना चाहता है, हमारे पद से हमें हटाना चाहता है अथवा किसी प्रकार से हमारे हितों की रक्षा करने की बजाय हमें हानि पहुँचाना चाहता है तब भी उसके प्रति मन में घृणा पैदा हो जाती है। पिछले वर्षों में काँग्रेस की फूट और उसके बाद का जो नाटक सबके सामने चला, उसी की ओर आप ध्यान देकर देखें तो आप इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि राष्ट्रपति के चुनाव के बारे में जब इन्दिरा जी के विचार को निजिलिंगप्पा, कामराज इत्यादि ने ठुकरा दिया और ... जी को संदेह हुआ कि ये लोग मन-चाहे व्यक्ति को राष्ट्रपति के पद पर

आसीन करके मुझे प्रधानमंत्री पद से हटाने के लिए आपस में मेलजोल कर रहे हैं तो उसने उन्हें चुनौतीपूर्ण शब्दों में कहा कि – "आपको इसका परिणाम भुगतना पड़ेगा।" और इसके बाद दोनों ओर से जो कुछ हुआ वह तमाशा सबने देखा। तो यह निश्चित है कि जिस-किसी से भी हानि पहुँचती हो अथवा पहुँचने की आशंका मनुष्य को हो, उसके प्रति भी उसके मन में घृणा का आवेग उत्पन्न हो जाता है।

३. आलोचना के कारण घृणा की उत्पत्ति

यदि कोई व्यक्ति सार्वजनिक रूप से (Publicity) अथवा हमारे कुछेक साँझे मित्रों के कानों में हमारी निन्दा या आलोचना करता रहता है या हमारे प्रति भ्रान्तियाँ फैलाता है तो भी उसके प्रति हमारे मन में घृणा उत्पन्न हो जाती है। फिर काँग्रेस की फूट वाले ड्रामा पर ध्यान देने से आप देखेंगे कि पुराने पंथी काँग्रेसी नेताओं तथा कई साँझे मित्रों के द्वारा श्रीमती इन्दिरा गांधी को यह मालूम हुआ कि पुराने पंथी उनके विरुद्ध हैं और उसे हटाना चाहते हैं। अत: उसके मन में उनके प्रति घृणा और द्वेष पैदा हो गया।

४. दुर्व्यवहार से घृणा की उत्पत्ति

जो मनुष्य किसी से दुर्व्यवहार करता है, उससे स्नेह, सहयोग और सहानुभूति पूर्ण व्यवहार की बजाय अपमानजनक तरीके से या रूखे और अशिष्ट तरीके से व्यवहार करता है, वह भी अपने व्यवहार द्वारा दूसरों के मन में अपने प्रति घृणा पैदा कर देता है। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने श्री मोरारजी देसाई को जिस तरीके से वित्त मन्त्री के पद से हटाया, उससे मोरार जी के मन में श्रीमती इन्दिरा गांधी जी के प्रति घृणा उत्पन्न हुई। इस बात का उल्लेख श्री मोरारजी भाई ने कई बार अपने भाषणों में किया। फिर जब इन्दिरा जी ने निजलिंगप्पा से भोजन का निमंत्रण स्वीकार करने के बाद अचानक ही भोजन के लिए आने से इन्कार कर दिया, तो निजिलिंगप्पा जी के मन में श्रीमती इन्दिरा जी के प्रति घृणा पैदा हो गई। इसी प्रकार, राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार संजीव रेड्डी ने जब अपने प्रति इन्दिरा जी तथा उनके गुट का व्यवहार देखा तो उनके मन में भी उस गुट के प्रति घृणा पैदा हो गई।

५. दुर्गुणों के कारण घृणा की उत्पत्ति

कई बार ऐसा भी होता है कि जब मनुष्य यह देखता है कि अमुक व्यक्ति में सफाई, सच्चाई, शिष्टता इत्यादि ही नहीं है बल्कि वह चालाकी से और

स्वार्थभाव से व्यवहार करता है, सदा अपना उल्लू सीधा करना चाहता है अथवा लोभी स्वभाव का और खाऊ-पिऊ है, तब भी उसके प्रति घृणा पैदा हो जाती है। कोई व्यक्ति वाचाल हो, बात में अश्लील शब्दों का प्रयोग करे, उठने-बैठने के सलीके से और सभ्य रीति से अपरिचित हो तो भी लोग उससे घृणा करने लगते हैं।

६. ईर्ष्या के कारण घृणा की उत्पत्ति

ऐसा भी होता है कि जब कोई मनुष्य यह देखता है कि अब दूसरा एक व्यक्ति ऐसा हो गया है जो कि उसके यश का भागी बन गया है अथवा मार्केट में उसका मुकाबला (Competition) करता है, अर्थात् उसके धन, मान, यश, सुविधा, सुख आदि का भागी बन गया है, तब उस व्यक्ति से उसकी ईर्ष्या या प्रतिस्पर्धा की भावना हो जाती है, उससे द्वेष पैदा होता है और उसमें घृणा का समावेश होता है। जिससे मनुष्य की ईर्ष्या हो, उसके गुण भी उसे अवगुण मालूम होते हैं अथवा काँटें की तरह खटकते हैं। एक ही घर में दो-तीन भाइयों में परस्पर अनबन या घृणा का यही कारण हुआ करता है। यही राजनीति में तथा सामाजिक सम्बन्धों में भी बड़ा रूप धारण करके बहुत बड़े पैमाने पर वैर, वैमनस्य और विरोध को जन्म देकर तोड़-फोड़ का कारण बनता है।

इन कारणों की निवृत्ति कैसे हो?

पिछले पृष्ठों में हमने छः शीर्षकों के अन्तर्गत घृणा की उत्पत्ति के मुख्य कारणों का उल्लेख किया है। एक-एक शीर्षक के अन्तर्गत वास्तव में कई कारण गिनाये गए हैं। अब यह तो स्पष्ट है कि चाहे कोई भी कारण हो हमारे मन में घृणा उत्पन्न नहीं होनी चाहिए क्योंकि घृणा योग में बाधक है और क्रोध, द्वेष तथा दुःख की उत्पादक है। हम घृणा की उत्पत्ति को यह कहकर उसका औचित्य (Justification) नहीं बता सकते कि अमुक व्यक्ति ने ऐसा किया और उसके परिणाम स्वरूप मेरे मन में उसके प्रति घृणा पैदा होना स्वाभाविक था। हम घृणा का औचित्य इस आधार पर नहीं बता सकते कि — "यदि हममें घृणा न हो तो हम दूसरों के गलत कार्यों के विरुद्ध आवाज़ कैसे उठा सकेंगे और घृणा के अभाव में तो हम उनके गलत कार्यों को बर्दाश्त करके झुकते जायेंगे?" घृणा की उपस्थिति तो किसी तरह भी हमारे मन में अनुचित है क्योंकि दूसरे की बुराई को बुराई बताते हुए हम अपनी बुराई का औचित्य नहीं जतला सकते। अतः पीछे घृणा के जो कारण बताये गए हैं, अब नीचे सार रूप में उनका पुनः

उल्लेख क़रके हम उनके निवारण के उपायों के बारे में विचार करेंगे।

(१) घृणा तब पैदा होती है जब कोई व्यक्ति हमारी बात का समर्थन, अनुमोदन या सम्मान नहीं क़रता और हमारे विचारों एवं प्रयत्नों के लिए हमें प्रशंसा अथवा प्रोत्साहन नहीं देता।

(२) घृणा तब पैदा होती है जब कोई जाने-अनजाने हमारे हितों को हानि पहुँचाता है अथवा हमारी किन्हीं इच्छाओं की पूर्ति में रुकावट बनता है।

(३) घृणा तब पैदा होती है जब कोई हमारी निंदा या कड़ी आलोचना करता है और हमें लोगों की निगाहों में गिराना चाहता है अथवा हमसे अशिष्ट व्यवहार या दुर्व्यवहार करता है।

(४) घृणा तब पैदा होती है जब किसी मनुष्य में हम दुर्गुण, भ्रष्टाचार या असभ्य व्यवहार देखते हैं।

(५) जब हम किसी मनुष्य को अहंकारी, दम्भी, चालाक, स्वार्थी और लोभी देखते हैं तब भी उसके प्रति घृणा पैदा होती है।

अब प्रश्न उठता है कि इन कारणों के होते हुए भी घृणा की निवृत्ति कैसे हो? अब हम उपरोक्त एक-एक कारण को लेकर उसके निवारण की युक्ति बतायेंगे।

पहला और दूसरा कारण और उसका निवारण

यदि कोई व्यक्ति आपकी बात को समर्थन अथवा अनुमोदन नहीं देता तो वह अन्य किसी को, जिससे उसका स्नेह है, समर्थन देता होगा। अत: यदि अब आप इस कारण से घृणा करेंगे तब तो आप उसे सदा के लिए वैरी और विरोधी बना लेंगे। इसकी बजाय यदि आप उससे स्नेह करते रहेंगे तो वह एक दिन बदलेगा और आपको भी समर्थन देगा, आपका सहयोगी बनेगा, आप से सहानुभूति करेगा। फिर, यह भी तो हो सकता है कि आपकी बात वज़नदार न होती हो अथवा आप दूसरों को उसके गुण बताकर विचारानुकूल न बना सकते हों। यह भी हो सकता है कि आप अपनी बात बताते समय आवेग, असन्तोष, या रूखापन प्रगट करते हों और दूसरे व्यक्ति आपके इस रवैये के कारण ही आपके विचारों का विरोध करते हों। अत: यह तो आपकी अपनी ही कमी है जिसे कि ठीक करना ज़रूरी है। इसके अतिरिक्त, ऐसा भी हो सकता है कि आपकी बात का समर्थन न करने वाले व्यक्ति को ऐसा आभास होता हो कि आपके विचार को यदि कार्यान्वित किया जाय तो उसके हितों को हानि होगी।

अतः उसे इसके बारे में सन्तुष्ट करना जरूरी है कि उसके उचित हित सुरक्षित रहेंगे। इस प्रकार, निष्कर्ष यह निकला कि दूसरों के समर्थन, अनुमोदन, सहयोग तथा सहानुभूति प्राप्त करने का तरीका उनसे स्नेह करना तथा उनके प्रति सद्भावना रखना ही है न कि घृणा करना। हमने इसी लेख के प्रारम्भ में पुरानी काँग्रेस और नई काँग्रेस के बीच घृणा का उदाहरण दिया था। इन्दिरा जी ने समर्थन-अनुमोदन आदि न मिलने के कारण घृणा की तो घृणा के कारण पुरानी काँग्रेस के नेताओं में भी उससे घृणा ही पैदा हुई। उस घृणा के फलस्वरूप देश में वह फूट और झगड़ा उठ खड़ा हुआ था जो कि दुनिया जानती है। श्रीमती इन्दिरा जी ने घृणा की, तब यदि पुरानी काँग्रेस के नेता स्नेह, सम्मान और सहयोग देते रहते तब उनकी यह हालत न होती जो मध्यावधि चुनाव (Mid Terms Election) के बाद उस पार्टी की तथा उसके नेताओं की हुई थी। बल्कि एक दिन ऐसा आता जबकि उन्हें भी समर्थन और सम्मान मिलता और इन्दिरा जी का यह विचार अथवा भ्रम दूर हो जाता कि वे उन्हें पदच्युत करना चाहते थे। परन्तु घृणा के कारण वे अशान्ति की अग्नि से पीड़ित हो रहे थे। पुनश्च, श्रीमती इन्दिरा जी ने तो चुनाव जीत लिये थे परन्तु उसने भी वैर, विरोध, वैमनस्य इत्यादि के आधार पर जो सफ़लता प्राप्त की एक दिन उसका बदला विरोधी दल अथवा जनता ने दिया।

इसके अतिरिक्त, आपको चाहिये कि जिससे भी आपको समर्थन और सहयोग की आवश्यकता है, उससे आप ऐसे तरीके से व्यवहार करें कि वह समझे कि आप विनम्र भाव से उससे सहयोग माँग रहे हैं। यदि कोई मनुष्य ऐसा महसूस करता है कि दूसरा मनुष्य उससे सहायता अथवा सहयोग माँग रहा है और उसमें उसके अपने हितों की भी हानि नहीं होगी तो वह सहर्ष सहयोग दे देता है। उसके लिए उसके मन में घृणा उत्पन्न नहीं होती।

तीसरा कारण और उसका निवारण

यदि कोई व्यक्ति हमारी निंदा करता है अथवा दूसरों के सामने आलोचना करता है तो उससे हमें उत्तेजित नहीं होना चाहिए। कहावत भी है कि – "यदि कोई व्यक्ति आकाश की ओर थूक फेंकता है तो वह लौट कर धरती पर आता है।" अतः यदि हममें कोई दोष नहीं है, तो जो हमारी निंदा करेगा , वह मिथ्या साबित होगी और लोग उसके बारे में सोचेंगे कि यह निंदा करने वाला व्यक्ति [illegible] है, तब वह निंदा उसकी ओर लौटकर आयेगी। यदि हममें कोई

दोष है, तो हमें मधुर मुस्कान से स्वयं ही मान लेना चाहिए। उससे हमारी साख भी बनी रहेगी, मन भी अशान्त नहीं होगा और हम घृणा से भी बच जायेंगे।

अभिमानी के प्रति उत्पन्न हुई घृणा का निवारण

जब कोई व्यक्ति सम्पर्क में आने वाले किसी मनुष्य में अभिमान देखता है तो उसके अपने मन में उस मनुष्य के प्रति घृणा की उत्पत्ति के साथ-साथ कुछ इस प्रकार के विचार उठते हैं – "इसने अपने आपको क्या समझ रखा है। वाह जी वाह! बड़ा बना फिरता है,....एक दिन इसका दिमाग ठीक हो जायेगा....हमको इसने क्या समझ रखा है?....."

परन्तु सोचने की बात है कि जैसे उस मनुष्य में अभिमान रूपी दुर्गुण हमें बुरा लग रहा है वैसे ही हममें यदि घृणा रूपी दुर्गुण होगा तब वह भी तो दूसरों को खटकता रहेगा। पुनश्च, जब हम यह कहते हैं कि – "उसने हमें क्या समझ रखा है....." तब इन शब्दों से तो यह सिद्ध होता है कि हममें भी अभिमान है यद्यपि वह अभिमान पहले सुषुप्तावस्था में था और अब उस मनुष्य के अभिमान ने हमारे अभिमान को भी जगा दिया है। तो क्यों न पहले हम अपने मन में से अभिमान को निकाल बाहर करें और दूसरे के दुर्गुण को देखकर स्वयं भी किसी दुर्गुण के वशीभूत होने की बजाय अपने दुर्गुण को निकालें?

यदि किसी मनुष्य में अभिमान है तो निश्चय ही 'जैसी करनी वैसी भरनी' के नियमानुसार उस अभिमानी का सिर एक दिन नीचा होगा। कहावत भी है कि – 'मैं-मैं..' करने वाली भेड़ अथवा बकरी का सिर एक दिन कसाई की छुरी के नीचे कटता ही है, तभी उसकी "मैं-मैं" बन्द होती है। तब क्या हम भी अभिमान के दोषी बनकर धर्मराज के दूतों द्वारा पीड़ित और प्रताड़ित होने की चेष्टा करते हैं।

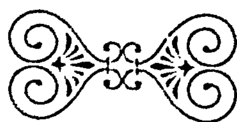
एक मनुष्य यदि अभिमान के रस्सों में जकड़ा हुआ है अथवा घमण्ड की दलदल में फँसा हुआ है अथवा अहंकार की अग्नि में उसका मन जल रहा है, बुद्धि तप रही है, खून खौल रहा है और हृदय का पारा गर्म हो रहा है तो क्या उससे सहानुभूति करने की बजाय, उस विकट स्थिति से उस आत्मा को भी निकालने की चेष्टा करने की बजाय हमें भी अभिमान के ज्वर में अथवा ज्वार-भाटे से पीड़ित होने का यत्न करना चाहिए?

पुनश्च, जब हम यह कहते हैं कि अमुक मनुष्य में अभिमान है तो हमारे इस कथन से स्पष्ट है कि उस आत्मा की ऐसी स्टेज (Stage) होनी चाहिए

जिसमें अभिमान की बजाय नम्रता, प्रेम, और शीतलता आदि गुण हों। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि हरेक मनुष्यात्मा की पवित्रता एवं दिव्य-गुण सम्पन्न स्थिति भी हो सकती है और पहले कभी अवश्य ऐसी स्थिति थी भी। ऐसा जानकर और मानकर हमें पहले तो स्वयं ही उस स्थिति में स्थित होना – चाहिए और फिर दूसरे मनुष्य को भी इस दृष्टिकोण से देखना चाहिए कि उसकी पहले कभी उच्च स्थिति थी परन्तु बाद में उसमें गिरावट आई। जब हम ऐसा समझ लेंगे तब हम अभिमान के कारण गिरे हुए मनुष्य को देखकर स्वयं उस गिरावट में आने का यत्न नहीं करेंगे बल्कि स्वयं भी अपने आदिम स्वरूप में स्थित होने का पुरुषार्थ करेंगे।

जब एक बैल दूसरे बैल के सिर की ओर बढ़ता हुआ अपने सींगों द्वारा उसको आहत करने का कुकृत्य करता है तो दूसरा बैल भी वहाँ से हट जाने की बजाय अपने सींगों द्वारा उस पहले बैल पर वार करता है। इसका परिणाम यह होता है कि दोनों की एक दूसरे से ठन जाती है और वे दोनों एक दूसरे पर अपने सींगों का ऐसा प्रहार करते हैं कि मानों उनके मन में यह विचार चल रहा हो – "ठहरो, तुम अपने आपको क्या समझते हो? तुम जानते हो कि तुम्हारा किससे पाला पड़ा है ?...." दूसरा बैल सोच रहा हो – "तुम्हारी यह मजाल..." उनको इस प्रकार सींग से सींग टकराते देखकर लोग तमाशा देखते हैं और वे एक दूसरे का सिर फाड़ देते हैं। ऐसा ही हाल उस मनुष्य का होता है जो अभिमानी मनुष्य के आगे से हटने की बजाय स्वयं भी अभिमान रूपी सींगों से उससे उलझ जाता है। परिणाम यह होता है कि लोग उन दोनों का तमाशा देखते हैं और वे एक-दूसरे को हानि पहुँचाते हैं।

इसी प्रकार, यदि किसी मनुष्य में दम्भ, कुटिलता, कटुता, अनाचार आदि दोष हैं, तो हमें उसके इन दुर्गुणों से घृणा करनी चाहिए, हमें उस व्यक्ति से घृणा नहीं करनी चाहिए। यदि कोई व्यक्ति दलदल में फँस जाये तो क्या हम उसे बाहर निकालने का यत्न नहीं करेंगे? स्पष्ट है कि हम उसे सहायता देने की बात सोचेंगे। अत: हमें भी किसी में दुर्गुण देखकर उससे घृणा नहीं करनी चाहिए बल्कि उसके प्रति सहानुभूति का व्यवहार करके उसे उनसे निकालने की चेष्टा करनी चाहिए।



गुणों की गहराई

हरेक आध्यात्मवादी मनुष्य यह चाहता है कि उसके जीवन में दिव्य गुणों की धारण हो और दिव्यता का पूर्ण उत्कर्ष हो। परन्तु हम देखते हैं कि इस पुरुषार्थ में बहुत कम ही लोगों को यथेष्ट सफ़लता मिलती है। इसका कारण क्या है?

ध्यान देने पर आप देखेंगे कि बहुत बार प्रत्यक्ष रूप में तो ऐसा लगता है कि अमुक मनुष्य किसी दिव्य गुण को धारण किये हुए है परन्तु वास्तव में उसकी धारणा दिव्यता रूपी बुनियाद पर नहीं होती बल्कि किसी लौकिक अथवा मायाजनित संस्कार पर होती है। दूसरे शब्दों में, गुण के साथ-साथ उसे कुछ घुन भी लगा होता है। वह घुन उसके गुण को पनपने नहीं देता बल्कि उसके गुण रूपी वृक्ष पर पराश्रयी बेल (Parasitic Plant) की तरह लिपटा रहता है तथा उसका शोषण करता रहता है। अत: हमें चाहिए कि हम अपने मन को टटोलें कि हमारे दिव्य गुण को कोई घुन तो साथ में नहीं लगा हुआ। जब हमारा वह दिव्य गुण अपने शुद्ध स्वरूप में होगा तभी सही अर्थ में हममें दिव्यता का उत्कर्ष होगा। हम यहाँ कुछेक उदाहरणों द्वारा इस भाव को व्यक्त करेंगे:—

स्पष्टवादिता

लोगों के सम्पर्क में आने से आप जानते ही होंगे कि कुछ लोग कहते हैं — हम तो सरल स्वभाव के हैं। जो बात जैसी होती है, हम तो उसे सच्चाई से साफ़-साफ़ कह देते हैं। हम झूठ क्यों बोलें; हमें किसी का डर थोड़े ही है? हम तो अन्दर-बाहर से एक हैं। **अब निस्सन्देह, सच्चाई और मानसिक सफ़ाई तो दिव्य गुण हैं परन्तु हम देखते हैं कि कहीं-कहीं स्पष्ट वक्तव्य रूपी गुण के मूल में कई बार गम्भीरता का अभाव, धैर्य की कमी, दूसरे को ग़लत सिद्ध कर उसकी मान-हानि करने का विचार, अपनी ही बात को सत्य सिद्ध करने का अहम् भाव और इस प्रकार के अन्य कई त्याज्य-भाव समाये होते हैं।** अत: जहाँ उस व्यक्ति के जीवन में बेधड़क होकर बात करने का गुण पनपता है वहाँ उदण्डता अभद्रता, कटुता, विवाद प्रियता आदि घुन अथवा अवगुण भी पनपते हैं क्योंकि कई पुरुषार्थी इस बात से गाफ़िल होते हैं कि उनकी इस स्पष्टवादिता का आधार दिव्यता पर नहीं है। हमें चाहिए कि हम देखें कि हमारी स्पष्टवादिता में कटुता, उदण्डता या दूसरे को मान-हानि पहुंचाने का भाव तो नहीं है।

सादगी

आपने देखा होगा, कई लोग कहते हैं कि हम औपचारिकता (Formalities) अथवा तकल्लुफ़ में विश्वास नहीं करते। वे मन में सोचते हैं कि हम तो मिलनसार हैं, स्नेही हैं

और दिखावे (Show) तथा कृत्रिमता (Artificiality) से दूर हैं। वे किसी के आने पर न ठीक तरह से अभिनन्दन करते हैं न उसके जाने पर शिष्टता का व्यवहार ही करते हैं। इस प्रकार उनके मन में जो दूसरों के प्रति आदर-भाव की कमी है अथवा अपने को बड़ा मानने का जो अहम् भाव है अथवा शिष्टता का जो अभाव है, उसको न समझते हुए वे कहते हैं कि हम तो सबसे घुल-मिल जाते हैं; हममें आत्मीयता तथा बन्धुत्व है। **अत: अनौपचारिकता के साथ-साथ उनमें मर्यादा की कमी, शालीनता का अभाव आपेक्षित सत्कार करने के प्रति कर्तव्यविमुखता करने के संस्कार भी घुन की तरह उनकी रूहानियत को खोखला करते चले जाते हैं।** अत: हमें सदा अपने ऊपर ध्यान देना चाहिये कि सादगी और आत्मीयता के साथ-साथ दूसरों को आदर सत्कार देने का गुण भी होना चाहिये वरना उस रूखी सादगी और थोथी आत्मीयता से हम कई लोगों को बेगाना बना लेंगे और दिव्यता की बजाय हम रूक्षता तथा गंवारूपन की सीमा में प्रविष्ट हो जायेंगे।

दूसरों का सत्कार और आतिथ्य

ऐसे भी लोग हैं जो दूसरों को आदर देते हैं, उनका सत्कार भी करते हैं और उनसे मधुर वचन भी बोलते हैं परन्तु वास्तव में उनके व्यवहार के मूल में उस व्यक्ति से अपना स्वार्थ निकालने का ही भाव समाया होता है। इसलिए उनका यह दिव्य गुण तो स्थिर हो नहीं पाता, साथ में स्वार्थ और चाटुकारिता के घुन भी उनकी दिव्यता को खाने लगते हैं।

गम्भीरता

और देखिये। एक व्यक्ति आजकल कम बोलता है। हम जब उसे कहते हैं कि – "आजकल तो आप प्राय: शान्त रहते हैं" तो वह कहता है – "हमें मुँह-फट बनना अच्छा नहीं लगता, हम तो अपनी मस्ती में मस्त रहते हैं। जहाँ जितनी आवश्यकता होती है, वहाँ उतना ही बोलते हैं। हम इधर-उधर हरेक जगह बात करना पसन्द नहीं करते। अधिक बोलने का फायदा ही क्या है? गम्भीर रहना ही अच्छा है" वह व्यक्ति सोचता है कि अब वह अन्तर्मुखी बनता जा रहा है और दिव्य गुणों की धारणा के पुरुषार्थ में लगा है। अब, निस्सन्देह, गम्भीरता तो एक बहुत अच्छा गुण है परन्तु किसी-किसी मनुष्य का कम बोलना 'अन्तर्मुखता' और 'गम्भीरता' के कारण नहीं होता बल्कि इसका कारण होता है कि कई लोगों से रूठा हुआ होता है। रुष्टता के कारण उसके मन में घृणा की लहर होती है; इसलिए उस मूड में वह किसी से भी बात नहीं करना चाहता। दूसरे शब्दों में उसका मौन अथवा अल्प-वक्तृत्व (Less-talk) गम्भीरता रूपी दिव्यता पर आधारित नहीं होता बल्कि रूठना रूपी संस्कार पर होता है? **तो यह बात तो निर्विवाद है कि हम ... तथा अल्प वक्तृत्व का गुण धारण तो करें परन्तु साथ में यह देख लें कि उसमें रुष्टता**

का घुन तो नहीं लगा।

सन्तुष्टता

इसी प्रकार, कोई व्यक्ति अपनी वर्तमान स्थिति या परिस्थिति में कहता है कि – "मैं तो सन्तुष्ट हूँ"। जब कोई व्यक्ति उससे पूछता है कि "आप कैसे हैं," तो वह कहता है – "मैं ठीक हूँ।" परन्तु गम्भीरता से विचार करने पर मालूम होता है कि उसकी इस सन्तुष्टता की बुनियाद में आलस्य, पराक्रम की कमी अथवा कृत्रिम सन्तुष्टता (False or make believe Contentment) होती है। अपने मन में तो वह व्यक्ति जानता है कि जैसा पुरुषार्थ वह कर रहा है, उससे वह सूर्यवंश का स्वराज्य पद प्राप्त नहीं कर सकता तो भी यह सोच कर कि चन्द्रवंश का स्वराज्य पद भी कोई कम तो नहीं है, वह स्वयं को दम-दिलासे से सन्तुष्ट कर लेता है। ऐसी सन्तुष्टता न उसे कल्याण की पराकाष्ठा पर ले जाती है, न ही दूसरों को दिव्यता की ओर प्रेरित करती है। **सन्तुष्टता के साथ हमें पराक्रमी, उद्यमी, तीव्र पुरुषार्थी और परोपकारी भी होना चाहिए।** यदि हमारी सन्तुष्टता इनसे रहित होगी तो उसे 'पुरुषार्थ हीनता और स्वार्थ' का घुन लग जायेगा और वह सन्तुष्टता उसकी उन्नति में तथा उसके बहुमुखी विकास में बाधा होगी। वह दिव्य गुणों के उत्कर्ष की ओर ले जाने वाली नहीं होगी।

दूसरों का सुधार करने का संकल्प

कुछ लोग कहते हैं कि – "अमुक व्यक्ति की अवस्था अथवा उसकी कृति ठीक नहीं है परन्तु वह समझता अपने को बहुत कुछ है अब हम उसे सीधे रास्ते पर लायेंगे। अथवा हम अमुक महान् व्यक्ति से बात करके इसे ठीक करा देंगे"। अब यद्यपि देखने में तो ऐसा लगता है कि इनकी भावना सुधार करने की ही है। परन्तु कोई-कोई व्यक्ति जो विधि अपनाते हैं, उससे मालूम होता है कि उसके मूल में कुछ और भाव मिश्रित होता है। परिणाम यह होता है कि वे दूसरों को तो ठीक करना चाहते हैं, परन्तु चलते-चलते स्वयं दूसरों की निन्दा के धन्धे में फंस जाते हैं। दूसरों का सुधार करने की कामना करते हुए उन लोगों का अपना सुधार पीछे रह जाता है परन्तु कुछ सज्जन सचमुच दूसरों का सुधार चाहते है क्योंकि उनकी इस भावना के मूल में दूसरों के कल्याण की भावना, दिव्य गुणों की धारणा इन सबका आधार दिव्यता ही है। उनका जीवन त्याग, तपस्या, सेवा और विश्व-कल्याण की भावना पर टिका है। इसी लिए वे अनेकानेक मनुष्यात्माओं के लिए आदर्श हैं और प्रेरणा की स्त्रोत हैं। उनके व्यवहार में शुद्ध सरलता, नम्रता, सन्तुष्टता, गम्भीरता इत्यादि का समावेश है। इसलिए अपने जीवन को ऐसा ही बनाना चाहिए।



कर्म करें तो कैसे करें?

कुछ लोग पूछते हैं कि यह संसार बना क्यों है? मैंने तो यह संसार बनाया नहीं, इसलिए इस प्रश्न का मैं उत्तर भी नहीं दे सकता। परन्तु मैं इतना तो जानता ही हूँ कि यह प्रश्न प्राय: वे ही किया करते हैं जिन्हें संसार में किसी-न-किसी प्रकार का दु:ख है अथवा हो चुका है। जो लोग स्वास्थ्य, यौवन, धन-धान्य एवं सम्मान सम्पन्न हैं, उन्हें यह प्रश्न करते प्राय: नहीं सुना गया। वे तो अपने सुख लूटने में ही मस्त हैं। परन्तु उन्हें भी यह मालूम होना चाहिए कि अब जिस प्रकार के कर्म वे कर रहे हैं, अपने लिए वे तदानुसार ही दुनिया बना रहे हैं। जिन लोगों का यह प्रश्न है कि यह दुनिया क्यों बनाई गई और ऐसी क्यों बनाई गई, उनसे भी मेरा निवेदन है कि वे इस बात पर गम्भीरता से विचार करें कि कम-से-कम उनके सम्पर्क तथा सम्बन्ध में आने वाली जो छोटी सी दुनिया है, उतनी तो उन्होंने स्वयं ही अपने कर्मों से बनाई है और आगे के लिए भी वे वर्तमान कर्मों द्वारा अपने सुख या दु:ख के भोग के लिए अपनी छोटी-सी दुनिया रच रहे हैं। मेरे इस कथन का भाव यही है कि हम सभी जो अपने-अपने कर्म करते हैं, उससे हम में से हरेक अपने लिए ऐसा कर्मखाता बना लेता है कि जिसे भोगने के लिए वह अपने मित्रों, सम्बन्धियों, शत्रुओं इत्यादि की छोटी-सी दुनिया की नींव रखता है। यह बात ठीक वैसे ही है जैसे कि एक-एक प्लाट पर हरेक माली अपने हाथों से बीज बोकर भविष्य में अपने लिए वृक्ष लगा दे तो कई प्लाट मिलाकर एक बहुत बड़ा उपवन बन जाता है। हरेक मनुष्य द्वारा भी कर्मों के रूप में भविष्य के बीज बोये जाने से यह एक बड़ा उपवन अथवा वन रूप संसार बन जाता है। इस प्रकार अनादि काल से हम मनुष्यात्माएं इस में बोती और फल पाती चली आ रही हैं।

अत: मेरे विचार में प्रश्न यह नहीं होना चाहिए कि यह संसार किसने बनाया है और क्यों बनाया है? यह संसार तो जैसा है, वैसा हम सभी ने तथा हमारे पूर्वजों ने अपने ही कर्मों द्वारा मिल कर बनाया है। प्रश्न यह होना चाहिए कि अब हम पहले किये गये कर्मों के फलस्वरूप होने वाले दु:खों से छूटें कैसे तथा वर्तमान काल में भी कैसे कर्म करें, कि आगे चलकर यह भी हमारे दु:खोत्पादक न हों, जो लोग आज सुख-भोग में लगे हुए हैं और ऐसा प्रश्न नहीं करते, उनसे भी हमारा निवेदन है कि जिसे वे सुख माने बैठे हैं, वह तो दुखान्त सुख है, वह सम्पूर्ण, सार्वकालिक, सार्वदेशिक तथा सर्वांगीण नहीं है। फिर उसमें तन और मन का सुख ... भी उसमें एक बहुत भारी कमी यह है कि उसमें आत्मा का सुख भी नहीं

है जिससे आत्मा प्रफुल्लित हो जाय। अत: जिसे वे सुख मान रहे हैं, वह तो अंग-भंग है, क्षण भंगुर है, ऊपरी-ऊपरी है और काया तथा काल के अन्तर्गत है। अत: उनको हम कहना चाहते हैं कि अपने कर्मों द्वारा वे भी सम्पूर्ण निरन्तर सात्विक एवं सर्वतोमुखी सुख की दुनिया रच सकते हैं तथा दु:ख का मूलोच्छेदन कर सकते हैं।

नीति और रीति

उसके लिए शिव बाबा ने हमें कर्म करने की जो नीति और रीति बताई है, उसे यदि जानकर हम आचरण में लायें तो हमारे कर्म हमारे लिए इस जन्म में सन्तुष्टि और खुशी का साधन बन सकते हैं और हमारे इस जन्म के सार्थक एवं सफल होने का कारण बन सकते हैं। यदि हम इस नीति और रीति को अथवा प्रणाली तजकर तुक्के से कार्य करेंगे तो परिणाम भी 'तुक्के शाह' अथवा 'भुल्लकड़' वाला हो जायेगा जिस से कि हम गलती पर गलती करते चले जायेंगे।

अत: हम इन लोगों के लिए जो कि काले कर्मों के कीचड़ से निकलना चाहते हैं तथा अब पिछले कर्मों की धूल और शूल से छूटना चाहते हैं, कुछ थोड़ी-सी कर्म-रेखा उनके आगे प्रशस्त करते हैं।

१. श्रीमत के अनुसार कर्म

संसार में कई प्रकार के मत हैं। एक तो मनुष्य का अपना ही मत है। मनुष्य का मन जैसा कहता है, वैसा ही वह करता है। ऐसे मनुष्य को 'मन-मत' कहा जाता है। मनुष्य का अपना मन कभी ठीक भी कहता है, कभी गलत भी। मनुष्य अपूर्ण है; अत: उसका मन सर्व प्रकार की त्रुटियों से रहित मत तो उसे दे नहीं सकता। मनुष्य तो अल्पज्ञ है, वह एक संस्कृति विशेष, देश विशेष, परिस्थिति विशेष, जाति विशेष, वातावरण विशेष तथा कुटुम्ब-विशेष की उपज है। अत: उसके विचार इन संकीर्णताओं से थोड़े-बहुत अवश्य ही रंगे हुए होते हैं। वे इन हदों में बंधे हुए होते हैं। वे पूर्णत: पक्षपात-रहित तथा सर्व स्वार्थ रहित नहीं होते। हरेक मनुष्य के अपने भी कुछ संस्कार होते हैं, उसकी अपनी भी कमियाँ कमजोरियाँ, विकार और विकृतियाँ तथा हालात और परिस्थितियाँ होती हैं। अत: मन-मत मनुष्य को एक ऐसे मार्ग पर चलाने में असमर्थ है जो मार्ग उसे सदाकाल के लिए दु:ख से निकाल दे, तनाव, अशान्ति तथा आधि-व्याधि से छुड़ा दे।

मन-मत के अतिरिक्त दोस्तों, सम्बन्धियों, पड़ोसियों इत्यादि से भी मनुष्य सलाह किया करता है। उसके मत को 'पर मत' कहते हैं। दूसरे लोग मनुष्य की परिस्थितियों का पूरा माप-तोल तो कर नहीं सकते न ही उस मनुष्य की योग्यताओं

को पूरी तरह जानते हैं। फिर उन के अपने भी स्वार्थ संस्कार, हिसाब-किताब, मानसिक अवस्था इत्यादि होते हैं। अत: पर-मत भी मनुष्य को दु:ख सागर से निकाल कर सर्व कालीन सुख के तट पर पहुंचाने में समर्थ नहीं होता। आखिर मन-मत और पर-मत दोनों **मनुष्य मत** ही तो हैं और उक्ति प्रसिद्ध है कि मनुष्य गलतियों का पुतला है।

शास्त्र मत और **गुरु मत** में भी वे न्यूनताएँ पाई जाती हैं जो कि मनुष्य मत में होती हैं या कहा तो यही जाता है कि अमुक-अमुक ग्रंथों में लिखा हुआ ज्ञान परमात्मा द्वारा दिया हुआ है परन्तु यदि सच्चाई की दृष्टि से देखा जाय तो वह भी प्राय: मनुष्यों द्वारा ही दिया हुआ है। यद्यपि वे मनुष्य आजकल के तमोप्रधान मनुष्यों की अपेक्षा बहुत अच्छे थे। मनुष्यकृत होने के कारण ही शास्त्रकर्ताओं के नाम उन-उन ग्रंथों के साथ सम्बद्ध हैं। उदाहरण के तौर पर मनुस्मृति के साथ 'मनु' का नाम, रामायण के साथ 'वाल्मीकि' का नाम, दर्शनों के साथ उनके कर्ता अथवा संकलनकर्ता का नाम, वेदों के साथ भी अग्नि-आदित्य इत्यादि के नाम लिये जाते हैं। अच्छा यदि मान भी लिया जाय कि कोई शास्त्र, अगम या निगम परमात्मा द्वारा हुआ परम पवित्र ज्ञान है, तो भी उसे लिखा तो किसी न किसी मनुष्य ही ने है? अत: वह उसे जितना और जैसा समझ पाया है, उतना तथा वैसा ही तो उसने लिखा है? गोया उसको भी उनके विचार, संस्कार, दृष्टिकोण (Subjectivity) इत्यादि की पुट तो लगी ही हुई है? इस पर भी यदि कहा जाय कि ऐसा भी नहीं है, बल्कि फलां शास्त्र में तो साक्षात् परमात्मा ही के शब्द, वाक्यांश, वाक्य, कॉमा, (अर्धविराम), फुल स्टाप (विराम) है तो प्रश्न उठेगा कि उसका अर्थ समझने वालों ने तो यथा योग्य, यथा संस्कार, यथा भावना ही अर्थ लिया है; तभी तो आज संसार में एक ही शास्त्र के अनेक भाज्य, टीकाएँ, वृत्तियाँ (Gloss), व्याख्याएँ इत्यादि उपलब्ध हैं और उन-उन पर आधारित अनेकानेक मत-मतान्तर हैं। तब भी अन्ततोगत्वा वे हैं तो **मनुष्य मत** ही? अभी-अभी, हमारे ही जीवन काल में स्वयं परमात्मा ने आकर तो वह ज्ञान हमें नहीं दिया है? परमात्मा ने तो क्या, ज्ञान शिरोमणि ब्रह्मा अथवा सरस्वती ने या 'आदम (Adam) और हव्वा (Eve)' ने भी तो नहीं दिया है। तब हम किसको सत्य मानें और आजकल की परिस्थितियां में उनके अनुसार कैसे चलें, यह हमें कौन बतायेगा? हम कैसे-कर्म करें, इस प्रश्न के उत्तर में क्या उत्तर है?

ऊपर हमने अनेक प्रकार के मतों की इसलिए व्याख्या की है कि पहले तो हम यह बात भली भाँति समझ लें कि उनसे हमारा पूर्ण कल्याण होने वाला नहीं है।

स्वयं गीता को लीजिए। आद्य शंकराचार्य जी तो उसे 'निवृत्तिपूरक शास्त्र' मानते हैं अर्थात् ज्ञान प्राप्त करके 'कर्म को त्यागने की प्रेरणा देने वाला शास्त्र मानते हैं, जबकि लोकमान्य तिलक उसे कर्म योग शास्त्र मानते हैं। फिर, शंकराचार्य ने गीता की जो व्याख्या की है, उससे वल्लाभाचार्य, माधवाचार्य, निम्बकाचार्य इत्यादि की व्याख्या अलग है। तब यदि आप गीता को 'भगवान' के वाक्य भी मान लें तो भी उसका कौन-सा अर्थ या दृष्टिकोण आप अपनायेंगे? आप जो भी अर्थ, दृष्टिकोण मानेंगे उसको वैसा ही मानने के लिए आपके पास सर्व-मान्य माप दण्ड कौनसे हैं?

अत: इन सभी कारणों से हम कहते हैं कि हम जन्म-जन्मान्तर मनुष्य मत पर ही चलते आये हैं। यदि ये शास्त्र या इनकी व्याख्याएँ सब ईश्वरीय मत के अनुसार होती तो अब तक हमारा कल्याण हो गया होता और आज संसार की स्थिति भी स्वर्गमय अथवा सुख-शान्तिमय होती। परन्तु हम तो देखते हैं कि रोग, शोक इत्यादि संसार में वैसे ही चले आ रहे हैं, बल्कि अधिक ही हुए हैं। इसलिए अब हमें निश्चयात्मक बुद्धि से इन सभी के बजाय एक परमात्मा ही का सहारा लेने की ज़रूरत है। परमात्मा ही ज्ञान के सागर हैं, शान्ति के सागर हैं, आनन्द के सागर हैं, प्रेम के सागर हैं और पतित-पावन तथा दु:ख-हर्ता और सुखकर्ता हैं। अत: केवल उन द्वारा दिया हुआ ज्ञान ही मनुष्य को 'पतित से पावन', मनुष्य से देवता अथवा 'नर से नारायण' बनाने वाला और सुख-शान्ति सम्पन्न बनाने वाला है। हमें उस एक़ ही की मत पर चलना चाहिए। उसकी मत को ही 'श्रीमत' कहा जाता है।

तो हमें चाहिये कि हम 'श्री-मत' ही के अनुसार अपने कर्म करें। परमात्मा ही हम में से हरेक के अनेक जन्मों की जन्म-पत्री अर्थात् कर्म खाता जानते हैं। वे ही योग्यताओं तथा कमियों से परिचित हैं। उन द्वारा दिखाया हुआ मार्ग ही हमारे लिये श्रेयस्कर है। अत: मेरी यह मान्यता है कि उन्होंने प्रजापिता ब्रह्मा द्वारा जो ज्ञान-मुरलियाँ हमें सुनाई हैं, उनका हम प्रतिदिन अध्ययन करें। उनके आदेश-निर्देश द्वारा खोले गये ज्ञान एवं योग केन्द्रों पर हम प्रतिदिन जायें और 'मुरलियों' की धारणा करें। उनकी ज्ञान मुरलियों में हमारी सभी समस्याओं का हल है, हमारे लिये पूरी कर्म संहिता दी गई है; उसमें साक्षात् उन्हीं के महावाक्य हैं जो कि हमें कर्त्तव्य का बोध कराते हैं। स्वयं प्रजापिता ब्रह्मा ने भी उन्हीं में लिखे महावाक्यों के अनुसार ही अपना जीवन महान् बनाया। उन्हीं को कर्मों के लिये आदर्श मानकर हम भी कर्म करें। कर्म करें तो वैसे करें। इससे न तो कर्म में ग़लती रहेगी, न चिन्ता होगी, न ही तनाव।



व्यवहार की श्रेष्ठता



श्वरीय ज्ञान का कोर्स कर लेने के बाद और योग की विधि सीख लेने के पश्चात् तथा दिव्य गुणों के महत्व को भी समझ लेने के बाद व्यवहार की श्रेष्ठता आने में बहुत लोगों को समय लग जाता है। दूसरों के सम्पर्क में आने पर अथवा विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों में से गुज़रने पर मनुष्य कर्म, अकर्म, की गति को जानते हुए भी व्यवहारिक श्रेष्ठता की कसौटी पर ठीक नहीं उतरता। व्यवहार के परिवर्तन की प्रक्रिया एक अलग ही पहलू है जिसमें बहुत-से लोग कमज़ोर पाये जाते हैं। अभद्रता, अशिष्टता, असन्तुलन, असहयोग, अनबन, खिन्नता, चिड़चिड़ापन, असामन्जस्य (Lack of adjustment) असहिष्णुता आदि-आदि उनके व्यवहार में झलकते रहते हैं जो पर-पीड़ा का और अपनी अशान्ति का नितांत कारण बने रहते हैं।

प्रश्न उठता है कि व्यवहार की इन सब त्रुटियों का कारण क्या है? श्रेष्ठ बनने की कामना करने वाला व्यक्ति भी निकृष्ट व्यवहार क्यों कर बैठता है? एक बार अभद्र व्यवहार करने के पश्चात् मन में पश्चाताप होने पर भी मनुष्य उस अभद्रता की गुलामी से क्यों नहीं छूट पाता? आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद योगी-कुल-उचित, राजकुल-उचित या देवकुल-उचित व्यवहार करना चाहते हुए भी उसका व्यवहार इनमें से किसी भी मर्यादा के अनुसार न होकर जो व्यथा देने और लेने वाला हो जाता है, उसकी वजह क्या है?

इस संसार में प्राय: व्यवहार के लिए मनुष्य की तीन श्रेणियां बनाई जाती हैं —
१. पहली श्रेणी अपने से बड़ों के साथ व्यवहार से सम्बन्धित है।
२. दूसरी समतल, सम आयु अथवा सम-स्तर के लोगों से व्यवहार की श्रेणी है और
३. तीसरी अपने से छोटों की श्रेणी है।

वास्तव में एक-दो और श्रेणियाँ जिनका प्राय: वर्णन नहीं किया जाता, भी ज़रूरी हैं। उनमें से एक वर्ग अथवा संस्था का दूसरे के साथ जो व्यवहार होना चाहिए, उससे सम्बन्धित श्रेणी है और एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के साथ क्या व्यवहार होना चाहिए, उससे सम्बन्धित श्रेणी है। इन सब से भी ऊपर जो सारे जगत् के परमपिता परमात्मा हैं, उनके साथ मनुष्य का क्या सम्बन्ध और व्यवहार होना चाहिए, वह प्रश्न अलग है। वास्तव में मनुष्य का परमात्मा से जो सम्बन्ध है, जब वह टूट या बिगड़ जाता है और परमात्मा के प्रति आज्ञा पालन और समर्पण भाव होने से जब मनुष्य के व्यवहार में त्रुटी आती है, तभी उनके अन्य सभी व्यवहार

भी उत्तम की बजाए मध्यम अथवा कनिष्ठ हो जाते हैं।

यदि हम मनुष्य के समस्त व्यवहारों का विश्लेषण करें तो हम देखेंगे कि स्वार्थ और अहम् भाव ही सभी संघर्षों का मूल है। आज यदि दो राष्ट्र एक-दूसरे का विरोध करते हैं और एक दूसरे से बचाव के लिए युद्ध की तैयारी करते हैं तो अवश्य ही उनके परस्पर विरोध के मूल में दोनों के स्वार्थों का टकराव है। आज यदि दो संस्थाएं भी एक-दूसरे का खंडन करती हैं अथवा दो धार्मिक सम्प्रदाय या राजनीतिक दल एक-दूसरे के प्रति वैर, घृणा, द्वेष आदि से रंगा हुआ व्यवहार करते हैं तो उनके इस निकृष्ट व्यवहार के मूल में भी अहम् भाव और स्वार्थपरता का अस्तित्व ही है। "मैं ठीक हूँ, दूसरा ग़लत है, उसे अपने को ठीक करना चाहिए" –इस प्रकार का दृष्टिकोण तथा "हमारी मांगे पूरी करो" अथवा "हमारी यह आवश्यकता पूरी होनी चाहिए, हमने दूसरों का कोई ठेका थोड़े ही लिया है; वे जाने उनकी बला से" – इस प्रकार की कट्टर स्वार्थपरता संसार में मानव-मानव के बीच दु:ख को पैदा करने वाली एक नकारात्मक (Negative) प्रवृत्ति है। व्यापार में इसी के कारण से शोषण है। दो देशों के बीच इसी से दंगे और फ़साद होते हैं। राजनीतिक दल इसी के वशीभूत होकर आपस में खींचातानी करते हैं और इसी से ही पारिवारिक जीवन में तोड़-फोड़ होती है और बढ़ते-बढ़ते एक दिन ऐसा उत्पात होता है कि बसी हुई आबादियाँ एक दिन शमशान बन जाती हैं। एकता को भंग करने वाली, असहयोग की भावना को जन्म देने वाली, कटु आलोचना के लिए उकसाने वाली, ईर्ष्या और द्वेष की आग को भड़काने वाली, प्रेम को निर्बीज करके उसके स्थान पर घृणा फैलाने वाली ये दो प्रवृत्तियाँ – स्वार्थ और अहम् भाव – ऐसी हैं जिन्होंने स्वर्ग को नर्क और महकते बगीचों को जलते हुए जंगलों में परिवर्तित किया है। इन्हीं से ही संसार में लूटमार का बाज़ार गर्म है। आज इन्हीं से ही अलगाव का नारा बुलंद है। हर आए दिन जो हम मारकाट का समाचार पढ़ते हैं, उस रक्त-भरी दास्तान की कथावस्तु का केन्द्र बिन्दु यही दो प्रवृत्तियाँ हैं। आज संसार के लिए यही राहु और केतु हैं जिन्होंने ही इन्सान को इन्सानियत से गिराया है और करुणा, दया, क्षमा, सहयोग, सहिष्णुता, भ्रातृत्व, त्याग आदि मूल्यवान मानवीय गुणों को धूली-धूसरित कर दिया है।

कई बार मनुष्य का स्वार्थ अथवा अहम् भाव बाहर से बहुत ही चमत्कृत, अलौकिक अथवा सुन्दर रूप ले लेता है। दूसरे शब्दों में स्वार्थ अथवा अहम् भाव रूपी काले भूत मन को मोहित करने वाली अप्सरा अथवा देव का रूप ले लेते हैं।

मनुष्य समझता है कि अमुक कार्य करने से मैं संसार की सेवा कर सकूँगा परन्तु उसके पीछे भावना अपने मान और शान के बढ़ावे की होती है अथवा दूसरों से होड़ (Competition) करके उनको मात (Defeat) करने की होती है और इस दुर्भावना से मनुष्य दिव्य धारणाओं और मर्यादाओं को तोड़ने के लिए उद्यत हो जाता है क्योंकि यह तथाकथित (So called) सेवा उसके अहम् भाव व स्वार्थ की भूख के लिए निवाले का काम करती है। नाम कितना सुन्दर है – 'सेवा!' परन्तु उसके पीछे भाव सेवा का नहीं अर्थात् त्याग, उत्सर्ग, परोपकार, अनुकम्पा, कृपालुता का नहीं बल्कि अपने को किसी क्षेत्र में प्रतिष्ठा की चोटी पर पहुँचाने का होता है – चाहे उसके लिए दूसरों के अधिकारों को अपने पांव तले रौंदते हुए चलना पड़े, न्याय की बजाए अन्याय की नीति अपनानी पड़े और त्याग की बजाए हड़पने की अवधारणा अपनानी पड़े।

जीवन काल में शुभलक्ष्य की ओर बढ़ता हुआ मानव चलते-चलते त्याग और परोपकार के पथ से हटकर, अधिकारों, आकांक्षाओं, उपाधियों एवं लौकिक उपलब्धियों को बटोरने में लग जाता है और इस प्रकार सात्विकता, साधना, सादगी, सद्भावना एवं सद्व्यवहार से विपरीत दिशा ले लेता है। उसका परिणाम स्वत: स्पष्ट है।

थोड़ा बड़ा होने पर, कुछ उपलब्धि हो जाने पर अथवा कुछ अधिकार प्राप्त कर लेने पर मनुष्य इतना उन्मत और मद-मस्त हो जाता है कि वह बड़ों को पूछना, उनका सम्मान करना अथवा उनसे आदर युक्त व्यवहार करना भूल जाता है। ऐसा करने से वह स्वयं को ही बड़ों के आशीर्वाद से वंचित करता है – उसे यह सुधि भी नहीं रहती जो उसके समतल हैं, उन्हें देखकर प्रसन्न होने की बजाए, उन्हें शुभकामनाएं देने की अपेक्षा वह उन्हें परास्त अथवा पीछे करने का यत्न करने लगता है – उसे यह ख्याल ही नहीं रहता कि ऐसे व्यवहार से वह स्वयं ही सबके मन से पीछे हट रहा है। वह अपने से छोटों के साथ दवाव, अनादर, आतंक, शुष्क अथवा अभद्र व्यवहार कर लेता है और उसे यह मालूम ही नहीं होता कि वह अपने मित्रों को शत्रु, अपने प्रशंसकों को आलोचक, सहयोगियों को विरोधी और साथियों को सामना करने वाली उलट नीति को अपना रहा है। दैवी नीति की बजाए वह इस [illegible] [illegible] नीति को अपनाता है कि छोटों को रोब से दबाकर, बड़ों को [illegible] से [illegible] और समतल वालों को पटाकर चलना ही आगे बढ़ना है।

मनुष्य स्वयं तो दूसरों से ऐसा व्यवहार कर लेता है परन्तु जब दूसरे उससे

ऐसा व्यवहार करते, तब उसे यह खलता है। दूसरों के ऐसा व्यवहार करने पर वह उनसे रुष्ट अथवा खिन्न हो जाता है और जगह-जगह कहता फिरता है कि फलाँ मनुष्य कैसे निकृष्ट स्वभाव का है कि वह हमसे अभद्र व्यवहार करता है गोया वह स्वयं तो खोटा सिक्का नहीं लेना चाहता, दूसरों को जाली नोट देकर ठगने के लिए झट से तैयार हो जाता है।

अत: व्यवहार को श्रेष्ठ बनाने के लिए मनुष्य को एक तो यह सोचना चाहिए कि यदि मुझसे कोई ऐसा व्यवहार करे तो मुझे वह कैसा लगेगा? दूसरे, उसे यह याद रखना चाहिए कि जैसा व्यवहार मैं करूँगा मुझे वैसा करते देखकर और लोग भी यदि वैसा करने लगेंगे, तो परिवार का, संस्था का, समाज का, राष्ट्र का अथवा विश्व का क्या हाल होगा – संसार में खलबली, दुर्व्यवस्था, अनाचार और कशमकश बढ़ेगी, तनाव को बढ़ावा मिलेगा या उससे शान्ति, प्रेम, मित्रता और सद्भावना का वातावरण बनेगा? इन दोनों बातों को सामने रखने से मनुष्य का व्यवहार दिनोंदिन श्रेष्ठ बन सकता है।

इस पर भी यदि यह याद रखा जाए कि योगी कुलभूषण के क्या लक्षण होने चाहिए, होवनहार देवता की क्या नीति होनी चाहिए अथवा भविष्य में स्वराज्यपद पाने वाले को किस मर्यादा का पालन करना चाहिए या स्वयं को ईश्वरीय सन्तान निश्चय करने वाले व्यक्तियों में किन ईश्वरीय गुणों की झलक मिलनी चाहिए तो मनुष्य श्रेष्ठ व्यवहार के मार्ग पर सतत आगे बढ़ता जायेगा।

याद रहे कि जो दूसरों को क्षमा नहीं करेगा धर्मराज उसे भी क्षमा नहीं करेगा; जो परोपकार नहीं करेगा उसका अपना भी उपकार अथवा उद्धार नहीं होगा। जो उदारचित्त बनकर दूसरों को खुश नहीं करेगा, उसका अपना चित्त भी खुशी के खज़ाने से वंचित रहेगा। जो दूसरों को आतंकित अथवा अपमानित करेगा, उसका भले ही कोई कुछ समय भयवश मान करे परन्तु न उसकी अपनी अन्तरात्मा उसे सम्मान योग्य मानेगी और न उसे लोग सच्चे मन से सम्मान योग्य समझेंगे। जो दूसरों को उन्नति का अवसर देगा, उसकी अपनी भी उन्नति होगी; जो दूसरों को बढ़ते हुए देख खुश होगा, उसकी खुशी की बेल सदा हरी-भरी रहेगी और वृद्धि को प्राप्त होगी। अत: यह जो उक्ति है कि – "युक्ति से मुक्ति मिलती है" – यह इसी पर चरितार्थ होती है। छोटों को स्नेह देने, बड़ों को सम्मान और समतल वालों को साथ देना तथा सभी को सद्भावना – यही युक्ति है जिससे मुक्ति मिलती है, यही नीति है जिससे प्रीति बढ़ती है, श्रेष्ठ व्यवहार की यही नींव है।



ज़बान के धनी और ज़बान के कंजूस

एक कहावत है कि तलवार के घाव तो जल्दी भर जाते हैं पर ज़बान के घाव भरने में ज्यादा देर लगती है। परन्तु हम देखते हैं कि हरेक देश की दण्ड संहिता (Penal Code) में तलवार से आघात पहुँचाने वाले व्यक्ति के लिए तो दण्ड निर्धारित है किन्तु ज़बान से घाव करने वाले व्यक्ति के बारे में वैसा कोई कड़ा दण्ड नहीं है। लोहे की तलवार से तन को आहत करने वाले व्यक्ति को तो कत्ल का अपराधी माना जाता है, परन्तु ज़बान की तलवार से मन को आहत करने वाले व्यक्ति का कर्म वैसा बड़ा दण्डनीय अपराध (Cognisable offence) नहीं माना जाता। यों सभाओं में और समाज में भाषण या वार्तालाप में शिष्टता का व्यवहार करने के लिए भी मर्यादायें प्रचलित हैं और सरकार के विरुद्ध भड़काने एवं उकसाने के बारे में भी विधि-विधान (Legal and constitutional provisions) हैं, परन्तु व्यक्तिगत व्यवहार में तथा घरेलू एवं पारिवारिक वार्तालाप में यदिकोई किसी को अपने शब्द रूपी बाण से ज़ख्मी करता है तो उसके अपराध के लिए कोई कड़ा दण्ड-विधान नहीं है।

ऐसा दण्ड निर्धारित न होने के कई कारण हो सकते हैं। शायद इस अपराध को दण्ड-संहिता में इसलिए सम्मिलित नहीं किया गया होगा कि इस प्रकार के रगड़े-झगड़े इतनी संख्या में होते हैं कि यदि सरकार अथवा पुलिस इन्हें भी दण्डनीय अपराध मान लें तो न्यायालय में ऐसे अपराधों की अनन्त लड़ी लग जाएगी। यह भी कारण हो सकता है कि ऐसे अपराधों को अदालत के कटघरे में कानूनी तौर पर सिद्ध (Establish) करना कठिन होता है क्योंकि मन के घाव प्रगट नहीं होते और उसके लिये गवाह या दस्तावेज़ (Documents) आदि भी नहीं होते। यह भी हो सकता है कि मन के घाव लगने में स्वयं आहत व्यक्ति भी दोषी हो जो किसी बात को यों ही अपनी आदत के कारण महसूस कर गया हो। और, यह भी हो सकता है कि यह अपराध इतना आम हो कि इससे कोई भी छूटा न रह सकता हो। खैर इसके अपराध घोषित न होने का कारण चाहे कुछ भी रहा हो, इस बात से तो इन्कार नहीं किया जा सकता कि ज़बान से के मन को आहत और पीड़ित करना भी एक बहुत बुरा कर्म है।

कटु शब्द एक कुचक्र का उत्पादक

ध्यान से देखा जाए तो एक दृष्टि से ज़बान के घाव ज्यादा खतरनाक होते हैं – केवल इसलिए नहीं कि कटु शब्द से पीड़ित होकर कई व्यक्ति अपनी हत्या तक कर डालते हैं या कई परिवारों का संगठन टूट जाता है या परस्पर दुश्मनी के बढ़ने से कलह-क्लेश को बढ़ावा मिलता है, बल्कि इसलिए भी कि यदि तलवार द्वारा कोई व्यक्ति ज़ख्मी हो जाता है तो उसका ज़ख्म उस तक ही सीमित रहता है परन्तु जब शब्द-प्रहार से कोई व्यक्ति आहत होता है तो वह उत्तेजना, अपमान या अशिष्टता का अनुभव करने के परिणामस्वरूप सम्पर्क में आने वाले दूसरे व्यक्तियों को भी दु:खी करता है। उदाहरण के तौर पर यदि किसी गृहिणी को कोई कटु वचन बोलता है तो वह उद्विग्न होकर बच्चों या पति से खिन्न होकर बोलती है और पति बस में कन्डक्टर या यात्रियों से अथवा दफ़्तर में अपने सहकारियों से लड़ पड़ता है अथवा बच्चों पर अपना गुस्सा निकालता है और बच्चों की अपने पड़ोस के बच्चों से झड़प हो जाती है और इस प्रकार समाज में यत्र-तत्र-सर्वत्र तनाव तथा पर-पीड़ा का कुचक्र अथवा भँवर-सा चल पड़ता है। कटु अथवा अभद्रतापूर्ण वचनों से चेहरे की कान्ति सूख जाती है, मुख पर से मुस्कान मिट जाती है, मन से उत्साह नष्ट हो जाता है इसलिए कटु शब्द एक कुचक्र का उत्पादक बन जाता है।



युक्ति से मुक्ति मिलती है

बाबा अपनी बातचीत के दौरान कई बार कहा करते – "बच्चे, युक्ति से मुक्ति मिलती है।" बाबा की 'मुरलियों' में भी हम यह वाक्य पढ़ते हैं। परन्तु साथ-साथ बाबा कई बार यह भी कहते हैं कि "ज्ञान के बिना गति (या सद्गति) नहीं होती" और कि "योग द्वारा ही सहज मुक्ति मिलती है; आत्मा कर्मातीत अवस्था को प्राप्त होकर मुक्तिधाम को जाती है।" अत: प्रश्न उठता है कि – "युक्ति द्वारा मुक्ति कैसे मिलती है? और, यदि ज्ञान तथा योग द्वारा भी आत्मा कर्मातीत होकर मुक्ति को प्राप्त होती है, तब क्या युक्ति, ज्ञान और योग तीनों एक ही भाव को व्यक्त करते हैं? क्या यह तीनों पर्यायवाची शब्द हैं?"

युक्ति से संगत एक वृत्तान्त, एक उदाहरण

इस प्रश्न के पहले भाग के बारे में मुझे एक वृत्तान्त की याद आती है। एक बार एक पागलखाने में एक पागल किसी तरह अपने कमरे से बाहर निकल गया और तीसरी मंजिल के कमरों के बाहर निकल छत का जो हिस्सा थोड़ा बाहर निकला था, उस 'प्रोजेक्शन' (Projection;छज्जे) पर जा खड़ा हुआ। अचानक अस्पताल के वार्डन (Warden;रक्षक) ने जब देखा कि वह पागल अपने कमरे में नहीं है तो उसे ढूंढते-ढूंढते उसका ध्यान तीसरी मंजिल के बाहर की प्रोजेक्शन पर गया। उसने सोचा कि अगर यह रोगी वहाँ से छलांग लगा देगा या पागलपन में इस पर बेपरवाही से घूमेगा तो यह मर जायेगा। इसलिये कुछ अधिक सोचे बिना वह भागा और स्वयं भी वहां प्रोजेक्शन पर जा पहुँचा।

वहाँ पहुँच कर उसने पागल से कहा – "सुनाओ भाई क्या हालचाल है? यहाँ क्या कर रहे हो?"

पागल बड़ी मस्ती से बोला – "सोच रहा था कि जैसे पक्षी पंख फैला कर उड़ते हुए नीचे उतरता है, मैं भी आज पक्षी की तरह फ़र्श पर उतरूं।" ऐसा कहते हुए पागल ने मुंह को भी नीचे की ओर झुकाया और अपनी दोनों भुजाओं तथा हथेलियों को पीठ से पीछे ले जाकर पंख की तरह रूप दिया।

वार्डन डर गया और चौंका। उसने पागल को एक हाथ से तो थपथपाया और दूसरे हाथ से उसके हाथ को पकड़ लिया ताकि वह कहीं नीचे छलांग न लगा दे।

परन्तु उसने देखा कि पागल में बल बहुत है और वह उसे पकड़ कर रोक नहीं ...गा। उसे यह भी डर था कि अगर वह पागल को जबरदस्ती रोकेगा तो पागल

कहीं उसे ही नीचे धक्का न दे दे। परन्तु मिनटों में ही कुछ हो जाने वाला था, इसलिये जल्दी ही कुछ करना था।

अचानक वार्डन को एक **'युक्ति'** सूझी। उसने मुस्कराते हुए और दोस्ताना तरीके से पागल को कहा – "वाह भाई वाह! आप जो करना चाहते हो वह कोई बड़ी बात तो है नहीं। आप तो कोई बड़ा काम करके दिखाओ। और, मुझे विश्वास है कि आप विशेष काम कर सकते हैं।"

पागल ने कहा – "अच्छा, सुनाओ दोस्त, अगर यह बड़ा काम नहीं है तो और क्या चाहते हो?"

वार्डन ने कहा – "नीचे चलकर, फर्श से अर्श की ओर एक पक्षी की तरह उड़ कर दिखाओ। पंख तो आपको लगे हुए ही हैं। चलो, आओ, हम दोनों एक-साथ नीचे से ऊपर की ओर उड़ेंगे।" यह कहते हुए पागल की अंगुली प्यार से पकड़ते उसे कमरे के रास्ते से नीचे ले चला। इस प्रकार उसने पागल की भी जान बचाई और अपना कर्त्तव्य भी ठीक निभाया। अगर वह पागल से ज़ोर-ज़बरदस्ती या हाथापाई करता तो दोनों ही धड़ाम से धराशायी होते। तो सच है कि युक्ति से ही दोनों की (मौत के मुंह से) मुक्ति हुई।

एक अन्य वृत्तान्त; अन्य उदाहरण

कुछ इसी प्रकार की युक्ति की बात एक-दूसरे संदर्भ में हम आद्य शंकराचार्य की जीवन कहानी में पढ़ते हैं। शंकराचार्य घर-बार छोड़कर धर्म का प्रचार करना चाहते थे। परन्तु उनकी मां उनके इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करती थीं। शंकराचार्य ने आखिर युक्ति सोची।

वह एक बार अपनी मां के साथ नदी पर गये। कपड़े किनारे पर रखकर शंकराचार्य ने मां को किनारे पर बैठने को कहा। अचानक ही नहाते-नहाते शंकराचार्य ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगे।

"माँ..माँ...माँ.., ओ मैं मरा। मगरमच्छ ने मेरा पांव पकड़ लिया! रे कोई बचाओ ...ब..।"

मां घबरा गयी और हाय-हल्ला करने लगी। शंकराचार्य ने कहा – "मां, एक भगवान ही बचा सकते हैं वरना आज मैं मरा, हाय मरा, अरे मगरमच्छ, मां मैं मरा ... कह दो मैंने अपना बच्चा भगवान को दिया। जल्दी कह दो मां, एक सर्वशक्तिवान भगवान ही गज को ग्रह से बचाने की भाँति मुझे बचा सकते हैं .... हाय ...मरा, जल्दी करो माँ.....।"

जल्दी के कारण मां से कुछ सोचा नहीं गया। उसे तो बच्चे का जीवन प्यारा था। उसने तुरन्त कह दिया – "मैंने यह बच्चा भगवान को दिया।" फिर वह कहने लगी –"बचाओ भगवान बचाओ! अब यह आप ही की शरण में है; यह आप ही का बच्चा है, इसे मैंने आपकी शरण में सौंपा है।"

इस तरह शंकराचार्य तट पर आ पहुंचे और बोले – "मां, तूने अच्छा किया, मुझे भगवान के हवाले कर दिया, वर्ना तो आज बचने की कोई आशा नहीं थी। तूने बचा लिया मुझे माँ ...।"

माँ बोली – "मैंने नहीं, भगवान ने तुझे बचाया है शंकर; इस बात को कभी मत भूलना।"

शंकराचार्य बोले – "ठीक कहती हो माँ! तो अब से मेरा यह जीवन भगवान ही के हवाले है; तुमने तो उसे सौंप दिया था न, मां? उसी ने बचाया है न मुझे?"

माँ ने अब समझा कि शंकराचार्य किस अर्थ में उसे यह कह रहा है। धार्मिक स्वभाव की एवं श्रद्धालु माता होने के कारण उसने कह दिया – "हां, हो तो तुम भगवान के ही। परन्तु क्या मुझे छोड़ जाओगे?"

तब शंकराचार्य ने कहा – "माँ, मैं छोड़ने की भावना से नहीं जा रहा, धर्म का प्रचार करने जा रहा हूँ; जिस भगवान ने बचाया है, नया जीवन दिया है, उसकी महिमा करने जा रहा हूँ।" इस प्रकार शंकराचार्य ने भी (मां के मोह से) युक्ति द्वारा ही मुक्ति पाई थी।

मेरा अपना उदाहरण

मैं स्वयं जब शिव बाबा के इस अलौकिक कार्य में पूर्णत: समर्पित होना चाहता था तो मेरे लौकिक पिता मोह-ममता के वश मुझे इसके लिये स्वीकृति देने में तैयार नहीं होते थे। आखिर एक दिन उनसे यह वार्तालाप हुआ –

पिता जी – "आखिर मैं आपका पिता हूँ; आपके हित ही की बात कहता हूँ; आप सरकारी सेवा को न छोड़ो और घर में ही रहो।"

मैं – "निश्चय ही आप पितृवत स्नेह और शुभ भावना ही से ऐसा कहते हैं। परन्तु अब मेरा लक्ष्य ही कुछ और है। यदि आप आज्ञा दें तो आप से एक बात पूछूं?"

पिता जी – "इसी प्रसंग में कोई बात हो तो भले ही पूछो।"

मैं – "जब मैं बहुत छोटा था तब आप अंगुली पकड़ कर मुझे बाज़ार में ले थे ताकि आप मुझे रास्तों से परिचित करायें और फल-सब्ज़ी आदि वस्तुओं

की खरीदारी सिखायें। तब आपका कोई परिचित व्यक्ति मिल जाता और आप से पूछता – "यह आपका बच्चा है?", तो आप तुरन्त कहते – "अजी, यह भगवान का बच्चा है।" ऐसा कहते हुए आप अंगुली ऊपर उठा लेते और नेत्र या मुख ऊपर की ओर कर लेते। अत: मैं तो कई बार आपके मुखारविन्द से यह सुनते-सुनते यह मान बैठा था कि मैं भगवान का बच्चा हूँ। परन्तु आज आप कह रहे हैं कि मैं आपका बच्चा हूँ और आप मेरे पिता हैं। तब में और अब में यह अन्तर कैसे पड़ गया है – बस, यही मैं जानना चाहता हूँ।"

पिताजी (मुस्कराते हुए) – "अच्छा, तो क्या तुम तब यह ध्यान से सुनते थे? क्या तुमने इसी मन्तव्य को पक्का कर लिया था? तुम चालाकी कर रहे लगते हो। देखो, शरीर के दृष्टिकोण से तो तुम मेरे ही बच्चे हो, आत्मा के नाते से भगवान के बच्चे हो। इसलिए मैं तब भी ठीक कहता था और अब भी ठीक कहता हूँ।"

मैं – "तो पिताजी, आप मेरा शरीर रख लो, मुझ आत्मा को पिता परमात्मा के पास जाने दो!"

मेरे लौकिक पिता भी धर्म-प्रिय व्यक्ति थे। वे खिलखिलाने लगे और बोले – "तुम मानोगे तो नहीं। तुम भगवान के हो चुके हो तो रोकूं भी कैसे? फिर बात यह है कि तुम्हारे बचपन में मैं अपने मित्रों से जब कहता था कि – "भगवान् का बच्चा है," तब मैंने यह सोचा ही नहीं था कि तुम इस बात को पकड़ लोगे।"

ख़ैर, हमें तो इस युक्ति से (लौकिकता से) मुक्ति मिल गयी।

"युक्ति से मुक्ति" की जो कहावत है, इसके बारे में कई दृष्टान्त और वृतान्त बताये जा सकते हैं। मान लीजिये कि किसी को हलवा बनाना है। अब पहले तो उसे यह मालूम होना चाहिये कि हलवा बनाने के लिए सूजी, घी, चीनी, पानी, अग्नि, बर्तन आदि की आवश्यकता है। फिर उसे हलवा बनाने की युक्ति भी मालूम होनी चाहिये। यदि उसने पहले सूजी को घी में भूनने की बजाय पहले सूजी में पानी डाल दिया और फिर घी और चीनी डाल दी तब वह या तो कच्चा-पक्का सत्तू-सा बन जायेगा या मीठी लेई ही बन जायेगी। युक्ति के बिना न हलवा बनेगा और न उस व्यक्ति को (भूख से) मुक्ति मिलेगी।

अब इसी प्रकार ईश्वरीय ज्ञान द्वारा तो मनुष्य को यह बोध होता है कि आत्मा क्या है और परमात्मा क्या है, आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध क्या है, इत्यादि। योग से उसे योगी जीवन के नियम, लाभ आदि-आदि का परिचय मिलता है। परन्तु यदि परमात्मा युक्ति का प्रयोग न करें तो शायद कोई भी उनका पूरी तरह अभ्यास

नहीं करेगा। बाबा सभी को उत्साहित करते हैं कि योग सहज है, ज्ञान तो तीन दिन में भी समझ आ जाता है और आप ही तो पहले देवी या देवता थे; आप विशेष आत्मा हैं, 'सिकीलधे' हैं, मैं आपको अपनी पलकों पर बिठा कर ले जाऊँगा; मैं आपके सिर पर ताज देखता हूँ, आदि-आदि।

इस प्रकार बाबा देहाभिमान और लौकिकता से छुड़ा कर आत्मा का स्नेह स्वयं (परमात्मा) से जोड़ देते हैं। वे कभी विनाश की बात बताकर मुर्दा हुई दुनिया से मुख मोड़ते हैं, कभी कोई सौगात देकर, कभी वे महिमा करके अपना साथी और सहयोगी बनने की बात कहते हैं तो कभी वे अपने हाथों से 'टोली'' (प्रसाद) देते हैं। इस प्रकार वे अनेक युक्तियों से ज्ञान तथा योग के मार्ग पर चलाते चलते हैं। मुक्ति और जीवन-मुक्ति होती तो ज्ञान और योग ही से है परन्तु युक्ति के बिना मनुष्य ज्ञान और योग पथ पर ही नहीं चलता, और जब वह ज्ञान एवं योग को ही नहीं अपनाता तो उसे मुक्ति कैसे मिलेगी?

फिर योग की भी युक्ति है। योग लगाने के लिये पहले स्वयं को आत्मा निश्चय करना है — यह युक्ति ही तो है। यह युक्ति न आने के कारण पहले लोग अपने मन को परमात्मा में स्थित ही नहीं कर पाये क्योंकि वे देहाभिमान से ही न्यारे नहीं हो पाते थे। इसके अतिरिक्त, बाबा अनेक युक्तियों से ही योग-स्थित करते हैं। वह कहते हैं — "देखो, अपने लौकिक मित्रों-सम्बन्धियों को तो आप ज़न्म-जन्मान्तर याद करते ही आये हो; बस आप केवल याद को स्थानान्तरित (ट्रान्सफर) करो!" इस प्रकार, जो व्यक्ति पहले विकारों तथा देहाभिमान की दलदल में फंसा था, अब बाबा उसे युक्ति से ही मुक्ति दिलाते हैं। जैसे वार्डन ने नीचे से ऊपर उड़ने की बात कहकर युक्ति से पागल को छज्जे से हटाया था, वैसे ही शिव बाबा भी युक्ति से ही मनुष्य को पवित्रता, ज्ञान और योग के मार्ग पर चला कर मुक्ति दिलाते हैं। वार्डन की तरह बाबा भी कहते हैं कि आप भी ऊपर उड़कर दिखाओ। बाबा भी कहते हैं कि शंकराचार्य से भी अधिक महान् युक्ति से स्वयं को लोक-कल्याण की सेवा के लिये मुक्त करो।



प्रभु-चिन्तन या पर-चिन्तन

हमारी योग-साधना के पाँच मूल तत्व हैं। एक तो यह है कि हम परमपिता परमात्मा के ईश्वरीय गुणों का मनन, चिन्तन और रसास्वादन करते हैं। दूसरा यह कि हम अपने बारे में भी इसी निष्ठा अथवा निश्चय को धारण करते हैं कि हमारा वास्तविक एवं आदिम स्वरूप पवित्रता, शान्ति तथा प्रेम है। तीसरा यह कि हम स्वयं को एक ज्योति-बिन्दु आत्मा मानते हैं और परमात्मा को भी देह-रहित एक शाश्वत ज्योति-बिन्दु रूप मानते हैं। और इस प्रक्रिया अथवा विधि से देह की विस्मृति कर आत्मा के स्वरूप में टिकते हैं। चौथा तत्व यह है कि हम आत्मा के स्वरूप की तथा परमात्मा के स्वरूप एवं गुणों की पुनःपुनः स्मृति में लगे रहते हैं और इस स्मृति को निरन्तर या एक तान बनाते हैं। पाँचवा तत्व यह है कि हम इस स्मृति में प्रेम, भावना, समर्पणमयता इत्यादि का समावेश करते हुए इसमें स्थिति तथा अनुभूति को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार के अभ्यास, पुरुषार्थ या योग से हमारे संस्कारों में परिवर्तन आता है, हममें पवित्रता, शान्ति आदि का उत्कर्ष होता है तथा हमारा जीवन आध्यात्मिक महानता को प्राप्त करता है। हमारे इस पुरुषार्थ से हमारे मन का मणका विजयमाला में पिरोने के योग्य हो जाता है।

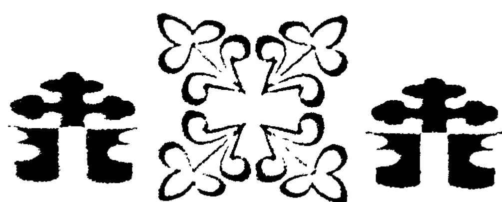
परन्तु बहुत बार देखा गया है कि व्यक्ति, इस पुरुषार्थ को छोड़कर उल्टी माला फेरने लगता है। अथवा, वह घण्टा-आधा घण्टा तो योग रूपी सुल्टी माला फेरता है और उसके बाद दिन-भर उल्टी माला फेरता है। कई बार तो कोई साधक योगाभ्यास के समय भी उल्टी माला फेरने लगता है। उसका परिणाम भी उल्टा ही होता है।

पर-चिन्तन-उल्टी माला

हम ऊपर योग के पाँच मूल तत्वों का उल्लेख कर आए हैं। अब मान लीजिए कि कोई व्यक्ति किसी मनुष्य-तन-धारी में कोई अवगुण, दुर्गुण या त्रुटि देखता है। उसकी कमी-कमज़ोरी को देखने के बाद उसके मन में बार-बार उस देहधारी की स्मृति हो आती है और उसके अवगुण या दुर्गुण की भी याद आती है और उस याद में उसके प्रति घृणा या द्वेष का भी समावेश होता है और वह उन कटुता अथवा दुर्गुण की अनुभूति या स्थिति में होता है। तब इस प्रक्रिया को आप क्या कहेंगे?

इसमें एक तो परमात्मा के ईश्वरीय गुणों और दूसरे आत्मा के आदि स्वरूप की पवित्रता के चिन्तन की बजाय किसी व्यक्ति के दुर्गुणों ही का तो मनन-चिन्तन है। तीसरे, इसमें ज्योति-बिन्दु आत्मा और अशरीरी परमात्मा की स्मृति के बजाय देहधारी ही की तो याद है और अपनी स्थिति भी तो दैहिक ही है। चौथे, किसी के दुर्गुणों का पुन:पुन: चिन्तन या दूसरों से उसका वर्णन, अर्थात् उसकी निंदा भी तो इसमें समाई है। पाँचवे, उसकी निंदा करते हुए उसकी त्रुटियां को सोचते हुए मन में उसके प्रति घृणा-भाव, क्रोध या अपमान की भावना भी तो समाई हुई है। अत: यह तो योग-साधना (Meditation) के विरुद्ध ही प्रक्रिया है।

इसका स्पष्ट अर्थ तो यह हुआ कि योग या ध्यान से जो लाभ होते हैं, वे सभी लाभ तो इस प्रक्रिया से होंगे नहीं, बल्कि उनके विपरीत ही अब अनुभव होगा। दूसरें शब्दों में, लाभ की बजाय हानियाँ ही होंगी। योग से यदि स्वास्थ्य अच्छा होता है तो अब इस पर-चिन्तन और दोष-दर्शन से स्वास्थ्य बिगड़ेगा ही। योग (Meditation) से यदि मन में शान्ति मिलती है तो इस अवगुण दृष्टि से अशान्ति ही होगी। योग से यदि देह से न्यारापन और हल्कापन अनुभव होता है तो इससे भारीपन अनुभव होगा। योग से यदि उड़ती कला प्राप्त होती है, आत्मा में बल भरता है और पवित्रता आती है तो इस पर-चिन्तन से पतन होगा और गिरती कला होगी तथा आत्मा में कमज़ोरी आएगी। इसलिए ही कहा गया है कि पर-चिन्तन पतन की जड़ है और आत्मा-चिन्तन उन्नति की सीढ़ी है।



आध्यात्मिक लक्ष्मण रेखा

भारतवर्ष में लक्ष्मण रेखा का महत्व काफी प्रसिद्ध है क्योंकि रामचरित मानस के अनुसार जब सीता जी ने पंचवटी में रहते हुए, उनके बचाव के लिए लक्ष्मण जी द्वारा खींची हुई लक्ष्मण रेखा पार की तभी रावण उन्हें हर ले गया फलस्वरूप उन्हें अपार कष्ट सहने पड़े और राम रावण युद्ध भी हुआ। वास्तव में लक्ष्मण रेखा का एक गहन आध्यात्मिक रहस्य है और उसके अनुसार जब हम जीवात्माएँ ज्ञान सागर परमपिता परमात्मा निराकार शिव (जिन्हें हम स्नेह से बाबा शब्द से सम्बोधित करते हैं) द्वारा खींची हुई मर्यादाओं की रेखाओं को पार करते हैं जब हमारी बुद्धि रूपी सीता को देहअभिमान रूपी रावण हर लेता है जिस कारण हम दुःख व अशान्ति के चक्रवात में फंसते चले जाते हैं। अत: आज हम रूहानी ब्राह्मण परिवार के लिए प्रात: काल से रात्रि तक की जो मर्यादाएँ बाबा ने बताई हैं, उनकी चर्चा करेंगे:—

स्मृति

परमप्रिय बाबा ने हमें बताया है कि हमारी सारी अवस्था की नींव हमारी स्मृति पर है। अत: उक्ति प्रचलित है **'जैसी स्मृति वैसी स्थिति'** हमारी स्मृति जब रूहानी हो जाती है तब हम देवता बन जाते हैं और जब वह दैहिक होती है तब असुर बन जाते हैं। अत: बाबा द्वारा आध्यात्मिक ज्ञान, योग, धारणा व अलौकिक सेवा का स्वाभाविक फल हमारी रूहानी स्मृति है। रूहानी स्मृति से तात्पर्य यह है कि हम स्वयं को निरन्तर इस शरीर से न्यारी **'बिन्दु रूप आत्मा समझें'** जिसका मूलरूप ज्ञान, प्रेम, शान्ति, आनन्द, शक्ति व पवित्रता स्वरूप हैं जो सर्वशक्तिमान् पतित पावन परमप्रिय शिव बाबा की संतान हैं, परमधाम के निवासी हैं। ब्रह्मा तन द्वारा शिव बाबा की गोद लेने के पश्चात् मुझ आत्मा का अब रूहानी जन्म हुआ है। यह वास्तविक ब्राह्मण जन्म है अर्थात् अब देह-सहित देह के सर्व सम्बन्धों से बुद्धि की आसक्ति टूट कर केवल एक बाबा में ही है यही मरजीवा जन्म का लक्षण है। मेरा वर्तमान लक्ष्य फरिश्ता अर्थात् प्रकाशमान काया वाला बनना है व दिव्य गुणों से सुशोभित होना है। इस प्रकार, हमारी स्मृति की लक्ष्मण रेखा में वर्तमान समय आत्मा से सम्बन्धित उपरोक्त बातें ही रहनी चाहिए। यही स्वचिंतन का रूप है जिसे बाबा उन्नति की सीढ़ी बताते हैं। इसके निरन्तर अभ्यास से कुछ समय में ही बुद्धि दैहिक सम्पर्क,

सम्बन्ध अथवा वस्तु से उपराम हो जाती है व पुरुषार्थी सहज ही अलौकिकता का अनुभव करता है।

दृष्टि

जैसे-जैसे हमारा स्वभाव रूहानी स्मृति का बनेगा हमारी दृष्टि भी रूहानी बनती जावेगी। रूहानी दृष्टि से तात्पर्य है कि किसी भी व्यक्ति को देखते हुए हमारी दृष्टि उसकी बिन्दु रूप आत्मा पर ही पड़े व शरीर गौण हो जावे। उसके प्रति अपना व्यवहार ठीक रखने के लिए हमें उसके संस्कार-स्वभाव को तो यथार्थ रूप से आँक कर उसके प्रति अपना रुख अपनाना पड़ेगा किन्तु फिर भी विशेष रूप से हमारी दृष्टि उसके गुणों पर अवश्य पड़े। यह तो दैनिक अनुभव की बात है कि हमारी श्रद्धा अथवा प्रेम उसी व्यक्ति से होता है जिसके गुणों का प्रभाव हमारे मन पर होता है।

अत: प्रत्येक व्यक्ति के प्रति रूहानी दृष्टि रखने से हमारी मनोवृत्ति पर किसी के विषय में दुष्प्रभाव नहीं पड़ पावेगा और हमारा व्यवहार हर व्यक्ति के प्रति सम रह सकेगा और मन पर किसी प्रकार का बोझ न होने के कारण हमारे योग की अवस्था भी स्वाभाविक होगी। जब तक किसी भी व्यक्ति के प्रति दुर्भावना रहती है तब तक न चाहते हुए भी उसके प्रति कटु विचार उठते रहते हैं जो मनसा में काँटे सदृश्य चुभते हैं और खुशी की स्वाभाविक स्थिति नहीं बनने देते। हमारा व्यवहार भी उस आत्मा के प्रति सामान्य नहीं रह सकता बल्कि व्यवहार में प्रेम के स्थान पर शुष्कता या रूखापन आ जाता है। जब किसी पुरुषार्थी की किसी अन्य व्यक्ति के प्रति ऐसी मानसिक स्थिति हो तो थोड़ा पुरुषार्थ करके भी, जब कभी उसका विचार आये उसे तुरन्त बिन्दु रूप समझ कर, परमधाम में बाबा के पास प्रकट (Emerge) कर दे तथा उसके गुणों का कुछ चिन्तन करें तो थोड़ा समय में ही उसकी मनसा सामान्य स्थिति को प्राप्त हो जायेगी। हमारी दृष्टि की मर्यादा रूहानी व गुण ग्राही है; अत: जहाँ दृष्टि इसके विरूद्ध जाये तुरन्त उसे रोकना चाहिए।

वृत्ति

वास्तव में बाबा के ज्ञान का अभिप्राय ही हमारे मन की वृत्ति को बाह्यमुखी अन्तर्मुखी करने का है। जब मन की वृत्ति अर्न्तमुखी होती है तब पुरुषार्थी को स्वयं की कमियाँ नज़र आती हैं और तब अपने ऊपर ध्यान देकर उन्हें ठीक

करता है। स्मृति प्राय: परमधाम में रहने से उसे अन्य आत्माओं से भाई-भाई का यथार्थ सम्बन्ध अनुभव होता है जिससे उसके मन में उनके प्रति स्नेह रहता है व स्वयं का कर्तव्य-बोध होता है। यह तो जीवन का साधारण अनुभव है कि जहाँ प्रेम होता है वहाँ त्याग व सेवा स्वाभाविक रूप से होती है। अत: जैसे-जैसे पुरुषार्थी की अन्तर-आँखें खुलती हैं उसमें स्वयं के परिवर्तित जीवन, अपूर्व आनन्द तथा अतीन्द्रिय सुख को अन्य भाइयों को भी बांटने की प्रबल इच्छा होती है। इससे अन्य व्यक्तियों के प्रति उसमें रहम की अथवा उनके कल्याण की शक्तिशाली भावना जाग्रत होती है व धीरे-धीरे उसके रोम-रोम में छा जाती है। वास्तव में यही कल्याणकारी वृत्ति का द्योतक है जो उसे निरन्तर अन्य आत्माओं के कल्याण के लिए प्रेरित करती रहती हैं। इस प्रकार बाबा ने हम रूहानी ब्राह्मणों की वृत्ति की मर्यादा रखी है 'कल्याणकारी'। जब कभी वृत्ति का रुख इसके विरुद्ध हो जाये, तुरन्त यथार्थ स्मृति एवं दृष्टि के आधार पर इसे ठीक कर लेना चाहिए।

संकल्प

रूहानियत का स्वाभाविक स्वरूप बनाने के लिए पुरुषार्थी को स्वयं के संकल्पों पर सबसे अधिक ध्यान देना होगा। वास्तव में बाबा ने हमें बताया है कि हमारी शक्ति का स्रोत संकल्प ही हैं। यदि हम एकाग्रचित होकर, अपनी संकल्प शक्ति को किसी ओर लगाते हैं तो वह कार्य सहज ही सफलता को प्राप्त हो जाता है। प्राय: असफलता तब मिलती है जब संकल्पों-विकल्पों के प्रवाह के कारण व्यक्ति स्वयं के निर्धारित लक्ष्य के प्रति एकाग्रचित्त होकर चिन्तन नहीं कर पाता। इसका मूल कारण है — मन की चंचलता। जब व्यक्ति का लगाव विभिन्न व्यक्तियों व वस्तुओं में होता है तो उसका मन कभी किसी ओर खिंचता है व कभी-कभी दूसरे व्यक्ति अथवा वस्तु की ओर। फलस्वरूप, वह एकाग्र नहीं हो पाता, भटकता रहता है, अत: उस विषय पर स्वस्थ चिन्तन न होने कारण उसको उचित रीति से करने की विधि नहीं आ पाती। सफलता कैसे मिले? अत: बाबा ने बताया है कि मरजीवा ब्राह्मण बनने के बाद हम बच्चों का संकल्प केवल अन्य आत्माओं को नई दैवी सृष्टि का अधिकारी बनने की ओर ही चलते रहना चाहिए। यदि हम स्वयं के संकल्पों की इन मर्यादा को धारण करके, अपने ऊपर निरन्तर जाँच (Checking) करके, संकल्पों को मोड़ कर इस ओर लगा सकें, तो थोड़े समय में ही इसका विशेष लाभ अनुभव में

आ सकता है। लेकिन यह तो तभी हो सकता है जब हम योग के तीव्र पुरुषार्थ द्वारा स्वयं का सम्पूर्ण स्नेह 'एक शिव बाबा व उनकी अलौकिक सेवा' दूसरा न कोई, से जोड़ लें। बाप-दादा के फरमान अनुसार ट्रस्टी (Trustee) बनकर तो अवश्य अपनी प्रवृति संभालनी है किन्तु उसे स्वयं की प्रवृत्ति समझकर नहीं बल्कि बाप दादा ने अपने बच्चों को हमें संभालने व बाप समान बनाने हेतु दिया है, यह समझ कर चलायें। इसका परिणाम यह होगा कि हम उसे संभालेंगे तो पूरे उत्तरदायित्व से किन्तु आसक्ति लगाव, राग, आकर्षण या खिंचाव के बिना जिससे बुद्धि में कोई भारीपन महसूस नहीं होगा। हम तो केवल निमित्त हैं, बैक बोन (Back-bone) तो सर्वशक्तिवान् बापदादा साथ-साथ हैं ही। साथ-साथ हमारा लक्ष्य उन्हें रूहानी सेवाधारी बनाने का अवश्य रहेगा। ताकि वे नई सृष्टि के अधिकारी बन सकें।

मर्यादा-पालन से प्राप्ति

इस प्रकार यदि हम देखें तो हमारी आन्तरिक स्थिति की मर्यादा है रूहानी स्मृति या स्वचिन्तन, रूहानी दृष्टि, कल्याणकारी वृत्ति व अन्य आत्माओं को नई सृष्टि के मालिक बनाने वाले संकल्प। जब कभी इन चारों में से कोई भी अंग उपरोक्त मर्यादा का उल्लंघन करे, हमें ध्यान देकर उसे तुरन्त ठीक कर लेना चाहिए। यदि हम इन चारों अंगों पर उचित ध्यान देकर मास, दो मास भी चल सकें तो अवस्था में जो आश्चर्यजनक परिवर्तन होगा, वह वास्तव में अनुभव योग्य है। ऐसा होने से पुरुषार्थी की बुद्धि परमप्रिय शिव बाबा के साथ स्वतः ही लगी रहती है तथा बुद्धि की लगन, रूचि, लगाव अथवा आकर्षण केवल एक उसी ओर रहता है। आत्मा स्वयं को शरीर से सर्वथा न्यारी अनुभव करती रहती है तथा स्वयं को करावनहार व शरीर को कारोबार चलाने वाला केवल विभिन्न साधन समझती है, धीरे-धीरे कार्य करते हुए भी प्रकृति के स्वाद व रस के आकर्षण से मनोवृत्ति बिल्कुल निरासक्त व न्यारी हो जाती है। तब उसे जैसे सोना व मिट्टी एक सदृश्य लगता है। यह लक्षण उस अन्तिम स्थिति का है जब आत्मा का हिसाब-किताब शरीर से चुक्तु होने वाला होता है। वास्तव में यही बेहद की वैराग्यवृत्ति, उपराम अवस्था, साक्षीपन, न्यारी व स्थाई अवस्था का स्वरूप है। ऐसी की स्वाभाविक स्मृति आती रहती है। इस पुरुषार्थ से कभी डैड साइलेन्स (Dead Silence) अथवा बीजरूप स्थिति का खिंचाव व कभी दिव्य सजा-सजाया भविष्य जीवन की स्मृति का आकर्षण होता है। इस पुरानी

दुनिया की स्मृति गायब हो जाती है। ऐसा बार-बार अनुभव होता है, जैसे अभी-अभी यहाँ और अभी-अभी वहाँ अर्थात् एक पाँव परमधाम में व दूसरा सतयुगी राजधानी में। स्थूल वतन से तो बुद्धि का लंगर जैसे उठ ही जाता है। ऐसी अवस्था प्राप्त आत्मा का प्रत्येक बोल अन्य आत्माओं में रूहानी नशा, उमंग व उत्साह भरने वाला होता है अथवा उसका एक-एक बोल महावाक्य होता है स्वयं में अर्जित शक्ति व गुणों के आधार से, वह दूसरी आत्माओं में परिवर्तन की प्रेरणा के बीज बोने वाला होता है तथा निर्बल को शक्ति, भिखारी को दान व भक्त आत्मा में प्रभु-मिलन का ज्ञान का बीज बो देता है व उन्हें सम्पन्न बना देता है। प्रत्येक कर्मेन्द्रिय शीतल व महान् हो जाती हैं तथा उनके कर्मों में रूहानी दिव्यता व अलौकिकता आ जाती है। वह व्यक्ति के संकल्पों व भावनाओं को ठीक से पकड़ लेता है व उसे सहज सन्तुष्ट कर सकता है उसकी परख शक्ति निखर जाती है। सहनशक्ति इतनी बढ़ जाती है कि बड़ी-से-बड़ी बात भी उसे छोटी लगती है। क्योंकि नथिंग न्यू (Nothing New) की धारणा होती है और उसे मार्ग प्रदर्शना मिल जाती है जिससे सफलता स्पष्ट दिखाई दे जाती है। ऐसी आत्मा अपनी अर्जित शक्ति के भण्डार के आधार पर कोई भी जिम्मेवारी सहज संभाल लेती है। आने-जाने की निरंतर तीव्र गति के कारण उचित समय पर उचित कार्य की जैसे टचिंग हो जाती है जिससे उसे कोई भी आवश्यक कार्य करना नहीं भूलता। अत: दूसरों को तो ऐसा महसूस होता है जैसे ये बहुत कार्य कर रहें हैं परन्तु वह स्वयं तो बीजरूप, साकीपन व साक्षीपन की स्थिति में मगन रह हल्कापन महसूस करता है। तुम ही संग उड़ूँ, तुम्हीं संग बैठूँ, गाऊँ, नाचूँ, खाऊँ पीऊँ के बढ़ते हुए अभ्यास से सर्वशक्तिवान् बाबा का सदा साथ अनुभव होता है। अत: उसकी सर्व इच्छाएँ उनसे पूर्ण होने के कारण 'इच्छा मात्रम् अविद्या' भी हो जाती है। इस प्रकार रूहानी स्मृति के गहन अभ्यास द्वारा पुरुषार्थी का आध्यात्मिक स्तर इतना उठ जाता है कि वह व्यक्त शरीर में रहते भी अव्यक्त स्थिति (प्रकाशवान काया) का अनुभव करता है। सम्पूर्ण स्थिति अर्थात् फरिश्तेपन के समीप पहुंचने के यही लक्षण हैं मानों आत्मा ने योगबल से इस शरीर से अपना हिसाब-किताब चुक्ता कर लिया है। और अब वह अव्यक्त होना ही चाहता है।



योगी और सहयोगी

"योगी' शब्द का उच्चारण करने से सबसे पहले तो हमारे मन पर वह चित्र उभर आता है जिसमें दिखाया गया है कि प्रकाश एवं शक्ति की एक तीव्र धारा योगाभ्यासी पर उतर रही है और उसे योग से चकाचौंध अथवा सराबोर करके दसों दिशाओं में प्रकाश एवं पवित्रता का संचार करते हुए, सारे वातावरण में एक नव-चेतना, एक दिव्यता और एक अलौकिकता प्रकीर्ण करती हुई, अविरल गति से शान्ति फैलाती हुई चली जा रही है। इस चित्र में योगाभ्यासी पर दृष्टि डालने से लगता है कि योग के इस प्रवाह में वह अपने पार्थिव देह की सुध भूल चुका है और अपने लाल की लाली में स्वयं भी लाल हो गया है। अब उसे प्रकाशमय नेत्र, प्रकाश ही का अनुभव और प्रकाश ही की ईश्वरीय गोद अथवा प्रकाश ही का ओढ़ना मिला हुआ है जिसमें वह आन्तरिक सुख में विभोर होकर उस सुख ही में रमा हुआ है। उसकी वृत्ति, उसकी स्मृति, उसकी दृष्टि, उसकी काया – सभी में ईश्वरीय शक्ति और ज्योति ने एक नया जीवन, एक नया रस, और एक नई स्फुरण भर दिया है कि जो एक सुहावनी बाढ़ की तरह उसके भीतर और बाहर उसमें आत्मसात और आलिंगन कर रहा है।

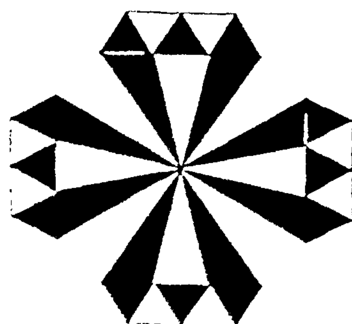
यह चित्र मन को इतना भला लगता है और इतना प्रभावशाली कि इस चित्र के कुछ क्षण मन पर अंकित रहने से मन स्वयं को उस अनुभूति की स्थिति में पाता है। परन्तु जब हम सोचते हैं कि मनुष्य को व्यवहार क्षेत्र में भी तो पग धरने होते हैं तब हमारे सामने योगी का एक ऐसा चित्र प्रगट हो जाता है जो एक फरिश्ते की न्यायी एक उज्वल प्रकाश का बना हुआ है कि जिस प्रकाश में एक चुम्बकीय शक्ति भी है, एक अनोखी शीतलता भी और एक उत्साह भरने वाली उष्णता भी तथा अपावन को पावनता का स्पर्श देने वाली एक विमलता भी। इस चित्र में योगी के नेत्र, कर्ण, मुख इत्यादि दिखायी तो देते हैं परन्तु जैसे अतीत काल में प्रसिद्ध ढाका की बारीक मलमल के पीछे किसी का चेहरा थोड़ा अस्पष्ट-सा दिखाई दिया करता होगा वैसे ही यह कर्मयोगी मानो प्रकाश की एक बारीक-सी ओढ़नी ओढ़े हुए दिखाई देता है। किसी को ऐसा दिखाई न भी देता हो तो भी स्वयं में वह एक अजीब-सी अंगड़ाई, प्रभु-प्यार की एक मीठी-सी कसक, अपने प्रियतम के प्रति एक समर्पण भाव, अपने कर्तव्य के प्रति एक निष्ठा और अन्य के प्रति करुणा भाव का अनुभव करते हुए ऐसा महसूस

करता है कि दिनों दिन वह अपने चहुं ओर आकाश की बजाय प्रकाश में जाता जा रहा है और उसका शरीर स्थूल की बजाय ट्रांस-लाईट के जैसे होता जा रहा है।

ऐसा जो योगी है, उसे किसी भी अच्छे कार्य में हाथ डालने में खुशी होती है। वह पात्र को आनन्द, शान्ति, शक्ति के ईश्वरीय वरदानों से लाभान्वित करने में गद्‌गद अनुभव करता है क्योंकि दूसरों का आशीर्वाद प्राप्त करने के अतिरिक्त उसे एक आन्तरिक आह्लाद का अनुभव होता है।

तुम्हारे जानवर से प्यार है तो स्वयं तुमसे तो बहुत प्यार होगा ही। जब एक जानवर और मनुष्य के लिए लोग कह देते हैं तो प्रभु-प्यार, जिससे प्यार की और कोई ऊंची सीमा नहीं, के लिए तन, मन, धन से उद्गार व्यक्त करना अर्थात् ईश्वरीय सेवा में हाथ बटाना तो स्वाभाविक ही है।

सभी ईश्वर-विश्वासी लोग परमात्मा को अपना माता-पिता, सखा, स्वामी और सर्वस्व मानते हैं। तब सोचने की बात है कि सेवक अपने स्वामी के लिए, सखा अपने सखा के लिए तथा हर कोई अपने घनिष्ठ सम्बन्धियों के लिए संसार में क्या कुछ नहीं करता। अत: योग जो परमात्मा से टूटे हुए सम्बन्धों को फिर से जोड़ने का नाम है, उसमें स्थित होने वाला व्यक्ति यदि तन, मन, धन से प्रीत की रीति निभाना नहीं जानता तो वह अभागा है। योग की जिस स्थिति का हमने प्रारम्भ में वर्णन किया है, उस स्थिति में आत्मा को जिस ईश्वरीय प्यार का अनुभव और जिन अनमोल खज़ानों की प्राप्ति होती है, उनके बदले में वह मनुष्य, यदि वह विश्व का महाराजा भी हो, अपने सब खज़ाने प्रभु-अर्पण करने से भी नहीं चुका सकता। परन्तु यदि योग की दूसरी स्थिति को भी हम लें अथवा योग की प्रारम्भिक भूमिका ही पर हम विचार करें तो उससे मनुष्य बुरे कर्मों से जो मुक्ति पाता है, विकारों और वासनाओं की कैद से जो छुटकारा प्राप्त करता है और तन, मन तथा धन को बुराई के धन्धों में लगाने से जो छूट पाता है, उसका मोल भी कोई नहीं चुका सकता। तन, मन, धन को ईश्वरीय सेवा में प्रयोग करके सहयोग देना तो गोया अपने ही योग में बल भरना और उन्नति करना है। और हमें यह मालूम रहे कि ईश्वरीय कार्यों में जो सहयोग देता है, स्वयं ईश्वर उसको सहयोग और योग देता है। अत: 'पवित्र बनो, योगी बनो और सहयोगी बनो'।



आध्यात्मिक पुरुषार्थ में आने वाले विघ्नों को कैसे पार करें?

योगेश्वर परमपिता परमात्मा शिव ने प्रजापिता ब्रह्मा द्वारा समझाया है कि आध्यात्मिक पुरुषार्थ के मार्ग में अथवा योगाभ्यासी के सामने मुख्य रूप से आठ प्रकार के विघ्न आते हैं। वह विघ्न ये हैं – 1. अलबेलापन 2. संशय 3. व्यर्थ संकल्प अथवा बुरे संस्कारों का उदय 4. विकट परिस्थितियाँ अथवा समस्यायें 5. थकावट, उत्साह की कमी अथवा अरुचि 6. पूर्व कर्मों का हिसाब-किताब तथा दूसरों के स्वभाव से टकराव 7. मानसिक दण्ड और 8. व्याधि।

चाहे कोई भी व्यक्ति हो, वह कितना ही तीव्र वेग वाला पुरुषार्थी क्यों न हो, उसे इन विघ्नों से पार अवश्य होना पड़ता है। किसी के सामने एक विघ्न पहले आता है तो दूसरे के सामने दूसरा, परन्तु ये विघ्न आने अवश्य हैं। अत: जो कोई भी आध्यात्मिक उन्नति के शिखर पर पहुँचना चाहता है, उसे इन विघ्नों को पार करने की विधि जाननी चाहिये। परमपिता परमात्मा शिव ने सभी मनुष्यात्माओं के कल्याण के लिए इन्हें सहज रीति से पार करने की युक्तियाँ बताई हैं। अब हम एक-एक विघ्न का और साथ-साथ उसे पार करने की विधि का उल्लेख करेंगे।

तीन मौलिक बातों की स्मृति

इन विघ्नों को लाँघने की विधि को जानने से पहले हमें तीन मौलिक बातों को सदा अपनी स्मृति में रखना चाहिये। परमपिता परमात्मा शिव ने समझाया है कि यदि किसी समस्या के बारे में हम पहले से ही जानते हों कि वह हमारे सामने आयेगी तो उसके लिए हम पहले से ही तैयार रहते हैं और उसके आ जाने पर हम ज्यादा घबराते नहीं हैं क्योंकि उसका हमें पहले से ही पता होता है। अत: एक बात तो हमें यह याद रखनी चाहिये कि ये विघ्न आयेंगे। हमारे मार्ग में तूफान, [illegible], ऊँच-नीच, चढ़ाई-उतराई इत्यादि अवश्य आयेंगे। दूसरी यह बात याद रखनी चाहिये कि ये हमारी ईश्वरीय विद्या अथवा योग-विद्या के अर्जन में [illegible] परीक्षा-पत्र के समान हैं। विद्यार्थी परीक्षा को पार करके ही तो आगे बढ़ता है और वह जितना आगे बढ़ता है, अगली कक्षा में उसके सामने उतने ही अधिक [illegible] परीक्षा-पत्र अथवा प्रश्न रखे जाते हैं। उनको पार करने से ही तो [illegible] है और [illegible] में भी वृद्धि होती है। अत: इन विघ्नों के [illegible]

से पार करना चाहिये और इन्हें मार्ग की यथार्थता के चिह्न समझना चाहिये, जैसे कि सड़क पर जाता हुआ कोई व्यक्ति फ़ासला इंगित करने वाले पत्थर (Mile Stone) को देखकर समझता है कि मैं आगे बढ़ रहा हूँ। तीसरी बात यह है कि सदा इसी निश्चय में स्थित रहना चाहिये कि सर्व-समर्थ परमपिता परमात्मा की मार्ग-प्रदर्शना मुझे प्राप्त होने से मैं इन्हें अवश्य पार कर ही लूँगा।

१. अलबेलापन

पुरुषार्थ में सबसे अधिक हानिकारक बात मनुष्य का अपना ही अलबेलापन है। जब मनुष्य अपने मन-वचन-कर्म पर ध्यान (Attention) नहीं देता और अपनी स्थिति या अवस्था की जाँच (Checking) नहीं करता-करवाता, तब उसका पुरुषार्थ ढीला पड़ जाता है, अभ्यास टूट जाता है, प्रगति रुक जाती है और परिणाम यह होता है कि उसका मन सांसारिक भोगों की ओर झुक जाता है या तो वह योग एवं नियमों के प्रति उदासीन हो जाता है। अत: अलबेलेपन को अपने मन में कभी भी नहीं घुसने देना चाहिये।

छोटी-छोटी भूलों को छोटी अथवा हल्की-सी बात मानकर छोड़ देना, अर्थात् उन्हें मामूली बात मानकर भूलें करते रहना भी अलबेलापन है। योग साधन में लापरवाही करना, व्रतों को अधूरा छोड़ देना, कार्य बिगड़ जाने पर भी अपने को सुधारने तथा कार्य को सँवारने के लिए लग्न और तत्परता से काम न करना – ये अलबेलापन है जो कि बहुत ही हानिकारक है।

हमें सात्विक बनाने वाले नियमों को किसी हालत में भी नहीं छोड़ना चाहिये और अपनी पवित्रता की रक्षा के लिए सदा दृढ़ संकल्प धारण करना चाहिये। किसी के संग में, किसी के कहने पर, हँसी या विनोद में, किसी छोटी-सी परिस्थिति में अपने जीवन की उच्च धारणाओं को छोड़ देना, किन्हीं भूलों अथवा अनियमितता (Lapses) को छोटा मानकर चला देना – आगे जाकर बहुत ही घातक सिद्ध होता है। अत: छोटी बात को छोटा नहीं समझना चाहिये, बल्कि दूसरों के संग में रहते हुए भी हमें अपने धर्म से नहीं गिरना चाहिये, अपनी मान्यताओं को नहीं छोड़ देना चाहिये और दूसरों के कथन अथवा आग्रह के सामने हिम्मत हारकर या लज्जा एवं संकोच-वश अपने असूलों को ढीला नहीं कर देना चाहिये। इसी प्रकार घर में, दफ्तर या दुकान में, यात्रा या यात्रा में हमें योगाभ्यास को, स्वभाव की दिव्यता को, उठने-बैठने तथा नित्य के पुरुषार्थ को भी नहीं छोड़ देना चाहिये।

ऐसा नहीं सोचना चाहिये कि – "कल से अमुक दैवी गुण धारण करना शुरू करूँगा........ अमुक परिस्थिति पार हो जाय तब से योगाभ्यास के लिए समय निकालूँगा, फ़लाँ अवसर के आने पर मैं अमुक पुरुषार्थ प्रारम्भ करूँगा.....।"

कल किसने देखा है? कौनसा श्वास अन्तिम श्वास होगा – यह क्या पता है? अत: मनुष्य को यह सोचना चाहिये कि – "यदि अभी मेरे प्राण निकल जायें, क्षण में, पल में, घड़ी में काल मुझे ले जाय तो मेरी क्या स्थिति होगी, क्या गति होगी और क्या वृत्ति तथा स्मृति होगी? इस प्रकार मनुष्य को चाहिए कि हर घड़ी को अपनी अन्तिम घड़ी समझे। आज का संसार ही ऐसा है कि मनुष्य के हृदय की गति अचानक ही रुक जाती है, अचानक ही दुर्घटना हो जाती है, कोई रोग घेर लेता है और कोई आपदा सिर पर आ बनती है। अत: अपने जीवन को ऊंचा उठाने के लिए, अपने भविष्य को उज्वल बनाने के लिए सदा वर्तमान मे अच्छे संकल्प, श्रेष्ठ कर्म तथा तीव्र पुरुषार्थ को नहीं छोड़ना चाहिये। यह तब हो सकेगा जब हम इसी जीवन को सृष्टि-चक्र में अपना अन्तिम जीवन मानेंगे और हर घड़ी के बारे में यह सोचेंगे कि हो सकता है कि यह इस जीवन की अन्तिम घड़ी हो। अब कलियुगी सृष्टि का महाविनाश निकट है और इस रहे हुए समय मे ही, अर्थात् इस पुरुषोत्तम युग में हमें नर से श्री नारायण और नारी से श्री लक्ष्मी बनने का उद्यम करना है।"

इसके अतिरिक्त, हमें यह भी याद करना चाहिये कि यदि इस थोड़े-से समय में हम अच्छा पुरुषार्थ करेंगे अर्थात् नियमों का पूर्णत: पालन करेंगे तथा अच्छी प्रकार से योगाभ्यास करेंगे तो सदा के लिए दु:ख-बन्धन से छूट जायेंगे और मुक्ति तथा स्वर्गिक सुख को प्राप्त करेंगे और यदि हमने अभी आलस्य किया, अलबेलेपन से पुरुषार्थ पर ध्यान न दिया तो न केवल धर्मराजपुरी में अपने पूर्वकाल में किये विकर्मों के कारण दण्ड भोगना पड़ेगा, बल्कि हर कल्प हमारी इस हानि तथा निम्नावस्था की पुनरावृत्ति होगी, क्योंकि इस सृष्टि-चक्र की कल्प-कल्प पुनरावृत्ति होती है। इस प्रकार, ज्ञान के इन रहस्यों की स्मृति से अलबेलापन [illegible] छोड़ जायेगा।

योग-दर्शन में पातंजलि ने भी विघ्नों का उल्लेख करते हुए इन विघ्न को '[illegible]' नाम दिया है। परन्तु इसे पार करने के लिए उन्होंने कोई विशेष साधन नहीं बताये न तो उसने धर्मराजपुरी में मिलने वाले दण्ड की चर्चा की है, न [illegible] स्वर्गिक सुख की, न ही आने वाले महाविनाश की, न [illegible] के [illegible] के [illegible] की। उन समय तो सृष्टि के महाविनाश या [illegible] के [illegible]

ही नहीं थी, क्योंकि ऐसा समय तो अब आया है।

२. संशय

ज्ञान के किसी सिद्धान्त में, योग मार्ग की उपादेयता में अथवा अपनी योग्यता एवं सामर्थ्य में अथवा अपने मार्ग-प्रदर्शक में संशय हो जाना तो बहुत ही बड़ा विघ्न है। गीता के भगवान् ने स्पष्ट ही कहा है कि – 'संशयात्मा विनश्यति।' पातंजलि ने भी संशय को विघ्न में गिनती किया है। "श्रद्धावान लभते ज्ञानम्" – यह वचन भगवान् ने श्रद्धा का महत्व दर्शाने के लिए कहा है। श्रद्धा से मनुष्य गुण ग्रहण करता है, कुछ सीखता है और आगे बढ़ता है। संशय वाला मनुष्य अवगुण अथवा दोष-दर्शन करता है और इससे उसकी मानसिक स्थिति बिगड़ जाती है। अत: निश्चय को योग के चार स्तम्भों में से एक स्तम्भ माना गया है। परन्तु निश्चय का अभिप्राय अन्ध-श्रद्धा नहीं है। मनुष्य को अपने विवेक का प्रयोग करना चाहिये, परन्तु किसी द्वारा कान भरे जाने पर, किसी द्वारा अवगुण दर्शाये जाने पर, अपने मन की मलीनता के कारण किसी बात में संशय नहीं करना चाहिये। कई बातें ऐसी होती हैं कि हमारी वर्तमान समय की कलुषित अथवा भ्रान्त वृत्ति या दृष्टि के कारण अथवा हमारे अल्प ज्ञान तथा हमारे अनुभव की कमी के कारण हमें ग़लत मालूम पड़ती हैं, परन्तु जब हमने अन्य सिद्धान्तों को सही पाया है, पहले गुण भी देखे हैं तो अब धीरज धरकर अनुशीलन करना चाहिये, क्योंकि यों ही किसी संवेग-वश संशय हो जाने से हमारे ही पुरुषार्थ में बाधा पड़ेगी। यदि हमारी अवस्था ठीक रहेगी तो हम सब-कुछ ठीक कर ही लेंगे, परन्तु यदि संशय में पड़कर हम ही ज्ञान-ध्यान, नियम-कर्म छोड़ देंगे तो गोया अपने ही पतन के लिए खड्डा खोदने का काम करेंगे।

फिर भी यदि हम पर संशय का वार होता है तो हमें स्पष्ट शब्दों में अपनी स्थिति बतलाकर उसका समाधान ले लेना चाहिये। इसके अतिरिक्त अच्छा होगा यदि हम ईश्वरीय-सत्संग को न छोड़ें और ज्ञान की कक्षा में नित्य-प्रति सम्मिलित होते रहें, क्योंकि संशय का निवारण भी तो ज्ञान के द्वारा ही होगा और ज्ञान के स्थान पर तथा ज्ञानियों के संग में यदि हम पहुँचेंगे ही नहीं तो हमारे संशय का निवारण कैसे होगा?

फिर भी यदि संशय हमारे मन से नहीं जाता तो हमें यह सोचना चाहिये कि – "पवित्र बनना तो अच्छा ही है ना? परमात्मा की स्मृति में स्थित होने का अभ्यास करना तो लाभप्रद ही है न? अच्छे कर्म का तो अच्छा ही फल मिलेगा?......"

ः यदि किसी सिद्धान्त से हम पूर्णत: सहमत नहीं भी हैं तो फ़िलहाल उसे छोड़

देना चाहिये और पहले हमें बाकी सिद्धान्तों के आधार पर अपने जीवन को श्रेष्ठ बनाने के पुरुषार्थ में लग ही जाना चाहिये। इसमें तो कोई हानि नहीं है। यदि ऐसा करने के लिए भी हमारा मन नहीं मानता तो समझना चाहिये कि हम पर माया का ज़बर्दस्त वार हुआ-हुआ है और उससे बचाव के लिए तो ज्ञान-कक्षा में नित्य-प्रति जाना और भी अधिक ज़रूरी है। अत: इसके कारण से ज्ञान एवं योग को छोड़ना भूल है, इन्हें अपनाने में ही बुद्धिमत्ता है।

३. व्यर्थ संकल्प अथवा बुरे संस्कारों का उदय

वास्तव में मन की चंचलता का कारण मनुष्य के पुराने, अशुद्ध संस्कार ही हैं। जब वे वासना, विषय-भोग की इच्छा तथा उद्वेग की लहर का रूप धारण करते हैं तब पुरुषार्थी परेशान हो जाता है। इन्हीं के कारण से अर्जुन ने कहा – "भगवन्! यह मन बड़ा उपद्रवी है, वेगवान् वायु के समान है।" परन्तु भगवान् ने क्या कहा है? यही कि तू अभ्यास और वैराग्य द्वारा इसे वशीभूत कर! भगवान् के महावाक्य है कि – "हे वत्स! तू इनसे युद्ध कर।"

अत: जब-कभी मनुष्य के मन में अशुद्ध संस्कारों का वेग आता है तो उसे चाहिए कि उनके कारण से परेशान या निराश न हो, बल्कि उनसे ज्ञान-गदा द्वारा, योग रूपी कवच पहन कर युद्ध करे। आख़िर इन संस्कारों को शुद्ध तो करना है ही, क्योंकि यदि ऐसा पुरुषार्थ नहीं किया जायेगा तब तो दु:ख सदा बना ही रहेगा और ये अधिक पतन की ओर ले जायेंगे। अत: बारम्बार उस महा दु:ख को स्वीकार करने की बजाय तो अभी इनसे युद्ध करके इन्हें मिटा डालने ही की थोड़ी-सी असुविधा को स्वीकार कर लेना उत्तम है। इन संस्कारों के जागृत होने से तो हमें पता चलता है कि अभी तक हमारा मन मैला है, उसमें अमुक-अमुक विकारों के बीज हैं। अत: इन्हें देखकर तो हमें और भी अधिक पराक्रम से इनके साथ युद्ध ठान लेना चाहिये। बजाय इसके कि हम पुरुषार्थ रूपी धनुष को धरा पर डालकर, घुटने पर कोहनी रखकर, ठोडी के नीचे हाथ धर के बैठ जायें!

ही के मत पर चल रहे हैं जिसे पराजय ने कभी छुआ नहीं और जिससे लोग विजय का सौभाग्य मांगते हैं। अत: हमारे संस्कार चाहे कितने ही पक्के या कड़े, क्रूर या गन्दे हों, भगवान् की स्मृति से इनका सारा कल्मिष धुल जायेगा।'' तभी तो भगवान् ने कहा है कि – '' मैं तुझे सभी पापों से मुक्त कर दूँगा, तू चिन्ता मत कर।'' **(अहम् त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्ष्ययिष्यामि मा शुच)।**

मनुष्य ईश्वरीय ज्ञान एवं योग की शिक्षा प्राप्त करके बहुत खुश होता है। उस मार्ग पर थोड़ा चलने में उसे बहुत ही आनन्द अनुभव होता है। परन्तु आगे बढ़ते ही जब उसके अपने ही संस्कार आलस्य, काम-भोग, उत्तेजना इत्यादि के रूप में उसके मार्ग में बाधा बन जाते हैं तब वह सन्मार्ग को ही छोड़ने की सोच लेता है, क्योंकि कुछ ही दिन पहले उसका मन प्रभु की स्मृति में स्थित हो जाता था अथवा ईश्वरीय स्मृति के समय उसके मन में दूषित संस्कार विघ्न नहीं डालते थे, परन्तु अब जब वह योगाभ्यास के लिए बैठता है तो ये संस्कार उसे परेशान कर देते हैं। अत: उसका उखड़ा हुआ मन, शामियाने, तम्बू उखेड़कर, डेरा उठाने को कहता है। ''क्या रखा है योग-ध्यान में....मैं तो परेशान हो गया हूँ.....'' – इस प्रकार उसका मन तूफ़ान खड़ा कर देता है और उसे विषयों की ओर आकर्षित करता है, भोग-सुख के दृश्य उसे दिखते हैं या उसे किसी चिन्ता, उत्तेजना इत्यादि की आंधी में उड़ा देते हैं। इस प्रकार दीये और तूफ़ान की लड़ाई होती है। उसके मन का पाँव लक्ष्य को छूता ही नहीं, स्वरूप को स्पर्श ही नहीं कर सकता, उसमें टिकने की बात तो एक ओर रही। पातंजलि ने इस विघ्न को 'उपलब्ध भूमिकत्व', 'अविरति' तथा 'अनवस्थिततत्व' – ये नाम दिये हैं। योगाभ्यास करने पर भी मन का टिक न पाना, संस्कारों के वेग के कारण बीच में ही रुक जाना 'उपलब्ध भूमिकत्व' कहलाता है और ऐसा होने से फिर से विषयों के साथ संयोग की इच्छा करना तथा उनके भोग में पड़ जाना, ईश्वरीय लग्न तथा अनासक्ति को गंवा बैठना – यह 'अविरति' कहलाता है और मन का भटक जाना, पथ से हट जाना, स्थिति का डाँवाडोल होना – यह 'अनवस्थित्व' कहलाता है।

परमपिता परमात्मा शिव ने हर प्रकार के संस्कार को मिटाने के लिए बहुत ही स्पष्ट रूप से साधन बताये हैं। परन्तु अभ्यासी को इतना तो समझना ही चाहिए कि पुराने संस्कारों को मिटाने का साधन भी तो योग ही है। अत: यदि इन संस्कारों के वेग को देखते हुए हम योगाभ्यास को ही छोड़ देंगे तब तो यह संस्कार कभी मिटेंगे ही नहीं। जैसे सोना तपाने से शुद्ध होता है, ऐसे ही संस्कार भी योग द्वारा शुद्ध होते

है। अतः संस्कारों का वेग तो कुछ समय तक ढीला पड़ेगा ही, हमें योग-रूप साधन को नहीं छोड़ना चाहिए, बल्कि ज्ञान की चर्चा, परोपकार, जन-सेवा इत्यादि में उसे लगाकर मन को ज्ञान के किसी दूसरे पहलू पर लगाकर उसकी भूमिका को ठीक करना चाहिए।

४. विकट परिस्थितियाँ अथवा समस्यायें

आध्यात्मिक पुरुषार्थ करते-करते, मनुष्य के जीवन में अनायास ही कई ऐसी परिस्थितियाँ आ जाती हैं जो उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेती है और उसके मन में दुःख की लहर अथवा असुविधा की भासना पैदा करती है तथा मनुष्य का मन ऐसा खिंचा-खिंचा-सा, उलझा हुआ-सा, मुर्झाया हुआ-सा रहता है कि इस भूमिका में उससे ज्ञान और योग स्वतः ही छूटने लगते हैं। ऐसी परिस्थितियों में यदि मनुष्य से कहा जाय कि – "भाई! योगाभ्यास को तथा नित्य ज्ञानाध्ययन को मत छोड़ो" तो वह कहता है – "क्या करूँ, कैसे करूँ, मेरी तो परिस्थिति ही ऐसी है.....।"

परमपिता परमात्मा शिव कहते हैं कि – "ऐसी परिस्थिति को आत्मिक स्थिति से पार करो। परिस्थितियों से प्रभावित हो जाना कमज़ोरी है; आप अपनी स्थिति को बनाये रखेंगे तो आपके आत्मिक बल से परिस्थितियाँ भी ठीक हो जायेंगी। यह सोचना गलत है कि पहले हमारा कार्य-व्यवहार ठीक हो जाय तब हम परमार्थ करेंगे, सही तो यह है कि परमार्थ में लगने से ही व्यवहार तथा गृहस्थ भी सुधरेगा। अतः कर्म करते हुए भी अपने धर्म को नहीं छोड़ना चाहिये। यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो परिस्थितियाँ हमारे लिए क्लेश तथा दुःख का कारण बन जायेंगी। इन परिस्थितियों का सामना करने के लिए हमें मनोबल (Will Power) [illegible], [illegible] बल तथा आत्मिक शक्ति और ईश्वरीय शक्ति नहीं मिल सकेगी। फिर

नियम के अनुसार वे हमारे सामने आनी तो थीं ही। पहले भी स्व-स्थिति में हम नहीं टिके रहे, उसके कारण ही तो इनका आना हुआ है, तब क्यों न स्व-स्थिति द्वारा उनका सामना किया जाय? यदि हम उनके कारण से अपना आध्यात्मिक पुरुषार्थ छोड़ देंगे तब फिर स्थिति और परिस्थिति सुधरेगी कैसे? तब तो गोया हम अपनी बिगड़ी हुई परिस्थिति द्वारा पुनः विकट परिस्थितियों को निमन्त्रण देने का यत्न कर रहे हैं।

मनुष्य के सामने हानि, निन्दा, प्राकृतिक प्रकोप द्वारा तोड़-फोड़, सम्बन्धियों की मृत्यु इत्यादि के रूप में जो क्लेशकारक परिस्थतियाँ आती हैं -- उनमें यदि मनुष्य कष्ट अनुभव करता है अथवा यदि किन्हीं इहलौकिक इच्छाओं की अपूर्ति के कारण उसे मानसिक क्षोभ होता है तो उसके अपने मन पर नियंत्रण न होने के कारण ही ऐसा होता है। ईश्वरीय ज्ञान हमें ऐसी परिस्थितियों में ही तो एकरस रहने का मार्ग दर्शाता है। यदि इन परिस्थितियों से ही हमारी अवस्था डोल जाती है और हम चिंतित, दुःखी, अशान्त अथवा क्षुब्ध महसूस करते हैं तो गोया यह हमारे ज्ञान की कमी के सूचक हैं। अतः इन परिस्थितियों में ज्ञान के बलप्रद रहस्यों को धारण करना चाहिये और इसके लिए अधिक ज्ञानवानों का संग करना चाहिये। इन तूफानों के सामने अध्यात्म पथ पर से पाँव उखड़ जाना तो दुर्बलता है।

पातंजलि ने विभिन्न परिस्थितियों में, आध्यात्मिक कष्ट, आधिदैविक या आधि-भौतिक क्लेष रूप विघ्न को 'दुःख' नाम दिया है तथा इच्छाओं की अपूर्ति से जो मानसिक क्षोभ अनुभव होता है उसे 'दौर्मनस्य' कहा है। इन दोनों विघ्नों को उसने उपविक्षेप माना है। परन्तु इसके निराकरण के लिए उसने ज्ञान के नुकते नहीं बताये, आध्यात्मिक साधन नहीं समझाये बल्कि उसने केवल यही कहा है कि मनुष्य को एक तत्व में मन टिकाना चाहिए और मित्रता, दया, प्रसन्नता तथा उपेक्षा को धारण करना चाहिए। परन्तु प्रश्न तो यह है कि मन लगता ही नहीं, परिस्थितियों ने उसे अपनी ओर आकृष्ट कर लिया है; अतः जब तक ज्ञान के द्वारा बुद्धि में बल, निश्चय और परिस्थिति के निराकरण की विधि स्पष्ट नहीं होगी तब तक वह मन को एक तत्व पर बाँधने में समर्थ कैसे हो सकेगी? पुनश्च, मित्रता, दया, प्रसन्नता तथा उपेक्षा मन में किस आधार पर टिक सकेंगे? किसी मनुष्य को व्यापार में एक लाख रुपयों की हानि हो गई तो प्रसन्नता तो उसकी उसी समय गुम हो गई जब उसे यह पता चला; अतः अब वह गँवाई हुई प्रसन्नता को कैसे धारण करे?

परमात्मा शिव ने ऐसी हरेक परिस्थिति के लिए स्पष्ट विधि बताई है

जिससे कि मनुष्य इन तथा अन्य सद्‌गुणों को धारण किये रह सकता है।

५. थकावट, उत्साह की कमी अथवा अरुचि

पुरुषार्थ पर चलते-चले कई बार मनुष्य का मन ऊब-सा जाता है। उसे ज्ञान के रहस्यों में से अब रस नहीं मिलता, योगाभ्यास में अरुचि उत्पन्न हो जाती है और वह नित्य-प्रति ब्रह्म मुहूर्त्त में उठना, स्नान करना, नियमों का पालन करना आदि-आदि के प्रति उदासीनता महसूस करता है। उसे कुछ थकावट अनुभव होती है और मन में यह प्रश्न उठता है – "आख़िर कब तक ऐसा ही करता रहूँगा....?" या तो वह देखता है कि – "मैं इतने समय से काम, क्रोध इत्यादि को जीतने का पुरुषार्थ करता आया हूँ, परन्तु फिर भी मैं इसमें सफल नहीं हुआ हूँ", तब वह ऐसा सोचकर स्वयं को असमर्थ मानकर अकर्मण्यता की ओर झुक जाता है। योग-दर्शन में इस विघ्न अथवा विक्षेप को 'स्त्यान' नाम दिया गया है।

हमें चाहिये कि हम यह याद रखें कि हमारे ही कल्याण के लिये शिव बाबा प्रतिदिन सूर्य, चाँद और तारागण से भी परे के लोक – परमधाम से आकर हमें ज्ञान तथा योग सिखाते हैं; तब क्या हम इन अनमोल वरदानों को प्राप्त करने के लिये भी थक गये हैं? क्या जन्म-जन्मान्तर के लिये इस अपरिमित कमाई से भी ऊब गये हैं? जबकि हमें यह बात भली-भाँति समझाई गयी है कि इस पुरुषार्थ से 21 जन्मों के लिये, 2500 वर्षों के लिये अथवा आधे कल्प के लिये सात्विक सुखों की प्राप्ति होती है और जीवन से दुःख तथा अशान्ति का पूर्णतः अन्त हो जाता है, तब भला हमें थकावट या नीरसता का अनुभव कैसे हो सकता है? पुनश्च, अब हम यह भी जान चुके है तथा देख भी रहे है कि अब इस तमोप्रधान सृष्टि का महाविनाश एटम और हाइड्रोजन बमों द्वारा निकट भविष्य में होने वाला है, तब तो थकावट का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

हमारे संस्कार बहुत कड़े हैं। इन्हें पवित्र करने का पुरुषार्थ छोड़ देना, स्वयं में असमर्थता अनुभव करना या योगी जीवन को नीरस महसूस करना तो गोया इन अपने ही संस्कारों से धोखा खाना, इनसे बाज़ी हार जाना – सदा के लिये इन्हीं का गुलाम बने रहने को तैयार होना है। यह तो अज्ञान के लक्षण हैं, आध्यात्मिक शक्ति की कमी के चिह्न हैं। अत: हमें चाहिये कि हिम्मत न हार कर हम सतत, निरन्तर पुरुषार्थ पथ पर चलते चलें, आख़िर मंज़िल पर पहुँच ही जायेंगे, क्योंकि हमारा मार्ग-दर्शक समर्थ, सच्चा, सहायक और सम्पूर्ण ज्ञानवान् एक बाप ही है।

६. पूर्व कर्मों का हिसाब-किताब तथा दूसरों के स्वभाव से टकराव

पिछले जन्मों के कर्म-खाते के कारण मनुष्य के सामने कई प्रकार के विघ्न आते हैं। किसी कार्य में सफ़लता नहीं मिलती, अधिक परिश्रम करने पर भी परिणाम सन्तोषजनक नहीं होता, ख़ामख्वाह के झंझट आ पड़ते हैं, अवसर हाथ से निकल जाते हैं, अपने से बड़ों की दृष्टि में हम जँचते नहीं, हमारी योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये सहयोग और साधन नहीं मिलते और दूसरा कोई उन्हें पूर्ण करके यश पाता है। किसी से विचार नहीं मिलते तो मन में तनाव आता है और आरोप, उलाहने तथा वेदना का सामना करना पड़ता है। जिस कार्य में हाथ डालते हैं; उसमें रुकावटें आती तथा वह सूना-सूना-सा हो जाता है, निराशा का सामना करना पड़ता है। जिनके प्रति स्नेह रखते हैं उनसे शुष्क व्यवहार मिलता है अथवा झाड़-झपट सुनने को मिलती है, जिन्हें मित्र और अवलम्बन मानकर बैठे हैं, वे पीठ फेर कर चल देते हैं। ऐसा मालूम होता है कि मित्र-जनों में लौकिक या दैवी परिवार में हम पिछड़े हुए से, अभागे-से, अवहेलित अथवा परित्यक्त से हैं। जिनकी सुध-बुध लेने और जिन्हें सहयोग तथा उत्साह देने से सब दूर भागते हैं अथवा जिनको दुलार देने का भी किसी को विचार नहीं आता। यह सब देखकर मनुष्य का मन भरा-भरा-सा रहने लगता है और वह या तो सोचने लगता है कि – "प्रभु! एक आप ही सहारा हो" और या इसके विपरित ही ऐसे संकल्प उठते हैं कि – "प्रभो! आप भी मेरे लिये कुछ नहीं करते......"

परन्तु प्रभु क्या करें? हमारे अपने ही कर्मों का तो खाता है? हमने जो-कुछ अच्छा किया है, जब उसका श्रेय हमें प्राप्त होता है, उसका सुख रूप फल हम पाते हैं तो अपने बुरे कर्मों का परिणाम भी तो हमारे ही सामने आयेगा? फिर धर्म-स्थापना के कार्य में विघ्न तो आते ही हैं, कठिनाइयों का सामना तो करना ही पड़ता

है। राज्य-भाग्य स्थापित करने के कार्य में आलोचना तो सुननी पड़ती है, यहाँ तक कि थप्पड़ भी खाने पड़ते हैं। तो हम जो दैवी-सृष्टि के चक्रवर्ती राज्य के लिये अथवा वैकुण्ठ के सम्पूर्ण सुखमय देवपद के लिये पुरुषार्थ कर रहे हैं, उनमें भी ये सब-कुछ तो हमें देखना ही पड़ेगा। अब परिश्रम, उद्यम तथा उत्साह से काम लेने से ही तो पिछले कर्मों के कष्टकारक परिणामों का हम सामना कर सकेंगे। अतः 'जो करेगा सो पायेगा' — इस नियम को याद रखकर हमें करते चले जाना चाहिये और कोई हमें नहीं भी दुलारेगा, कोई हमारे पुरुषार्थ के लिये उत्साहप्रद दो वचन नहीं भी बोलेगा, कोई हमारी स्थिति को नहीं भी देखेगा तो क्या हुआ, प्रभु का हाथ हमारे सिर पर है। कर्म अविनाशी हैं; हमारा पुरुषार्थ हमारा साथ देगा, हम कठिनाइयों को पार करके जब सफ़लता के नगाड़े बजायेंगे तो लोग उसका गायन करेंगे। समय पर सब-कुछ ठीक हो जाता है, पुरुषार्थ की अवश्य विजय होती है, हिम्मत करने वाले को खुदा मदद देता है, साहस और सहनशीलता हमारा श्रृंगार है — इन दिव्य वचनों को ध्यान में रखते हुए यदि हम तीव्रवेगी पुरुषार्थी बने रहेंगे तो एक दिन अवश्य ही हम सफ़लता की सीढ़ी पर चढ़कर सम्पूर्णता को प्राप्त होंगे — इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

८. व्याधि या शारीरिक शिथिलता

रोग, वृद्धावस्था, शारीरिक दुर्बलता अथवा प्रकम्पन इत्यादि भी मनुष्य के मन में शिथिलता, आलस्य अथवा बाधा उत्पन्न करते हैं। इनके लिये औषधि और उपचार तो करना ही चाहिये, परन्तु मन को अशान्त या क्षुब्ध नहीं होने देना चाहिये। इनके लिये यह सोचना चाहिये कि – ''ये बीमारियाँ अब अन्तिम विदाई लेने आयी हैं। अब तो मैं भोगी से योगी बना हूँ, अत: इसके बाद तो मैं सदा के लिये स्वस्थ तथा देवताओं के समान निरोगी काया प्राप्त कर लूँगा। इन द्वारा तो मेरे पूर्व कर्मों का खाता चुकता हो रहा है, अत: चिन्ता या दु:ख की तो कोई बात ही नहीं, क्योंकि इससे तो मेरा ऋण चुकता हो रहा है। इस प्रकार, मनुष्य को सदा प्रसन्न-चित्त रहना चाहिये।''

उपर्युक्त में से कुछेक का वर्णन पातंजलि तथा अन्यान्य ने भी किया है। किसी ने इन्हें 'चित्त-विक्षेप', किसी ने 'अन्तराय', अन्य ने 'विघ्न' और दूसरे लोगों ने 'योग-प्रतिपक्षी' कहा है। परन्तु उन्होंने सभी विघ्नों का उल्लेख नहीं किया और उनके निवारण के लिये वह उपाय नहीं सुझाये जो परमपिता परमात्मा शिव ने सविस्तार समझाये हैं, जिनमें से कुछेक का संक्षिप्त उल्लेख ऊपर किया गया है।



निश्चिन्त

मानो एक राजकुमार का पिता एक बड़ी भूमि का मालिक है। अगर उस राजकुमार का सम्बन्ध अपने पिता से युक्त है तो क्या उसे कभी धन-धान्य इत्यादि की चिन्ता हो सकती है? उसके लिये तो उस राजा की समस्त जागीर तथा प्रजा है अथवा सुख सामग्री है। इसी प्रकार, जो मनुष्य स्वयं को त्रिलोकीनाथ, सर्वशक्तिमान्, सुखदाता पिता परमात्मा की सन्तान निश्चय करता है, तो क्या उसे भी कभी किसी बात की चिन्ता हो सकती है? वह तो नारायणी नशे में अथवा मौलाई मस्ती में ही हरदम रहता होगा, क्योंकि ऐसे निश्चय बुद्धि, स्नेह युक्त, मनुष्य पर ही तो परमपिता परमात्मा का सब-कुछ न्यौछावर है। बाप की प्रापर्टी (सम्पत्ति) बच्चे ही के लिये तो होती है? तो ऐसे समझो कि चिन्तायुक्त मनुष्यों को अभी परमात्मा पर निश्चय नहीं है; उनका परमात्मा से सम्बन्ध जुटा हुआ नहीं है! उसने अभी परमात्मा ही को अपने एकमात्र आधार के रूप में नहीं अपनाया अर्थात् अभी उसे परमात्मा की पहचान नहीं है और यह ज्ञान नहीं है, कि ऐसे तो जग की बेड़ी डोलती है, परन्तु परमात्मा का सहारा लेने वाले की बेड़ी कभी भी डूबती नहीं है।

✓ ✓ ✓

मान और शान की भूख

इस कलिकाल में यों तो सभी मनोविकार ज़ोरों पर हैं, परन्तु ऐसा मालूम होता है कि एक-दूसरे की निन्दा करना अथवा एक-दूसरे के मत का खण्डन करना, एक-दूसरे के प्रस्ताव का विरोध करना, एक-दूसरे के दोषों को दर्शाना इस युग की प्रधान प्रवृत्ति है। आज मज़दूर निन्दा-भरे शब्दों में कहते हैं कि कारखानेदार लोभी और शोषक हैं। मिल-मालिक भी ग्लानिपूर्ण शब्दों में कहते हैं कि मज़दूर जी लगाकर काम नहीं करते और उनके मन में न सहानुभूति है, न दूसरों के लिये सम्मान। संसद में अथवा विधान सभाओं में भी एक-दूसरे के प्रति **निन्दा** के प्रस्ताव (Censure motions) पेश किये जाते हैं अथवा विरोधी दल सत्तारूढ़ दल का **विरोध** करना ही अपना मुख्य कर्त्तव्य समझते हैं। उधर सत्तारूढ़ दल के सदस्य भी विरोधी दल के प्रतिनिधियों की गति-विधियों में दोष चुनने की कोशिश करते रहते हैं।

इसी प्रकार, विद्यार्थी कहते हैं कि आजकल के अध्यापकों में उन्हें उस महानता के दिग्दर्शन नहीं होते जो प्राचीन काल में अध्यापक वर्ग में थी और अध्यापक आजकल के विद्यार्थियों की निन्दा करते हुए कहते हैं कि उनमें अनुशासन तथा नैतिकता नहीं है, और तो क्या, धर्म-प्रेमी लोग, यहाँ तक कि कई 'ज्ञानी' कहलाने वाले लोग भी एक-दूसरे की निन्दा करने में नहीं थकते। वे किसी कार्य को सुचारु रूप से करने के लिए साक्षी-भाव से किसी के व्यक्तित्व का वर्णन कर रहे हों ताकि हम इस व्यक्ति से सोच-समझकर व्यवहार करें — ऐसा उनकी वाणी से प्रतीत नहीं होता, बल्कि लगता है कि कुछेक 'ज्ञानी' कहलाने वाले लोग भी दूसरों की निन्दा करने में एक प्रकार का सुख अनुभव करते हैं। आजकल तो संसार में हरेक के मन की ऐसी स्थिति हो गई है कि वह दूसरे का झट से अपमान कर देता है, फट से उसकी निन्दा करने लगता है।

स्तुति की लालसा

हाँ, हर कोई अपनी स्तुति सुनना चाहता है। अपने मान में ज़रा भी कमी होते देखकर वह भड़क उठता है अथवा रूठ जाता है; अपनी प्रशंसा सुनकर उसे विशेष ख़ुशी का अनुभव होता है; दूसरे की प्रशंसा होती देखकर वह जल-भुन-सा जाता है और उसके दोष दर्शाने में तत्पर हो जाता है और अपने गुणों का,

मान और शान की भूख

इस कलिकाल में यों तो सभी मनोविकार ज़ोरों पर हैं, परन्तु ऐसा मालूम होता है कि एक-दूसरे की निन्दा करना अथवा एक-दूसरे के मत का खण्डन करना, एक-दूसरे के प्रस्ताव का विरोध करना, एक-दूसरे के दोषों को दर्शाना इस युग की प्रधान प्रवृत्ति है। आज मज़दूर निन्दा-भरे शब्दों में कहते हैं कि कारखानेदार लोभी और शोषक हैं। मिल-मालिक भी ग्लानिपूर्ण शब्दों में कहते है कि मज़दूर जी लगाकर काम नहीं करते और उनके मन में न सहानुभूति है, न दूसरों के लिये सम्मान। संसद में अथवा विधान सभाओं में भी एक-दूसरे के प्रति **निन्दा** के प्रस्ताव (Censure motions) पेश किये जाते हैं अथवा विरोधी दल सत्तारूढ़ दल का **विरोध** करना ही अपना मुख्य कर्त्तव्य समझते हैं। उधर सत्तारूढ़ दल के सदस्य भी विरोधी दल के प्रतिनिधियों की गति-विधियों में दोष चुनने की कोशिश करते रहते हैं।

इसी प्रकार, विद्यार्थी कहते हैं कि आजकल के अध्यापकों में उन्हें उस महानता के दिग्दर्शन नहीं होते जो प्राचीन काल में अध्यापक वर्ग में थी और अध्यापक आजकल के विद्यार्थियों की निन्दा करते हुए कहते हैं कि उनमें अनुशासन तथा नैतिकता नहीं है, और तो क्या, धर्म-प्रेमी लोग, यहाँ तक कि कई 'ज्ञानी' कहलाने वाले लोग भी एक-दूसरे की निन्दा करने में नहीं थकते। वे किसी कार्य को सुचारु रूप से करने के लिए साक्षी-भाव से किसी के व्यक्तित्व का वर्णन कर रहे हों ताकि हम उस व्यक्ति से सोच-समझकर व्यवहार करें — ऐसा उनकी बातों से प्रतीत नहीं होता, बल्कि लगता है कि कुछेक 'ज्ञानी' कहलाने वाले लोग भी दूसरों की निन्दा करने में एक प्रकार का सुख अनुभव करते हैं। आजकल तो संसार में लोक के मन की ऐसी स्थिति हो गई है कि वह दूसरे का [illegible] से [illegible] कर देता है, झट से उसकी निन्दा करने लगता है।

स्तुति की लालसा

[illegible] हर कोई अपनी स्तुति सुनना चाहता है। अपने मान में ज़रा भी कमी होते [illegible] उठता है अथवा रूठ जाता है; अपनी प्रशंसा सुनकर उसे [illegible] अनुभव होता है; दूसरे की प्रशंसा होती देखकर वह जल-भुन [illegible] ईर्ष्या से [illegible] हो जाता है और अपने गुणों का,

स्वयं ही 'मियाँ मिट्ठू' बनकर, वर्णन करता है ताकि लोग प्रथम से घृणा करके उससे ही प्रेम करें। वह ऐसे-ऐसे कामों में हाथ डालना चाहता है जिससे उसका मान हो, उसका नाम हो। यदि उसके काम की कोई महिमा न करे तो वह काम को भी छोड़ देता है और यदि उसके काम में रही थोड़ी त्रुटी की ओर उसका कोई ध्यान खिंचवाये तो उसे मित्र मानने की बजाय और उसे संशोधन तथा उन्नति का साधन मानने की अपेक्षा वह उस व्यक्ति से वैर करने लगता है। **वह कहता है कि ''मैं सेवा करना चाहता हूँ'' परन्तु भीतर से चाहता यही है कि मेरी प्रशंसा हो, मेरा भी नाम हो। यों तो वह स्वयं को प्रभु-अर्पित मानता है, परन्तु वह अपने कर्म को प्रभु-अर्पण नहीं करता। जैसे कई लोग मन्दिर के देवता के आगे प्रसाद चढ़ाने जाते हैं और अन्दर से चाहते हैं कि लोगों में यह चर्चा हो कि मैं भक्त हूँ, अथवा कि मैं पांच रुपये का प्रसाद हर सप्ताह चढ़ाता हूँ'' वैसे ही वह भी चाहता है कि लोगों में यह बात फैले कि मैं बहुत ही ईश्वरीय सेवा करता हूँ।**

हालत ऐसी हो गई है कि आज हरेक मनुष्य मान-शान का भूखा है। वह दूसरे की हरेक बात को सुनते समय यह सोचता रहता है कि कहीं उसने उसकी ग्लानि तो नहीं की। किसी के द्वारा थोड़ा-सा संशोधन मिलने पर वह एकदम भड़क उठता है। इतना ही नहीं, उसने जिस-किसी से कोई कला सीखी हो, कोई गुण ग्रहण किया हो, कोई रहस्य अथवा विद्या उपलब्ध की हो — उसके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने की बात तो एक ओर रही, वह उसका नाम ही नहीं लेता, क्योंकि उसमें मान और शान की ऐसी अदृश्य तृष्णा है कि वह दूसरे को सहभोगी भी नहीं बनाना चाहता। यद्यपि यह एक प्रकार की चोरी है तथापि उसकी मान-लालसा उसे इस चोरी को भी पाप मानने नहीं देती। यह भी धर्मग्लानि के, देहाभिमान के और योग-च्युत अवस्था के ही तो लक्षण हैं।

मिथ्या अभिमान

देखा जाय तो मनुष्य के मन में मान-शान — यह तृष्णा उसके अतृप्त अभिमान को सूचित करती है। योगी मनुष्य तो इससे दूर रहता है, क्योंकि वह भलीभांति समझता है कि उसके जीवन में प्राप्त सभी शक्तियाँ, कलायें, योग्यता और सिद्धियाँ ईश्वर-प्रदत्त ही तो हैं। अतः वह मानता है कि मान तो वास्तव में दाता का होना चाहिये न कि भोक्ता का।

पुनश्च, यदि संसारिक दृष्टि से देखा जाय तो भी हरेक मनुष्य में जो क्षमतायें, विद्यायें अथवा कार्य-कुशलताएं हैं, वे किसी व्यक्ति से **प्रशिक्षण** द्वारा,

समाज के प्रबन्ध से प्राप्त **सुविधा** द्वारा, माता-पिता, परिवार अथवा देश की व्यवस्था में प्राप्त **अवसरों** द्वारा, **सहयोग** द्वारा, संरक्षण द्वारा, सहानुभूति द्वारा एवं **साधनों** द्वारा ही तो हुई हैं। अत: मात-पिता, बन्धु-बान्धव, मित्र-सखा, राष्ट्र और समाज तथा पूर्वजों की कृतियों के ऋणी मानव को अभिमान एकदम मिथ्या, थोथा, निराधार और निरर्थक ही तो है। क्या कोई ऐसा मनुष्य है जो यह कह सके कि उसने किसी से कुछ नहीं सीखा, कोई साधन-सहयोग, स्नेह-सहानुभूति, संरक्षण और सन्मार्ग नहीं पाया और कि वह केवल अपने ही बल-बूते पर बीज से वृक्ष या कली से पुष्प बना है? यह तो हो सकता है कि मनुष्य ने समाज से कुछ भलाई सीखी हो, कुछ बुराई भी, समाज से कुछ लिया हो और उसे कुछ दिया भी हो; परन्तु तराज़ू में डालकर देखने से नतीजा यही निकलेगा कि समाज के प्रति उसे कुछ देना ही बनता है, अर्थात् उस पर ऋण अधिक है। ऐसी स्थिति में मनुष्य का गर्व, उसकी मान की लालसा; दूसरों के प्रति उसकी अकृतज्ञता (Thanklessness), उसकी अज्ञानता ही का तो सूचक है।

मनुष्य में नम्रता तभी आती है जब वह अपने मन में यह समझता है कि मैं दूसरों का बहुत आभारी हूँ, विशेषकर जब वह यह महसूस करता है कि मेरे पास जो-कुछ भी है प्रभु का दिया हुआ है। पुनश्च, लोगों द्वारा स्तुति सुनते समय भी जब उसकी बुद्धि में यह धारणा बनी रहती है कि यह जो महिमा हो रही है, यह वास्तव में गुण-दाता प्रभु की महिमा है अथवा यह स्वयं गुणों ही की महिमा है न कि मेरी, तभी वह स्तुति करने वालों से घिरा होने पर भी निराभिमानी स्थिति में टिका रह सकता है। इसके अतिरिक्त, ज़ब वह अपने मन में उनके प्रति भी धन्यवादी तथा कृतज्ञ अनुभव करता है जिन्होंने कि उसको वह कला, विद्या, या गुण दिया, तब ही उसके मन में नम्रता का सद्गुण पनपता है वर्ना तो वह अभिमान के मारे योग के परम रस से दिनों-दिन वंचित होता जाता है और मान-शान की भूख में अधिकाधिक व्यवहारी ही बनता जाता है।

स्वमान और यश

हमारे इस सारे कथन का यह भाव नहीं है कि यश बुरी चीज़ है। जिस कार्य से यश फैलता है, प्राय: वह कार्य किसी दिव्य गुण पर आधारित होता है। अत: यश होने पर हमें यह मालूम होता है कि हमने अच्छा कार्य किया है। परन्तु हमें सदा कामना अच्छा कार्य करने की होनी चाहिये न कि यश की। यदि हमें यश

की कामना रहेगी तब कई बार हमें निराशा का भी मुँह देखना पड़ेगा, क्योंकि बहुत बार अच्छे कार्य की भी लोग सराहना नहीं करते, कारण कि अच्छे कार्य का विरोध करने वाले भी संसार में बहुत लोग हैं। तब यश कामना वाला मनुष्य निरुत्साहित, (Frustrated) क्षीणमनसा एवं हतप्रभ स्थिति वाला होकर अच्छे कार्य को भी छोड़ देता है और आत्म-विश्वास को भी खो बैठता है। अत: वह मान और शान के पीछे अपने मन में अपना भी उचित मान (स्वमान) खो बैठता है और लोगों द्वारा भी अपमानित होता है क्योंकि लोग उसके बारे में कहने लगते हैं कि – "यह तो किसी काम का आदमी नहीं है......।"

अत: यदि दो शब्दों में इस चर्चा के सार का उल्लेख करना हो तो कहना होगा कि– 1. मान और शान के पीछे मनुष्य को अपना योग-बल नहीं गँवाना चाहिये 2. उसे दूसरों का यथोचित कृतज्ञ होना चाहिये 3. स्वयं में जो गुण या शक्तियाँ हैं, उन्हें प्रभु-प्रदत्त अथवा समाज का फल मानकर नम्र स्वभाव का होना चाहिये 4. उस यश को भाग्य की अथवा कार्य की सफ़लता का सूचक मानना चाहिये परन्तु यश की जंजीरों में स्वयं को जकड़ना नहीं चाहिये 5. यश के गुणदाता प्रभु ही की कीर्ति मानकर साक्षी भाव में टिकना चाहिये और प्रभु ही को मन, वाणी, कर्म से धन्यवाद देना चाहिये कि उसने इस स्थिति तक पहुँचाया तथा 6. स्वमान को नहीं गँवाना चाहिये और मान के लिये भूखा नहीं रहना चाहिये।



प्रभु-अर्पण हो कर्म करो, जीवन सुखी बनाओ

यह सृष्टि एक रंगमंच है जहाँ सर्व आत्मायें अपने-अपने समयानुसार अपना-अपना पार्ट बजाती हैं। परन्तु ज्ञानी तू आत्मा सृष्टि नाटक को देखते हुए, अपने पुरुषार्थ रूपी कदम को आगे बढ़ाते और उनमें पद्म समाते सबकी आत्मिक सेवा कर उन्हें परमपिता शिव द्वारा प्रदत्त ज्ञान-योग से परिचित कर उन्हें भी मंज़िल (मुक्ति एवं जीवनमुक्ति) की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित कर देते हैं। परन्तु इस सन्मार्ग में आगे बढ़ने पर विकारों के प्रहार विभिन्न रूपों में आते ही रहते हैं। परन्तु एक तीव्र पुरुषार्थी इस सृष्टि रूपी नाटक में अपना पार्ट अदा करते हुए दूसरों के भी पार्ट को धैर्यवंत्त हो देखता है। और, तभी वह अपनी स्व-स्थिति की स्थिति में स्थित रहते हुए, प्रसन्नचित्त रहते इस अनमोल जीवन को प्रभु-मिलन के सुख एवं आत्मिक शान्ति के सरोवर में सराबोर होते हुए व्यतीत कर सकता है।

इस संसार रूपी नाटकशाला के दो प्रमुख अंग सुख एवं दु:ख हैं जिनका कि इस पंच भौतिक शरीर से अटूट सम्बन्ध है। दु:ख को कर्मभोग समझकर और परमपिता परमात्मा शिव से योगयुक्त होने पर उसकी पीड़ा की मात्रा अनुपातत: घट जाती है। शारीरिक कष्ट तो सहन करने ही पड़ेंगे, चाहे रो-रो कर सहें या ड्रामा, नियति या कर्मफल को सामने रखकर सहें। सहने में फर्क सिर्फ इतना ही है कि शारीरिक कष्ट भोगी रो-रो कर काटता है, जबकि योगी हँस-हँस कर।

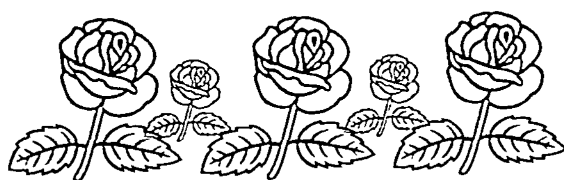
शारीरिक दु:ख अथवा कष्ट का मानसिक स्थिति से बड़ा ही घनिष्ट सम्बन्ध है। कभी-कभी ऐसा होता है कि थोड़े से शारीरिक कष्ट का मन्सा में तूफान मच जाने के कारण वह असह्य हो जाता है जबकि आत्मिक स्थिति एवं परमात्मा याद में बड़े से बड़ा कष्ट भी नगण्य प्रतीत होता है। कहने का भाव यह है कि आत्मिक उन्नति में एवं योगाभ्यास में हमारी मानसिक स्थिति का विशेष स्थान है। वस्तुत: ऐसे मौके पर योगी की धैर्यवत अवस्था की परीक्षा होती है और उसकी सहन-शक्ति भी बढ़ती है।

जब कभी हम किसी से स्वयं के साथ इतने अच्छे व्यवहार की आश रख

बैठते हैं, जिसे वह कर सकने में असमर्थ होता है, तो हम दु:खी हो जाते हैं, मन अशान्त हो जाता है। कभी हम दूसरों को उनकी इच्छानुसार तृप्त नहीं कर पाते तो भी मानसिक दु:ख भासता है। एक कहावत है कि – "जो सबको खुश रखना चाहता है, वह किसी को भी खुश नहीं रख सकता।" (He who wants to please all, will please none.) लेकिन इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि यदि हम सबको खुश नहीं रख सकते तो रुष्ट रखें। नहीं, सबको भाई-भाई की आत्मिक दृष्टि से देखते हुए, कल्याणकारी भाव रखते हुए भरपूर स्नेह एवं सहयोग दें। फिर यह उसके ऊपर निर्भर करता हैं कि उसने इसे कितना मूल्य दिया है, किस लक्ष्य से आंका है। आत्मोन्नति के लिए एक गुह्य सूत्र है – प्रभु से साफ दिल रहना। हमारी मनसा, वाचा, कर्मणा तथा दिल प्रभु के समक्ष दर्पण हो। हम पवित्र हृदय से एवं शिव बाबा की याद में, साखी, साक्षी एवं साथीपने की दृष्टि रखते हुए कर्म करते चलें और फिर भी यदि कोई सन्तुष्ट नहीं होता तो यह हमारा अपराध नहीं है।

जैसे एक किसान अपनी सन्तुष्टतानुसार खेत जोतकर बीज डाल देता है। फिर उसमें से कैसे और कितनी पैदावार होगी यह उसके अधीन नहीं। ठीक यही हाल हमारे कर्मों का है जिसे ड्रामा की भावी पर छोड़ निश्चिन्त हो रहना चाहिए। ज्ञानी तू आत्मा सृष्टि-नाटक में एक्टर की तरह काम करता है और वह अपने पात्र तथा चीज़ों में आसक्त नहीं होता। ऐसी हमारी स्थिति होनी चाहिए।

सबसे ऊंची अवस्था यह है कि प्रत्येक कर्म हम निमित्त भाव से ईश्वरार्पण करते हुए करें। शिव बाबा ही हमसे करवा रहे हैं, मैं नहीं कर रहा हूँ और मुझ में करने की क्षमता भी नहीं है, इससे अहम् भाव खत्म हो जायेगा।



संसार में दुःख और अशुभ क्यों है?

हम देखते हैं कि संसार में तीन प्रकार के दुःख, कष्ट अथवा अशुभ का अस्तित्व है — एक तो दैहिक, जैसे कि शारीरिक रोग, पीड़ाएं, दर्द, मृत्यु आदि और दूसरे, दैविक, जैसे कि भूकम्प, बाढ़, अतिवृद्धि, अनावृद्धि आदि और तीसरे, आध्यात्मिक, अथवा मानसिक — जैसे चिन्ता, अशान्ति, वेदना, तनाव आदि। कुछ लोग अशुभ का इस प्रकार वर्गीकरण न करके सत्यं शिवं सुन्दरं के विरोधी भाव — असत्य, पीड़ा, कुरूपता तथा पाप को ही अशुभ के चार विशेष रूप मानते हैं। परन्तु अशुभ का वर्गीकरण चाहे किसी तरह भी किया जाय, अशुभ का अस्तित्व तो संसार में स्पष्ट है और झूठ, चोरी, अन्याय, आतंक, दरिद्रता, प्राकृतिक प्रकोप आदि से मनुष्य को कष्ट होते स्पष्ट दिखाई देते हैं। इन्हीं के निवारण के लिये व्यक्ति, संस्थाएं और सरकारें दिन-रात पुरुषार्थ करती रहती हैं। इन्हीं दुःखों आदि से निवृत्ति प्राप्त करने के लिये ही अनेक धर्म, मत, वाद तथा सम्प्रदाय स्थापन हुए हैं। परन्तु यदि हम संसार के इतिहास को, विशेषकर धर्मों और दर्शनों के इतिहास (History of Religions and Philosophies) को उठाकर देखें तो हमें मालूम होगा कि संसार में दुःख और अशुभ (Sufferings and Evils) के अस्तित्व और उनके कारण के बारे में जो अनेक दर्शनों और धर्मों की मान्यताएं हैं, वे बड़ी विचित्र हैं। उनके बारे में कोई सन्तोषजनक उत्तर न होने के कारण ही बहुत से तर्कशील मनुष्यों की श्रद्धा ही धर्म से उठ जाती है और वे धर्म-विश्वासी लोगों को 'अन्ध-श्रद्धालु' की संज्ञा देते हैं। संसार में दुःख, बुराई, पाप, मनोविकार अथवा अशान्ति क्यों है? — इस प्रश्न को लेकर संसार के कुछ मुख्य धर्मों की जो मान्यताएं हैं, उन पर हम विचार करके देखेंगे कि तर्कशील मनुष्य उससे सन्तुष्ट क्यों नहीं होते।

संसार में अशुभ क्यों हैं?

अब बहुत से ईश्वरवादी धर्म मानते हैं कि यह पृथ्वी, सूर्य, चाँद आदि संसार परमात्मा ने रचा और कि परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक तथा दयालु और प्रेममय हैं। उनसे जब यह प्रश्न किये जाते हैं कि — "यदि परमात्मा सर्वज्ञ भी है और सर्वशक्तिमान् भी तो उसने जो सृष्टि बनाई उसमें अशुभ एवं दुःख क्यों है? परमात्मा ने ऐसी दुःखमय सृष्टि बनाई क्यों? यदि परमात्मा इस संसार से दुःख को मिटा नहीं सकता तो वह सर्वशक्तिमान् नहीं है और यदि उसे पता नहीं था कि संसार की रचना करने पर उसमें ऐसा दुःख होगा तो वह सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता और यदि वह

सर्वशक्तिमान् भी है तथा सर्वज्ञ भी है तब भी यदि वह अशुभ का अन्त नहीं करता तो इसका अर्थ यह है कि वह दयावान नहीं है। बल्कि अनिष्टकारी है। तब परमात्मा के स्वरूप के बारे में क्या माना जाय?'' ये जो प्रश्नों की झड़ी लग जाती है, इसके उत्तर विभिन्न धर्म विभिन्न प्रकार से देते हैं; इसलिए धर्मों में अनेकता है। यहाँ हम कुछ उदाहरण देंगे।

शैतान या अहर्मान के अस्तित्व की मान्यता

ईसाई धर्म और मुहम्मदी धर्म तो यह मानते हैं कि संसार की रचना तो परमात्मा ने की और परमात्मा है भी दयावान परन्तु परमात्मा के अतिरिक्त 'शैतान' (Devil) नामक एक 'फरिश्ते' (Angel) का अस्तित्व है जो परमात्मा से बाग़ी हो गया था। वही मनुष्यों को वरग़लाता है और दु:ख उत्पन्न करता है। इसी प्रकार पारसी लोग अहुर्मज़दा (परमात्मा) के अतिरिक्त अहर्मान का भी अस्तित्व मानते हैं जो कि अशुभ और कष्ट लाता है। इसका अर्थ तो यह है कि परमात्मा की शक्ति सीमित है, क्योंकि उसके अलावा एक शक्तिशाली और भी है जिसका वह पूर्णत: अन्त नहीं कर सकता और जिसके बारे में उसे पहले से मालूम नहीं था कि वह बाग़ी हो जायेगा और लोगों को वरग़लायेगा।

दूसरी प्रकार के ईश्वरवादी लोग कहते हैं कि परमात्मा है तो सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और दयालु और उसी ने ही जगत की रचना की है। वास्तव में दु:ख और अशुभ नहीं है। उनका कथन है कि जैसे माता अपने किसी बच्चे को पीटती है तब उस बच्चे को तो पीड़ा अनुभव होती है परन्तु उस दण्ड से वह बच्चा सुधर जाता है और उसका शेष सारा जीवन शुभ बन जाता है। अत:, यदि समस्त जीवन को सामने रखा जाय तो अशुभ वास्तव में अशुभ नहीं, क्योंकि अशुभ मनुष्य को बुरे कर्म से बचने और अच्छाई की ओर बढ़ने में सहायक होता है। परन्तु इस व्याख्या को सुनकर तर्कशील लोग कहते हैं – ''परन्तु कितने ही मनुष्य ऐसी अशुभ परिस्थिति में होते हैं कि वे आत्महत्या भी कर डालते हैं। अन्य कितने लोग ऐसे भी होते हैं जो अशुभ से घिरे होने पर अधिक ही पतन की ओर अग्रसर होते हैं। हम तो संसार में प्राकृतिक तथा नैतिक अशुभ को बढ़ते हुए ही देखते हैं; संसार में अशुभ भला शुभ की ओर ले जाने में कहाँ निमित्त बन रहा है? अच्छा यदि अशुभ मनुष्य को शुभ की ओर प्रेरित करने का निमित्त बनता है जैसे कि माता द्वारा बच्चे को दिया गया दण्ड उसमें सुधार लाता है तो क्या परमात्मा को इतना कठोर साधन अपनाना पड़ता है? उसके पास इससे अधिक सरल और कष्ट-रहित और कोई साधन नहीं है? फिर, प्रश्न तो यह है कि परमात्मा

ने ऐसी सृष्टि रची ही क्यों जिसमें अशुभ इतना अधिक है? ऐसी सृष्टि रचने से उसका क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? यदि परमात्मा सम्पूर्ण है तो उसने ऐसी अपूर्ण सृष्टि क्यों रची?'' उनका कथन है कि यदि अशुभ शुभ के निर्माण में सहायक है तब तो मनुष्य उसके निवारण का प्रयत्न ही क्यों करे और यदि वह ऐसा प्रयत्न नहीं करेगा तब तो संसार में अशुभ की वृद्धि ही होगी? इन प्रश्नों का उत्तर संसार में ईश्वरवादी धर्म नहीं दे सकते।

अद्वैतवादी क्या कहते हैं?

संसार में 'अशुभ' के बारे में अद्वैतवादियों की मान्यता सबसे विचित्र है। अद्वैतवादियों के अनुसार ईश्वर अथवा ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है और इसके सिवा दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं। इसके अनुसार तो जगत भी मिथ्या है और संसार में जो कुछ भी दिखाई देता है, वह भी भ्रान्ति अथवा कल्पना है। अत: उनकी विचित्र मान्यता यह है कि अशुभ का भी अस्तित्व नहीं है और अज्ञान के कारण उसे अशुभ की प्रतीति मात्र होती है।

अब यह कितनी विचित्र बात है कि कोई मनुष्य भूख से पीड़ित हो और हम उसे कहें कि भूख कल्पित है अथवा किसी के सर पर कड़ी चोट आयी हो और हम कहें कि दर्द केवल अज्ञानता ही के कारण भ्रम मात्र है और आत्मा तो सुख-दु:ख से अतीत है। इस अद्वैतवादी व्याख्या से मनुष्य न तो अशुभ से छूटने का पुरुषार्थ कर सकता है, न अशुभ और शुभ के स्वरूप को जान सकता है और न ही उसे इससे राहत मिलती है। क्योंकि दु:ख-दर्द से कराहते हुए मनुष्य को यह कहने से कि उसका दु:ख कल्पित है, उसे शान्ति नहीं मिलती बल्कि उसके ज़खम पर नमक पड़ता हुआ मालूम होता है।

पुनश्च, यदि इस व्याख्या पर दार्शनिक दृष्टि से विचार किया जाय तो प्रश्न उठता है कि यदि अशुभ है ही नहीं तब तो फिर शुभ भी नहीं रहा क्योंकि शुभ तो अशुभ की तुलना में ही 'शुभ' कहला सकता है। इसके अतिरिक्त, जिस तर्क और बुद्धि के आधार पर अद्वैतवाद अशुद्ध को प्रतीतिमात्र मानता है, उस आधार पर तो शुद्ध को भी प्रतीति अथवा कल्पना सिद्ध किया जा सकता है। तीसरे, अद्वैतवाद इस प्रश्न का भी सन्तोषजनक निराकरण नहीं करता कि यदि एक पूर्ण ब्रह्म है और ज्ञानस्वरूप है तो दु:ख की प्रतीति क्यों होती है और वह अज्ञानता से आवृत्त क्यों होता है और यदि स्वयं ब्रह्म की स्वेच्छा ही से ऐसी प्रतीति होती है तो फिर इससे मुक्त होने के पुरुषार्थ की क्या आवश्यकता है और उसका संकल्प कौन करता है? अद्वैतवादी

कहते हैं कि 'माया' जो ही जीव को आवृत्त किए हुए है, स्वयं ईश्वर अथवा ब्रह्म ही की एक शक्ति है और इसी के कारण जीव अज्ञानता अथवा अविद्या से ढका हुआ है। यदि ऐसा है तब भी भाव तो यही हुआ कि स्वयं परमात्मा ही ने जीव को दु:ख के वशीभूत किया है। अत: फिर भी वही प्रश्न बना रहता है कि पूर्ण परमात्मा ने ऐसा क्यों किया? इसका उत्तर वे नहीं दे पाते।

हाँ, कई अद्वैतवादी कहते हैं कि परमात्मा ने लीला करने के लिए ऐसा किया। इस विषय में स्वामी रामकृष्ण परमहंस के निम्नलिखित शब्द पढ़िये–

"सभी ईश्वर के अधीन हैं। उन्हीं की लीला है। उन्होंने अनेक वस्तुओं की रचना की है – छोटी-बड़ी, भली-बुरी, मज़बूत-कमज़ोर, अच्छे आदमी-बुरे आदमी। यह सब उन्हीं की माया है, उन्हीं का खेल है। देखो न बग़ीचे में सभी पेड़ बराबर नहीं होते।"

इसमें अद्वैतवादी विचारधारा का स्पष्ट उल्लेख है कि अच्छे और बुरे, दोनों प्रकार के मनुष्य भगवान ने रचे हैं। अत: वही प्रश्न फिर सामने आता है कि ईश्वर ने बुरे मनुष्य क्यों रचे हैं और ऐसी लीला क्यों की जिसमें दु:ख है?

इस प्रकार, हम देखते हैं कि परमात्मा और अशुभ के बारे में कहीं भी सन्तोषजनक व्याख्या नहीं मिलती।

स्वयं परमपिता परमात्मा द्वारा प्राप्त स्पष्टीकरण

अब परमपिता परमात्मा ने स्पष्ट किया है कि हरेक आत्मा परमात्मा से अलग अस्तित्व रखती है और हरेक के संस्कार, विचार तथा कर्म अलग हैं और उन अपूर्ण एवं अल्पज्ञ आत्माओं के अपने-अपने मनोविकारों के परिणामस्वरूप ही संसार में अशुभ अथवा दु:ख का अस्तित्व है। उन्होंने समझाया है कि उन्होंने जिस संसार की रचना की थी, उसमें अशुभ नाम मात्र भी न था, बल्कि उसमें पूर्ण पवित्रता, सुख और शान्ति थी। पुनश्च, उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि उन्होंने सूर्य, चाँद, पृथ्वी आदि की रचना नहीं की बल्कि पूर्व कल्प की अत्यन्त अशुभ एवं दु:ख वाली सृष्टि को सतयुगी शुभ सृष्टि में परिवर्तित किया। इस व्याख्या से परमात्मा ज्ञान, शान्ति, आनन्द और प्रेम आदि गुणों से सदा युक्त सिद्ध होते हैं और प्राय: पूछे जाने वाले प्रश्नों का भी समाधान मिल जाता है। इस बात को जानकर मनुष्य निर्विकार बनने का पुरुषार्थ भी करता है और आगे के लिए बुरे कर्मों से बचने का भी। इससे परमात्मा पर कोई दोष भी नहीं आता और सद्गुणों तथा नैतिक मूल्य रूपी शुभ का यथार्थ बोध भी होता है।

श्री.म. श्रीरामकृष्ण वचनामृत – प्रथम भाग, पृष्ठ २७६



अच्छे पुरुषार्थी के लिये कुछ लाभदायक बातें

यों तो ईश्वरीय ज्ञान और राजयोग का मार्ग बहुत रुचिकर, सहज और कल्याणकारी है, परन्तु फिर भी किन्हीं कारणों से कुछ व्यक्ति कुछ समय के बाद ढीले, पुरुपार्थहीन अथवा उत्साह-हीन होने लगते हैं। वह कारण क्या है और वह कौन-सी बातें हैं जिन पर हमारा ध्यान बना रहे ताकि हमारे पुरुषार्थ में सुस्ती, थकावट आदि न आये, उनकी चर्चा यहाँ की गयी है।

१. माया से हमारा युद्ध है

सबसे पहली बात तो हरेक पुरुषार्थी को अपने मन में यह धारण करनी चाहिये कि — "अब हमने माया अर्थात् अज्ञान और विकारों से युद्ध करने की ठानी है, अतः माया, जिसको कि हमने अपना शत्रु माना है, की ओर से हमारे मार्ग में रुकावटें आयेंगी अवश्य। वह रुकावटें अथवा विघ्न ऐसे होंगे जो कि ईश्वर से हमारा हाथ छुड़ाकर माया के पंजे में फंसाने वाले होंगे। यह बात याद रखते हुए हमारा पुरुषार्थ प्रतिक्षण, प्रतिपल यही होना चाहिये कि हम इस ईश्वरीय मार्ग से न हटें।"

सभी जानते हैं कि युद्ध के समय शत्रु की एक बड़ी कोशिश यही रहती है कि विरोधी की रसद अथवा सप्लाई लाइन (Supply Line) काट दी जाय। अब ईश्वरीय ज्ञान और सहज राजयोग मार्ग के हम पुरुपार्थियों के लिये सहायता का क्षेत्र हमारी दैनिक ज्ञान-कक्षा (Class) ही है। अतः हरेक पुरुपार्थी को सदैव यह संकल्प दृढ़ रखना चाहिये कि चाहे क्या भी हो, चाहे हमारे लौकिक 'मित्र-सम्बन्धी' विघ्न डालें या हमारी अपनी शारीरिक अथवा मानसिक सुस्ती हो या हमारे सहपाठियों द्वारा किसी रूप में भी कभी हमारे सामने कोई रुकावट आवे, चाहे हमारे अपने ही विकल्पों के कारण हम योग-निष्ठ न हो सकते हों, हमें प्रतिदिन क्लास (Class) अवश्य करना है, अर्थात् इस ईश्वरीय ज्ञान के शिक्षा-केन्द्र पर अवश्य जाना है।

२. माया के अनेक रूपों की पहचान

प्रश्न उठता है कि 'माया' की पहचान क्या है? देखा जाय तो ईश्वर को पहचानना सहज है, परन्तु माया को पहचानना अधिक कठिन है, क्योंकि माया बहुरूपिणी है। परन्तु एक बात स्पष्ट है कि — "जो भी बात ईश्वरीय ज्ञान से अथवा ईश्वर से हटाती है वह 'माया' है।"

हैं, परन्तु बाद में ज्ञान-मार्ग पर चलने वाले कुछेक व्यक्तियों की ओर से भी उसके सामने कुछ परीक्षाएं या कुछ कठिनाइयां उपस्थित हो सकती हैं। कई मनुष्य अज्ञानी लोगों द्वारा सामने आये विघ्नों को तो दृढ़ मन्सा से पार कर लेते हैं, परन्तु ज्ञान-मार्ग के अपूर्ण पुरुषार्थियों द्वारा आने वाली कठिनाइयों के सामने वे रुक जाते हैं – यह उनकी कमज़ोरी होती है। अच्छे पुरुषार्थी को उन्हें भी सफ़लतापूर्वक पार करना चाहिये।

फिर, मनुष्य को अपनी ही देह की ओर से भी कुछ रुकावटों का सामना करना पड़ता है। दैहिक रोग एक प्रकार का विघ्न ही है। यह मार्ग तो बहुत सहज है, परन्तु अपने ही कर्मों के आधार पर इस रास्ते में चलते-चलते दैहिक हिसाब-किताब आदि सामने आते हैं तो कठिनाई का अनुभव होता है। ऐसी परिस्थिति में अच्छे पुरुषार्थी को याद रखना चाहिये कि वर्तमान जन्म हमारा अन्तिम जन्म है, हमें 63 जन्मों के विकर्मों का खाता चुकता करना है और यह पुरुषार्थ करना है कि धर्मराजपुरी में पूर्व-काल में किये विकर्मों का दण्ड न भोगना पड़े, बल्कि उन्हें यहीं चुक्ता करके हम 21 जन्मों के लिये स्वर्गिक सुख पा सकें। तो स्पष्ट है कि **शारीरिक रोग आदि-आदि के रूप में विघ्न तो आयेंगे ही।** आर्थिक कठिनाई भी होगी ही, और भी परीक्षाएं होंगी ही। इस बात को याद रखने से अच्छा पुरुषार्थी दृढ़ता से चलता चलेगा और डिगेगा नहीं। वर्ना कई पुरुषार्थी अज्ञानता-वश कहते हैं – "हम शिव परमात्मा का ज्ञान तो प्रति-दिन सुनते हैं, यथा-योग्य इस ईश्वरीय सेवा-कार्य में सहयोग भी देते हैं, फिर भी शिव बाबा (परमपिता) हमारी सहायता नहीं करता! शायद परमपिता शिव यह नहीं चाहता कि हम ज्ञान-मार्ग पर चलें, शायद इस सृष्टि रूपी नाटक में, इस ज्ञान-मार्ग पर चलने का हमारा पार्ट (Part) नहीं है!" इस प्रकार, माया उनके मन में आती है और वे उसे न पहचान कर, ज्ञान-मार्ग को छोड़कर अपना भाग्य गँवा बैठते हैं।

कई बार ऐसा भी होता है कि पुरुषार्थ के प्रारम्भिक दिनों में मनुष्य को बहुत खुशी, बहुत उल्लास और बहुत शक्ति का अनुभव होता है, परन्तु कुछ समय के बाद वे अपनी प्रगति में तीव्रता न पाकर निराश-से होने लगते हैं। वास्तव में बात यह है कि पुरुषार्थ के प्रारम्भिक दिनों में परमपिता शिव परमात्मा की विशेष सहायता पुरुषार्थी को मिलती है, ताकि वह ज्ञान-मार्ग पर चलने का साहस करे, परन्तु धीरे-धीरे उसे अपने ही पाँव पर खड़ा करने के लिये कभी-कभी उतनी सहायता नहीं भी मिलती। वास्तव में यह सब होता तो पुरुषार्थी के अपने ही कल्याण के लिये है, परन्तु इस रहस्य को न समझने के कारण कोई-कोई पुरुषार्थी डाँवाडोल हो जाता है – यह उसकी ग़लती है। कभी-कभी तो मनुष्य अपने सहगामियों से पूर्ववत अथवा अधिक स्नेह और सम्मान न मिलने जैसी मामूली बात

के परिणामस्वरूप भी ज्ञान-मार्ग से पीछे हटने-सा लगता है, परन्तु सोचने की बात यह है कि इसमें मार्ग की क्या कमी है? मार्ग तो ठीक ही है, परीक्षाएं भी हर प्रकार की आनी ही हैं, अतः 'पुरुषार्थ' तो उन्हीं का सामना करने का नाम है।

माया का एक विकराल रूप और भी है। जब कोई पुरुषार्थी किसी चिरकालीन पुरुषार्थी में कोई कमज़ोरी या त्रुटि देखता है तो कभी वह घबराकर, उत्तेजित होकर या निरुत्साहित होकर यह संकल्प कर लेता है कि जब इतने वर्षों में भी इसमें यह कमी नहीं गयी तो क्या फायदा? वास्तव में ऐसा विचार भी ग़लत और हानिकारक है, क्योंकि हमें तो यह ईश्वरीय शिक्षा मिली है कि दूसरों के पुरुषार्थ की ओर हमें नहीं देखना चाहिये और यदि हम देखते भी हैं **तो उनके गुणों को ही देखना चाहिए** वर्ना तो हमें सदैव प्रजापिता ब्रह्मा तथा जगदम्बा सरस्वती को या परमपिता परमात्मा शिव को ही अपने सामने रखना चाहिए।

यज्ञ के लिये मन, वचन और शरीर से कोई कार्य

अच्छे पुरुषार्थी को एक बात यह भी ध्यान में रखनी चाहिये कि जैसे-जैसे वह इस ईश्वरीय पढ़ाई में आगे बढ़ता है, उसे तन, मन और धन से कोई सेवा भी करनी चाहिये। वास्तव में यह सेवा ही उसके लिये अब आत्मिक खुराक सिद्ध होगी। जैसे बच्चे से बड़ा होकर मनुष्य के भोजन की मात्रा भी बढ़ जाती है, वैसे ही हम भी इस पढ़ाई में जितने पुराने अथवा बड़े होते जाते हैं, हमें भी उतनी ही अधिक सेवा करनी चाहिये।

३. परीक्षाएं बड़ी होती जायेंगी, उन्हें पार करना है

अच्छे पुरुषार्थी को यह याद रखना चाहिये कि हम पढ़ाई पढ़ रहे हैं। जैसे बच्चा किंडरगार्डन (K.G.; बाल-विहार) पढ़ने के बाद आगे-आगे पढ़ता है तो मैट्रिक, एफ.ए., बी.ए., एम.ए., पी.एच.डी. डॉ. आदि-आदि उत्तरोत्तर बड़ी परीक्षाएं उसे पार करनी पड़ती हैं, वैसे ही इस ईश्वरीय ज्ञान में भी होता है। दिनोंदिन हमारे सामने बड़ी परीक्षाएं आयेंगी, वह हमें ही अनुभवी बनाने के लिये हैं। हमें उन्हें पार करने का यत्न करना चाहिये। यदि हम असफ़ल भी होते हैं तो भी हमें घबराना नहीं चाहिए।

इस प्रकार अंगद की तरह दृढ़ता से हमें ज्ञान-मार्ग पर अपना पांव जमाना चाहिये। माया हमारे पग को हिलाने की कितनी ही कोशिश क्यों न करे हमें दृढ़ और अडिग रहना चाहिये। कभी भी संशय न लाकर हमें "एक बल, एक भरोसे" ही का आधार लेना चाहिये। ऐसा करने पर भले कठिनाइयाँ आयेंगी परन्तु माया हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकेगी!



कष्ट के लिए क्षमा कीजियेगा

आज लोग जब किसी को कोई कार्य करने के लिए कहते हैं तो कार्य प्रारम्भ होने से पहले अथवा कार्य हो चुकने के बाद वे उसे यह भी कहते हैं कि — ''कष्ट के लिये क्षमा कीजियेगा।'' उर्दू भाषा-भाषी कहते हैं — ''तकलीफ़ माफ़!'' अंग्रेज़ी बोलने वाले लोग कहते हैं — ''प्लीज़ ऐक्सक्यूज़ मी फॉर दिस ट्रबल'' (Please excuse me for this trouble) ऐसा कहना आजकल के शिष्टाचार में शामिल है। वह वर्त्तमान सभ्यता का प्रतीक है। परन्तु प्रश्न उठता है कि हम ऐसा क्यों कहते हैं?

ध्यान दीजिए कि जब एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को कोई कार्य देते हुए कहता है कि — ''कष्ट के लिए क्षमा कीजियेगा,'' तो दूसरा व्यक्ति इन पांच उत्तरों में से ही प्राय: कोई-न-कोई उत्तर देता है —

पाँच प्रकार के उत्तर

या तो वह कहता है — ''अजी वाह, कष्ट की क्या बात है, यह कोई केवल आपका कार्य थोड़े ही है, यह तो **हमारा भी कार्य** है। अपने कार्य के लिए क्या कष्ट?'' ऐसा उत्तर प्राय: तब मिलता है जब दोनों व्यक्ति एक ही परिवार, धर्म, जाति, संस्था आदि के हों या व्यापार आदि में साझीदार हों या कार्य में दोनों की दिलचस्पी हो।

कई बार ऐसा उत्तर भी मिलता है — ''नहीं, नहीं, इसमें कष्ट की तो कोई बात ही नहीं, यह तो हमारा **कर्त्तव्य** है। इसे करने से हम आप पर कोई एहसान थोड़े ही करेंगे? यह तो हमें करना ही चाहिए।'' यह उत्तर तब मिलता है जब कार्य देने वाले ने ''कष्ट के लिए क्षमा'' — ऐसा कह तो दिया हो, परन्तु वास्तव में उस कार्य में उसका अपना कोई स्वार्थ न हो, बल्कि वह दूसरे व्यक्ति को चतुराई से उसका कर्त्तव्य बता रहा हो — यह कर्त्तव्य किसी दफ्तर का कर्मचारी होने के नाते या अन्य किसी कारण से हो सकता है।

कभी-कभी ऐसा भी उत्तर सुनने को मिलता है — ''लो, आप यह क्या कह रहे हैं! इस कार्य को करने में तो मेरा **अपना ही लाभ** है। इसमें तो कष्ट का प्रश्न ही नहीं उठता।''

यह उत्तर भी कई लोग देते हैं — ''नहीं, नहीं, कष्ट की कोई बात न यह तो खुशी की बात है। मैं इस कार्य को ज़रूर करूँगा! आ[illegible] तो [illegible]

मेहरबान हैं। आपके तो हम पर बहुत एहसान हैं।''

एक उत्तर यह भी होता है — ''कोई बात नहीं, कर दूँगा! जब कोई कार्य करना ही है तो कष्ट या न-कष्ट की क्या बात है? आप भी तो हमारी सहायता करते ही हैं!''

ऊपर जो पहले चार उत्तर दिये गये हैं, उनसे स्पष्ट है कि जब हम किसी व्यक्ति को कोई ऐसा कार्य करने के लिए कहते हैं जो कि देश, धर्म, संस्था, परिवार या साझे व्यापार आदि-आदि के हित के लिये अर्थात् **सामूहिक हित के लिए** हो तो उस व्यक्ति को कोई कष्ट अनुभव नहीं होता। जिस कार्य को करना उसका **कर्त्तव्य** हो अथवा जिसे करना उसके अपने लिए **लाभकर** हो, उसे करने में भी वह कष्ट नहीं मानता। यदि किसी व्यक्ति ने **उसका उपकार** किया हो, उसे स्नेह और सहायता दी हो, उसका कार्य करने में भी वह खुशी मानता है। वह कष्ट तो केवल तब मानता है जब कोई व्यक्ति बिना अधिकार के उससे निजी लाभ के लिये कार्य लेने की चेष्टा कर रहा हो।

इसके अतिरिक्त, मनुष्य को कष्ट तब भी अनुभव होता है जब उसकी अपनी परिस्थितियों, सामर्थ्य तथा अभिरुचियों का ख्याल न करके ज़बरदस्ती उस पर कोई कार्य लादा जा रहा हो।

इनका निष्कर्ष

इन सभी बातों पर विचार करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जहाँ तक सम्भव हो सके मनुष्य को एक तो अपने निजी कार्य के लिए अन्य किसी को नहीं कहना चाहिए। बहुत मजबूरी की हालत में ही अपने लिए दूसरे को कोई कार्य कहना चाहिए। अपने लिए दूसरों को कष्ट देने से सचमुच हम पर कर्मों का बोझ चढ़ता है; हम कष्ट के भागी बनते हैं। ''कष्ट के लिए क्षमा'' या ''मैं आपका एहसानमन्द हूँ'' — ऐसा कहने से कर्म का बोझ नहीं उतर जाता।

दूसरे, किसी को कार्य देते समय उसकी परिस्थितियों आदि की ओर भी हमें थोड़ा ध्यान देना चाहिए। मनुष्य को यह कोशिश करनी चाहिए कि जिसे कार्य दिया जा रहा है, वह उस कार्य को भार न समझे, उसे उस कार्य को करने में कष्ट न अनुभव हो, बल्कि खुशी हो अथवा उसमें उसकी कर्त्तव्य-भावना रहे। परन्तु आज लोग इन बातों पर तो ध्यान नहीं देते, बल्कि जल्दी ही दूसरों को असुविधा अथवा कठिन परिस्थिति में डालकर केवल इतना कह देना ही पर्याप्त समझते हैं कि — ''कष्ट के लिए क्षमा कीजियेगा!'' क्या उन्होंने यह एक

तकिया-ए-कलाम बना लिया है।

"कष्ट के लिये क्षमा" – क्या ऐसा कहने की ज़रूरत है?

यदि हम किसी व्यक्ति को कोई ऐसा कार्य देते हैं जो कि **जन-हित** का कार्य है, तब हमें – "कष्ट के लिए क्षमा" – ऐसा क्यों कहना चाहिए? इन शब्दों का प्रयोग करके तो हम वातावरण में उल्लास और कर्त्तव्य-परायणता की लहरें पैदा करने की बजाय मायूसी लाते हैं! ऐसे कार्य के लिए तो हमें यह कहना चाहिए कि – "क्या आप यह पुण्य का कार्य करेंगे?" अथवा यदि हम जानते हैं कि अमुक कार्य किसी का **कर्त्तव्य** है तो हम कह सकते हैं कि – "क्या आप कृपया इसे करेंगे?" अथवा "मेहरबानी करके ज़रा इसे कीजिएगा।" – इस प्रकार के शिष्टाचार-युक्त शब्द भी तो हम प्रयोग कर सकते हैं। फिर कार्य हो चुकने के बाद हम – "धन्यवाद", ऐसे शब्दों का भी प्रयोग कर सकते हैं। हम एक-दूसरे को कष्ट देने और फिर "कष्ट के लिए क्षमा" ऐसा कहने की बात ही क्यों सोचें? परन्तु आज यह वाक्य **(कष्ट के लिये क्षमा कीजिएगा)** हमारी जिह्वा पर चढ़ चुका है और हम दूसरों को कष्ट देने के कार्य भी करते रहते हैं और "माफ़ कीजिएगा" (I am sorry) -- ऐसा भी हम सहज रूप से कहते रहते हैं। क्या ही अच्छा हो कि हम ऐसे कर्मों को छोड़ते जाएं जिनके लिए "क्षमा" (Sorry) -- ऐसा कहना पड़ता है। इस वाक्य का अधिक प्रयोग आजकल के शिष्टाचार का सूचक तो है, परन्तु श्रेष्ठाचार का सूचक नहीं है। श्रेष्ठ आचार वाला व्यक्ति दूसरों को कष्ट पहुँचाने का कोई कर्म ही नहीं करता और यदि किसी परिस्थिति में या मजबूरी के वश ऐसा कर्म हो भी जाय अथवा बिना समझे ही कोई ऐसा कर्म वह कर भी बैठे, तब वह सच्चे दिल से, न कि रस्म के तौर पर कहता है कि – "कष्ट के लिए क्षमा कीजिएगा!"



कर्मातीत अवस्था

इस संसार में हरेक मनुष्य की अवस्था अथवा मानसिक स्थिति अलग-अलग है। देखा गया है कि मनुष्य की जैसी मान्यतायें होती हैं अथवा जैसी उसकी धारणायें होती हैं, वैसे ही उसकी अवस्था होती है। सब प्रकार की अवस्थाओं में से कर्मातीत अवस्था को श्रेष्ठ माना गया है। यह अवस्था ईश्वरीय ज्ञान की धारणा से और सहज राजयोग के अभ्यास से ही प्राप्त होती है। अत: जो मनुष्य ईश्वरीय ज्ञान और सहज राजयोग की शिक्षा प्राप्त करता है, उसे यह तो पता होना ही चाहिये कि कर्मातीत अवस्था, जोकि उसके जीवन का लक्ष्य है, के लक्षण क्या हैं?

१. 'कर्मातीत' का अर्थ है – कर्म के परिणाम से अतीत

मनुष्य के हरेक काम का कोई-न-कोई परिणाम तो निकलता ही है। कर्म करने पर उसे या तो सफ़लता मिलती है या असफ़लता का सामना करना पड़ता है। परन्तु ज्ञानवान और योगाभ्यासी मनुष्य कर्मातीत अवस्था के जितना-जितना निकट पहुँचता है, उतना-उतना वह कर्म के परिणाम से कम प्रभावित होता है। वह सफ़लता, असफ़लता दोनों में एक-समान रहता है। कार्य में असफ़लता होने पर, विघ्न आने पर वह निराश (Frustrated) नहीं होता, थकावट (Fatigued) अनुभव नहीं करता, उदास या मायूस (Dejected) नहीं हो जाता और रुकावट डालने वालों से जला-भुना या कटा हुआ-सा (Stung or hurt) अनुभव नहीं करता, बल्कि इन प्रभावों से अतीत रहता है। असफ़लता सामने आने पर वह अपने योग-बल को बढ़ाने, अवस्था को उच्च, अव्यक्त और शक्तिशाली बनाने के यत्न में और अधिक तीव्रता लाने का पुरुषार्थ करता है। **उसके चेहरे पर असन्तुष्टता (Dis-satisfaction & unenthused) के चिह्न नहीं आते, मन में हिम्मतहीन (Broken-hearted) होने का भाव पैदा नहीं होता तथा वचन में हताश होने, अपने भाग्य से नाराज़ होने या दूसरों के असहयोग के कारण उनसे रुष्ट होने के भाव प्रकट नहीं होते। वह उलाहना (Regret, Complaint), अवहेलना (Disinterestedness), अलबेलापन (unconcerned), अलग होकर अथवा असहयोगी होकर रहने के भाव को प्राप्त नहीं होता,** बल्कि अपने कर्म का जो भी परिणाम उसके सामने आता है, वह उसे सृष्टि रूपी ड्रामा अथवा चल-चित्र का एक दृश्य मानकर, साक्षी होकर उसे देखता रहता है। 'यह सृष्टि एक अनादि बना-बनाया विराट ड्रामा है, हरेक मनुष्य इसमें अपना-अपना पार्ट बजा रहा है, जो हो रहा है वह किन्हीं अटल नियमों के अनुसार ठीक ही हो रहा है' – इस

ज्ञान के पट्टे पर अथवा ड्रामा के पट्टे पर वह ठीक ही चलता रहता है। अथवा सफ़लता-असफ़लता के सामने वह इस ज्ञान को ढाल के रूप में अपनाता है और इस प्रकार अप्रभावित और न्यारा होकर रहता है। सफ़लता हो तो वह बहुत ज्यादा उछलता और इठलाता नहीं बल्कि उससे निष्कर्ष लेता है कि पुरुषार्थ ठीक था। असफ़लता हो तो वह घबराता, सकुचाता और सटपटाता नहीं, बल्कि 'होनी' अथवा 'भावी' को अटल मानकर अपने पुरुषार्थ को ठीक करने पर ध्यान देता है। इस प्रकार वह कर्म के परिणाम से अतीत रहता है और हर हाल में खुश तथा पुरुषार्थ में सदैव तत्पर रहता है।

२. पूर्व कर्मों के फल से भी अतीत

पिछले कर्मों की प्रारब्ध के तौर पर यदि रोग, दुर्घटना, आर्थिक हानि, मित्र की मृत्यु आदि के रूप में परिस्थितियाँ उसके सामने आएं तो भी वह दु:खित नहीं होता बल्कि ऐसा समझता है कि पिछले कर्मों का हिसाब-किताब चुकता हो रहा है। उदाहरण के तौर पर यदि खाँसी हो जाय और इलाज करने के बावजूद भी वह न जाय तो वह कहता है कि – 'यह तो मेरी पुरातन सखी है।' यदि पुरुषार्थ करने के बावजूद भी कोई आर्थिक संकट आ जाय तो वह कहता है कि – 'हम बिल्कुल फ़कीर (Beggar) बनने के बाद ही तो विश्व के मालिक (Prince) बनेंगे।' वह यह सोचता है कि – 'यह हमारी निश्चय की परीक्षा हो रही है। यदि हम ईश्वरीय निश्चय पर क़ायम रहकर पुरुषार्थ करेंगे तो हम भूखे नहीं मरेंगे। बाकी, हाँ, भूख-प्यास, हानि-लाभ – यह सब भी सहन करना तो सीखना ही है न।' इस प्रकार वह खुशी-खुशी प्रभु-आश्रित होकर अपने पिछले कर्मों के प्रारब्ध के रूप में सामने आयी परिस्थिति को पार करता है। वह उसके दु:ख रूपी फल से अतीत रहता है।

३. कर्म-सम्बन्ध से अतीत

साधारण मनुष्य जब कर्त्तव्य करता है तो उसे कर्म-सम्बन्ध का भान रहता है। 'ये मेरे बच्चे हैं, वह मेरी बहन है' – इस प्रकार की दृष्टि उसकी सदा ही बनी रहती है। परन्तु जो कर्मातीत अवस्था के निकट पहुँचता है, उसे इन कर्त्तव्यों का भान नहीं रहता। वह कर्म तो करता है, उन सम्बन्धों का परिचय भी उसे होता है, परन्तु उसकी सम्बन्ध की रग उनसे नहीं जुटी होती अर्थात् उसका मन उन सम्बन्धों के रस में घुल नहीं जाता, वह संवेदनायुक्त नहीं होता, भावावेश में नहीं आता, उन सम्बन्धों में विलीन भी नहीं हो जाता, बल्कि वह उन सभी को आत्मिक ही दृष्टि से देखते हुए उनसे व्यवहार करता है। वह उनके प्रति कल्याण की भावना तो रखता है, उनसे उचित

स्नेह भी करता है, परन्तु उनमें उसकी ममता नहीं रहती, आसक्ति नहीं होती, **घनिष्ठता** (Familiarity) **नहीं होती, हार्दिक आकर्षण** (Attraction) **नहीं होता, उनके नाम-रूप के प्रति लगाव नहीं होता अथवा उनसे लौकिक बातों के लेन-देन करने की उसे उत्कण्ठा नहीं होती।** वह न उनका शरीरान्त होने पर आंसू बहाता है, न ही उनके लिए उसका हृदय कभी विह्वल होता है। वह कर्त्तव्य समझकर कर्म करता है परन्तु न्यारा और प्यारा होकर बरतता है।

४. कर्म के फल की इच्छा से अतीत

कर्मातीत अवस्था के निकट पहुँचने वाले मनुष्य को किसी भी चीज़ की इच्छा नहीं रहती। वह लोक-कल्याण के लिए अथवा आत्मा की उन्नति के लिए तो कर्म करता ही है, परन्तु उसे सांसारिक वैभवों की, ऐश-आराम की, मोटर-गाड़ियों की, महल-माड़ियों की इच्छा नहीं रहती। वह भोजन तो करता है, परन्तु किसी विशेष पदार्थ की इच्छा से नहीं करता, बल्कि आध्यात्मिक पुरुषार्थ के लिए शरीर को एक अनमोल साधन मानकर शरीर को स्वस्थ और शक्ति-सम्पन्न बनाये रखने के लिए ही करता है। वह जो-कुछ भी करता है, लोक-संग्रहार्थ करता है, उसे किसी चीज़ की तृष्णा या लालसा नहीं होती, बल्कि उसमें त्याग और सेवा की भावना ही प्रधान होती है और उसकी वृत्ति उपराम होती है। उसे न मान और यश की इच्छा होती है, न ठाठ-बाट की, बल्कि वह सन्तोषी और मुदित अवस्था में रहता है और ईश्वरीय मस्ती में मस्त रहते हुए अथक होकर सेवा में लगा रहता है। सेवा-सेवा-सेवा यही तात उसे दिन-रात लगी रहती है।

५. कर्म-जन्य शरीर के भान से अतीत

कर्मातीत अवस्था के समीप पहुँचने वाले मनुष्य को अपने कर्म-जन्य शरीर का भान नहीं होता, बल्कि वह अव्यक्त में रहता है। उसे कर्मेन्द्रियाँ आकर्षित नहीं करतीं। वह विदेह अवस्था को प्राप्त होता है। वह अशरीरी अथवा आत्म-निष्ठ अवस्था में टिक जाता है। यह बहुत उच्च स्थिति है। यह निरन्तर योगाभ्यास से ही प्राप्त होती है। इस अवस्था वाले में बहुत हर्ष, बहुत उल्लास, निर्भीकता, मधुरता और स्फूर्ति होती है। ऐसी अवस्था वाले के निकट बैठने से ही वातावरण में पवित्रता, प्रकाश और शान्ति महसूस होती है। प्रारम्भ में मनुष्य कर्म करते हुए शरीर-भान से अतीत नहीं हो सकता, परन्तु धीरे-धीरे, ऊपर लिखी बातों का अभ्यास करते-करते उसे सर्व-प्राप्तियाँ हो जाती हैं।



मनुष्य ईश्वरीय स्मृति का आनन्द लेने से वंचित गृहस्थ-व्यवहार में व्यस्तता के झूठे बहाने

वर्तमान समय मनुष्य का जीवन बहुत ही दु:खी और अशान्त है। कभी तो उसे स्वजनों द्वारा ही वेदना होती है, कभी वह प्राकृतिक आपदाओं के कारण पीड़ित हो जाता है और कभी उसका अपना ही मन व्यर्थ की उधेड़-बुन के कारण अथवा वासनाओं तथा विकारों के कारण अशान्त रहता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य को स्थायी और सम्पूर्ण शान्ति देने के लिए स्वयं परमपिता परमात्मा शिव परमधाम से ज्ञानामृत और सहज योग रूपी साधन लाये हैं जिससे कि वह जन्म-जन्मान्तर के लिए तृप्त हो सकता है। परन्तु कितनी अजीब बात है कि मनुष्य शान्ति चाहता हुआ भी शान्ति लेता नहीं, आनन्द की कामना करता हुआ भी आनन्द के सागर परमात्मा से अपना नाता जोड़ता नहीं, जीवन को सुखी और श्रेष्ठ बनाने की इच्छा होने पर भी उसके लिए जो ज्ञान है उसकी ओर वह ध्यान नहीं देता, बल्कि गृहस्थ-व्यवहार में व्यस्तता का बहाना तथा अन्य बहाने बनाकर टाल देता है, गोया अपने सौभाग्य को टाल देता है और ईश्वर से अविनाशी विरासत लेने से इन्कार कर देता है।

गृहस्थ-व्यवहार में व्यस्तता का बहाना व्यर्थ कैसे है?

आज जब मनुष्य को हम यह निमंत्रण देते हैं कि दो घड़ी तो अपने उस परमपिता की चर्चा भी सुन लिया करो और उसकी मधुर स्मृति का अलौकिक सुख लूट लिया करो; तब भी वह यही तान छेड़ देता है कि "अवकाश नहीं, मैं एक गृहस्थी हूँ।" परन्तु सोचने की बात है कि गृहस्थ तो अनादि काल से चला आया है, गृहस्थ अथवा प्रवृत्ति के ताने-बाने से ही तो यह संसार बना हुआ है। परन्तु यह कहना कि हम प्रवृत्ति में वर्तते हुए प्रभु को याद नहीं कर सकते, यह व्यर्थ बहाना है, क्योंकि यदि मनुष्य इसमें अपना कल्याण समझते हुए इसे अपना कर्त्तव्य समझे तो वह ईश्वरीय स्मृति का सुख प्राप्त कर सकता है।

आप मनुष्य की दिनचर्या पर ध्यान देंगे तो देखेंगे कि मनुष्य अपना अधिकतर समय उस कार्य में लगाता है जिसे वह अपना कर्त्तव्य मानता

दुकान पर या दफ्तर में जाने की बात होती है तो वह कहता है कि – "यह मेरा **कर्त्तव्य** है, क्योंकि बाल-बच्चों का पालन-पोषण और गृहस्थ को चलाने के लिए कमाना **ज़रूरी** है।" परन्तु यदि किसी दिन घर में बच्चा सख़्त बीमार हो जाता है या पत्नी को कोई बड़ा कष्ट होता है तो वह उस दिन दुकान पर भी नहीं जाता। पहले वह दुकान पर जाना कर्त्तव्य और आवश्यक मानता था, परन्तु अब उससे भी अधिक महत्व वह बच्चे या बीबी की औषधि-उपचार का प्रबन्ध करने के कार्य को देता है। गोया वह पैसा कमाने के साधन को भी छोड़कर बच्चे-बीबी को डाक्टर के पास ले जाता है और अपने पल्ले से दवा-दारू पर कुछ खर्च भी कर आता है। भला क्या कारण है कि अब वह पैसे कमाने के समय में भी पैसे खर्च करने के लिए तैयार हो जाता है? यही कि वह अपना **कर्त्तव्य** समझता है और उसे **आवश्यक** मानता है। इसी प्रकार, एक माता की दिनचर्या पर ध्यान दीजिये। वह भी प्रात: बच्चे को नहलाती-धुलाती है और तैयार करके स्कूल भेजती है, क्योंकि वह समझती है कि माँ होने के नाते यह उसका कर्त्तव्य है। तो आपने देखा कि कर्त्तव्य के लिए मनुष्य खुद-ब-खुद समय निकालता है। माँ को भला रोज़ यह उपदेश तो दिया नहीं जाता कि उसे बच्चों की यह सेवा करनी है, बल्कि उसे कर्म को करने या न करने के परिणाम का ज्ञान होता है और यह ज्ञान उसे कर्त्तव्य करने के लिए प्रेरित करता है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि आज मनुष्य परमपिता परमात्मा की याद में नहीं रहता, क्योंकि वह इसे अपना परम कर्त्तव्य नहीं मानता। ईश्वरीय स्मृति में स्थित होने तथा ज्ञानामृत द्वारा पवित्र बनने का पुरुषार्थ रूपी कर्त्तव्य करने का क्या फल होगा और इसे न करने का क्या परिणाम होगा, इसे वह पूरी तरह नहीं जानता। उसे यह बात भी पूरी तरह ज्ञात नहीं है कि उसके जीवन में जितने भी प्रकार के दु:ख हैं, उनका कारण यह है कि वह आत्मिक-स्वरूप के ज्ञान में तथा परमपिता परमात्मा की स्मृति में स्थित नहीं है। यदि वह इस रहस्य को जानता और मानता तो अवश्य ही इसके लिए भी समय निकालता।

ध्यान देने के योग्य एक दूसरी बात यह है कि मनुष्य कर्त्तव्य भी उन लोगों के प्रति करता है जिसमें वह अपना कोई **सम्बन्ध** समझता है। उदाहरण के तौर पर यदि उसके लौकिक सम्बन्धियों में से किसी की शादी हो या किसी की मृत्यु हो या किसी को किसी रोग ने ग्रसित कर लिया हो तो वह उनके लिये समय निकाल लेता है। वह कहता है कि उनके यहाँ मुझे अवश्य जाना है, क्योंकि वे

मेरे सम्बन्धी हैं और आज मैं उनके यहाँ जाऊंगा तभी कल वे भी मेरे पास आयेंगे और मेरे सहायक बनेंगे। परन्तु कितने आश्चर्य की बात है कि परमात्मा के बारे में यह जो कहा गया है कि "पितु-मात सहायक स्वामी सखा, तुम ही एक नाथ हमारे हो...।" इसका निश्चयात्मक ज्ञान न होने के कारण वह उस सच्चे माता-पिता, सखा-सहायक अथवा परम सम्बन्धी को भूल जाता है, तभी तो वह कहता है कि उससे नाता जोड़ने का, उसकी स्मृति में रहने का मुझे समय ही नहीं है। उसको यह मालूम ही नहीं कि उस मात-पिता से क्या सहायता प्राप्त होती है। अत: गृहस्थ-व्यवहार में व्यस्तता का बहाना बिल्कुल ही निराधार है, क्योंकि जब मनुष्य दूसरे सम्बन्धियों को सारा दिन याद कर सकता है, उनके लिये समय भी निकाल सकता है और उनके लिये कर्त्तव्य-कार्य भी करता है तो वह परम हितैषी, समर्थ सम्बन्धी परमपिता की याद भला क्यों नहीं कर सकता? वह कर सकता है, परन्तु इस कर्त्तव्य का महत्व नहीं जानता, इससे होने वाले लाभ को नहीं समझता। इसके लिये उसे ज्ञान लेना चाहिए।

"ईश्वरीय ज्ञान की धारणा और योग का अभ्यास कठिन है"— यह बहाना भी ग़लत है

आप देखेंगे कि मनुष्य हमेशा उसी काम को करता है जो सहज हो। वह कोशिश करता है कि कठिन काम भी किसी तरह सहज हो जाये। परन्तु आज लोगों ने यह ग़लत धारणा बना रखी है कि परमात्मा को याद करना, उनकी स्मृति में मन को स्थित करना बहुत ही कठिन है, उनके लिये हठ-क्रियाएं करनी पड़ती है, उपवास करने पड़ते हैं, जंगलों में कन्द-मूल पर निर्वाह करना पड़ता है आदि-आदि। साधु-सन्त भी प्रतिदिन उन्हें अपने व्याख्यान में यही कहते हैं कि मन बड़ा चंचल है, इसलिए मनुष्य आज पुरुषार्थ करना छोड़ देते हैं, वे कहते हैं कि मन चंचल है तो चंचल ही सही। वह कभी थोड़ा-बहुत परमात्मा की स्मृति में बैठते भी हैं तो यदि मन में आनन्द-रस की प्राप्ति नहीं होती तो आगे के लिये वे यत्न छोड़ देते हैं, वे कहते हैं कि आंखें बन्द करके दो सैकेण्ड ईश्वर के प्रति हाथ जोड़ देना ही काफ़ी है। परन्तु उन दो मिनटों में भी उनका मन स्मृति में स्थिति का परम आनन्द लेने का सौभाग्य नहीं पाता। अब वास्तव में देखा जाय तो मनुष्य की यह हालत उस परमपिता का तथा अपना यथार्थ परिचय न होने के कारण, परमात्मा की स्मृति में एकाग्रता के बारे में [illegible] के झूठे कथनों के कारण और पुरुषार्थ-हीनता का भाव तथा आलस्य के स्वभाव के कारण ही

है। ज़रा बताइये कि माँ अपने बच्चे को बोलना सिखाने के लिये कितनी मेहनत करती है? अथवा यदि किसी माँ का कोई बच्चा बोलना नहीं सीखता या सिखाये जाने पर भी नहीं बोल सकता तो माँ को कितनी चिन्ता हो जाती है? वह लोगों तथा वैद्यों द्वारा बताये सभी उपाय उस बच्चे को बोलना सिखाने के लिये करती है।

फिर उसे चलना सिखाने में कितना परिश्रम उसे करना पड़ता है! तब कहीं उस मेहनत के फलस्वरूप वह बच्चा बड़ा होकर कोई बड़ा स्पीकर (वक्ता), विचारक अथवा विद्यावान् एवं गुणवान व्यक्ति बन जाता है। यदि पहले उस पर मेहनत न होती तो वह गूँगा रह जाता और चलने की बजाय खिसक-खिसक कर बढ़ता। अत: लोग बच्चों के लिये कोशिश करते हैं कि उसका पूरा विकास हो, वे उसे किताबें खरीद कर देते हैं ताकि उसकी बुद्धि विकसित हो, वह अपने पाँव पर खड़ा हो सके। फिर वे यह भी ख्याल करते हैं कि उसे कमाई का भी कोई साधन प्राप्त हो, फिर उसको वे घर भी बनाकर देते हैं ताकि उसका कोई ठिकाना हो, वह कहीं दु:खी न हो। इस प्रकार, बच्चे के जन्म के समय से लेकर उस पर कितनी मेहनत करनी पड़ती है! परन्तु कितने आश्चर्य की बात है कि इस मेहनत का हज़ारवाँ या लाखवाँ हिस्सा भी मनुष्य अपने जीवन को सच्ची शान्ति एवं सुख से सरसाने के लिये नहीं लगाता जिससे कि भविष्य में भी जन्म-जन्मान्तर के लिए स्वर्गिक सुख प्राप्त कर ले। इस पुरुषार्थ के लिये तो वह कहता है कि मेरे पास समय नहीं है अथवा कि इस कार्य में मेहनत करनी पड़ती है। परन्तु वह यह नहीं सोचता कि मेहनत तो हर एक कार्य के लिए करनी पड़ती है और मेहनत के बाद ही तो मीठा फल प्राप्त होता है और ईश्वर से विरासत प्राप्त करने की थोड़ी-सी मेहनत तो अमिट और अतुल फल देने वाली तथा अति सहज है, इससे तो मनुष्य सदा के लिए मालामाल हो जाता है।

पुरुषार्थ करते-करते तो मनुष्य ने रॉकेट बना लिए हैं अथवा ऐटामिक शक्ति खोज डाली है। यह कहना कि परमात्मा को याद करना कठिन है, यह तो पुरुषार्थ-हीनता तथा अज्ञानता की निशानी है। मनुष्य के जितने लौकिक सम्बन्धी आज हैं उनसे यदि एक ज्यादा होता तो क्या वह उसे याद न कर सकता? किसी माँ का यदि एक बच्चा बढ़ जाता है तो क्या वह उसके लिए समय नहीं निकालती? अत: समय न मिलने या याद न कर सकने का बहाना झूठा है। जो लोग कहते हैं कि "मन चंचल है, वह टिकता नहीं है", उन्हें सोचना चाहिए

कि जब तक यह ज्ञान न हो कि मन को टिकाना कहाँ है, वह टिकेगा कैसे? इसीलिए, हम कहते हैं कि बच्चों पर तो इतना ध्यान देते हो, धन भी खर्च करते हो, कुछ तो अपना भी भविष्य सुधार लो, ज्ञान प्राप्त करके मन की सच्ची शान्ति का उपाय कर लो।

जंगल में रोड़े-पत्थरों से आश्रम बनाते हैं, घर को आश्रम नहीं बनाते

वास्तव में माँ-बाप पर तो दुगनी ज़िम्मेदारी होती है। यदि उनका स्वभाव शीतल और अवस्था योग-युक्त होगी तो उसका प्रभाव बच्चों पर भी पड़ेगा। नकल करने में तो बच्चा बन्दर के समान होता है। बच्चा सब नकल करता है।

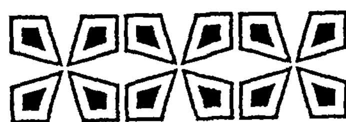
अगर पिताजी अपनी बात मनवाने के लिये माताजी से गुस्सा करते हैं तो बच्चा इस बात को देखता है और सोचता है कि कल यदि उसे भी अपनी बात मनवानी होगी तो वह भी ऐसे ही जोश से बात करेगा। अत: कल वह भी हाथ में छड़ी उठा लेता है। इस प्रकार, वह अच्छी बात भी सीखता है और बुरी भी। अत: गृहस्थी लोगों पर तो दुगनी ज़िम्मेदारी है — अपने जीवन को पवित्र बनाने की भी और बच्चों के जीवन को भी उच्च बनाने की, वर्ना यदि वे स्वयं ईश्वरीय ज्ञान नहीं लेंगे और जीवन को उच्च नहीं बनायेंगे तो बच्चों का जीवन भी बिगड़ जायेगा। जंगल में झोंपड़ी बनाकर आश्रम बना लेने में कोई खास बात नहीं है, घर को 'आश्रम' बनाने की बात बहुत ऊंची है। जंगल में तो मिट्टी, पत्थर, रोड़े लेकर आश्रम बन सकता है, परन्तु घर को तो ईश्वरीय ज्ञान द्वारा ही 'आश्रम' बनाया जा सकता है।

परन्तु आज घर वालों को यह तो ज्ञान है कि घर में घी नहीं है और मिट्टी का तेल भी खत्म हो गया है, इसलिये आज घी और तेल लाना है और राशन भी लाना है, लेकिन उन्हें यह पता नहीं है कि आत्मा की ज्योति बुझ रही है, उसमें ज्ञान-घृत डालना है, आत्मा को भोजन भी देना है। अभी सरदी का मौसम शुरू हुआ तो लोगों ने गरम कपड़े निकालने शुरू किये, अभी दिन का भोजन बना है, फिर रात के भोजन की फ़िक्र लग जाती है। इस प्रकार, मनुष्य भविष्य का विचार तो करता ही है, कोई आगे के दो दिनों की बात सोचता है तो कोई बीस वर्षों के बाद की, परन्तु आज हर-कोई कल की बात सोचता तो है ही, चाहे उसे कल का पता न हो। वह दस-बीस रुपये भी इकट्ठे कर रखता है कि

बच्चों के काम आयेंगे। लेकिन क्या आपने कभी बैठकर जीवन के विषय में भी सोचा है, कभी मन को ठिकाना देने की बात पर भी विचार किया है, भविष्य के लिये अविनाशी कमाई की बात पर भी ध्यान दिया है?

मन चंचल क्यों है?

अगर किसी मनुष्य के पास रहने के लिये कोई मकान न हो, तो वह गली-गली में घूमता है कि कोई खाली मकान रहने के लिये मिले। इसी प्रकार आज मन भी इसीलिये चंचल है कि वह इधर-उधर घूमता है कि कहीं कोई शान्ति का ठिकाना मिले। अगर मन को ऐसा ठिकाना मिल जाय तो वह भटके ही क्यों? अत: आज मनुष्य, जो अपने को इतना समझदार मानता है, उसे इतनी तो समझ चाहिये कि आखिर मुझे जाना कहाँ है और मेरे जीवन का लक्ष्य क्या है? आज जीवन-निर्वाहार्थ धन कमाने में जो सारा दिन लगता है, क्या यही जीवन का लक्ष्य है, क्या यही अनन्त काल तक चलेगा या जीवन इससे कोई ऊंची चीज़ है? जीवन के मूल्य को जानना, स्वयं को पहचानना और शान्ति के सागर परमपिता को पहचानना ही ज्ञान है और यह जानकर उसमें मन को ठिकाना देने से सब दु:ख दूर हो सकते हैं और जीवन में पूर्णत: सुख-शान्ति की प्राप्ति हो सकती है। इसके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है। इस उपाय द्वारा अपने जीवन को सदा के लिये सुख-शान्ति-सम्पन्न बनाने में भी जो मनुष्य बहाने बनाता है वह अपनी अपार हानि करता है।



निश्चय-बुद्धि और स्थिर-बुद्धि

मनुष्य से अकर्त्तव्य अथवा भूल दो कारणों से होती है। भूल का या तो यह कारण होता है कि मनुष्य की वुद्धि समय पर यह नहीं जान सकती कि जो कर्म वह कर रहा है अथवा करना चाहता है वह कर्त्तव्य है या अकर्त्तव्य। दूसरे, यदि उसको मालूम हो भी जाय कि अमुक कर्म वास्तव में अकर्त्तव्य है तो उसकी वुद्धि डोल जाती है, स्थिर नहीं रहती। डोलने का अर्थ यह है कि वह मनुष्य अपने ही निर्णय में संशय करने लगता है अथवा दृढ़तापूर्वक तथा डटकर खड़ा नहीं हो सकता, वल्कि मान-अपमान या लोक-लाज इत्यादि की भावना के वश होकर वह अपने विवेक का हनन कर देता है।

मान लीजिये, किसी मनुष्य को यह मालूम हो गया है कि विकारी मनुष्य के हाथ से बनाया हुआ भोजन मन पर बुरा प्रभाव डालता है। परन्तु जब वह मनुष्य किन्हीं विकारी सम्बन्धियों के पास जाकर ठहरता है तो उसके मन में इस प्रकार संशय उठने लगते हैं कि – "यह खाने से क्या हानि हो जायेगी? जबकि मैं बाज़ार से दूध, मिश्री, औषधि इत्यादि अन्यान्य वस्तुयें ले लेता हूँ, तो खाना खाने से क्या अन्तर पड़ जायेगा?" बस, इस प्रकार संशय हो जाने से वह मनुष्य भगवान् का हाथ छोड़ देता है और अकर्त्तव्य कर बैठता है और भगवान् की आज्ञा के उल्लंघन के कारण दु:ख का भागी बन जाता है। इसलिए ही कहा गया है कि 'संशयात्मा विनश्यन्ति' अर्थात् संशय करने वाले मनुष्य का अधोपतन होता है।

बुद्धि की दूसरी स्थिति यह है कि मनुष्य लोक-लाज से घवराता है। वह सोचता है कि – "यदि मैं इन द्वारा भेंट किया गया खाना न खाऊंगा तो ये लोग नाराज़ हो जायेंगे, मेरे इस व्यवहार को बुरा मानेंगे, वे मुझसे सम्वन्ध तोड़ देंगे और मैं इनको ज्ञान भी नहीं सुना सकूँगा। इन वेचारों को क्या मालूम कि मैं कैसा ज्ञान धारण कर रहा हूँ? जब तक इनको मालूम न हो जाय तव तक तो मुझे खाना ही पड़ेगा। यदि ऐसा 'न' करूँगा तो यह मेरी बात समझेंगे ही नहीं।" इस प्रकार उसका चित्त डोल जाता है, वह अपनी दृढ़ता और धारणा को छोड़कर, दैहिक सम्वन्धियों के प्रभाव में आ जाता है। ऐसे मनुष्य को 'अस्थिर बुद्धि' कहा जाता है। यह आत्मा की निर्वलता, निश्चय की कमी और बुद्धि के व्यभिचारीपन के लक्षण हैं जिनके कारण ही वह व्यक्ति कल्याणकारी परमात्मा की आज्ञा का भी उल्लंघन कर देता है और उसके परिणाम को भी गम्भीरतापूर्वक नहीं सोचता। वह मनुष्यों से सम्वन्ध

जोड़े रखने के लिए परमात्मा से सम्बन्ध तोड़ने को झट तैयार हो जाता है।

ऊपर खाने के बारे में कर्तव्य-अकर्तव्य की जो चर्चा की गई है, वह दूसरे कर्मों के बारे में भी लागू होती है। अस्थिर बुद्धि वाले मनुष्य आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर पाते। निश्चय-बुद्धि अथवा स्थिर-बुद्धि वाला मनुष्य वह है जिसकी बुद्धि ठीक निर्णय दे देती है और जो उस निर्णय पर दृढ़तापूर्वक अर्थात् अडोल मन से टिका रहता है। बुद्धि के इस सद्विवेक के लिये ईश्वर द्वारा प्राप्त ज्ञान और ईश्वरीय योग की आवश्यकता होती है। सभी दु:खों की निवृत्ति के लिए अकर्त्तव्य की निवृत्ति आवश्यक है, अकर्त्तव्य की निवृत्ति के लिए परमात्मा की मार्ग-प्रदर्शना की आवश्यकता है और उसके लिए योग ज़रूरी है क्योंकि योग-युक्त मनुष्य ही परमात्मा की प्रेरणाओं को पकड़ पाता है।

परमपिता परमात्मा तो सदा-स्थिर अर्थात् एकरस हैं। उनका सहारा लेने वाले अथवा उनसे बुद्धि का योग लगाने वाले मनुष्य का चित्त डोलता नहीं है। इसी प्रकार, ईश्वरीय ज्ञान को प्राप्त करने वाला मनुष्य भी एकरस अवस्था में ही रहता है। वह इस सृष्टि रूपी विराट नाटक के भेद को जानता है। वह हर वृत्तान्त और हर घटना को इस बने-बनाये विराट नाटक की एक नूँध (पूर्व-निश्चित चीज़) मानकर, स्वयं साक्षी होकर इसे गुज़ार देता है, क्योंकि वह जानता है कि इस सृष्टि-लीला में सदा एक ही पार्ट नहीं चलता और इस नाटक में होने वाले किसी भी वृत्तान्त को टाला नहीं जा सकता क्योंकि "बनी-बनाई ही बन रही है"; अत: जबकि सब कुछ भावी के अनुसार ही हो रहा है तो हर्ष और शोक किस बात का और क्यों किया जाय? यह रहस्य जान लेने पर कि हर एक मनुष्य इस पूर्व-निश्चित नाटक में एक पार्टधारी अथवा निमित्त मात्र है, उसका मन अडोल, बुद्धि स्थिर और अवस्था एकरस हो जाती है।

जब किसी मनुष्य के सामने संशय, लोक-लाज अथवा हर्ष-शोक की परिस्थिति आ जाती है तब उसे यह सोचना चाहिए कि "अब इस विराट सृष्टि-नाटक की शूटिंग (Shooting) हो रही है अर्थात् इसकी फिल्म (Film) बन रही है, अत: मुझे सावधान रहना चाहिए।" जब कोई मनुष्य फोटो (छायाचित्र) खिचवाने के लिए बैठता है तो वह खूब तैयार होकर बैठता है ताकि उसकी फोटो अच्छी निकले। वह उस समय हिलता-डुलता नहीं है, बल्कि स्थिर रहता है, हर्षित-मुख होकर बैठता है

और कोई ऐसी हरकत नहीं करता कि जिससे उसकी फिल्म ख़राब हो जाय, क्योंकि एक बार ख़राब शूटिंग हो जाने से उस फिल्म में परिवर्तन नहीं हो सकता। इसी प्रकार, यह सृष्टि भी एक विराट नाटक है; हम इसके ऐक्टर्स (Actors) हैं। वर्तमान समय सन्धियुग है। अब हमारे कर्मों की जो शूटिंग (Shooting) हो रही है, वह ही अनादि सृष्टि-नाटक के फिल्म की अनादि नूँध हो जायेगी। परमात्मा का मूवी कैमरा (Movie camera) तो इतना तेज़ अथवा पावरफुल (Powerful) है कि उससे मनुष्य के तन, मन और धन द्वारा किये गए हर क्षण के कर्मों के फोटो निकलते रहते हैं। अत: मनुष्य को स्थिर-बुद्धि एवं अडोल-चित्त होना चाहिये और अपने कर्मों के प्रति सतर्क होना चाहिए वर्ना ठीक फोटो नहीं निकलेगा।

निश्चय-बुद्धि अथवा स्थिर-बुद्धि वाला मनुष्य वह है- जिसकी बुद्धि ठीक निर्णय देती हो और जो उस निर्णय पर दृढ़तापूर्वक अर्थात् अडोल मन से टिका रहे।

एक से अनेक की उत्पत्ति

भगवान् के महावाक्य हैं कि काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार नाम के जो विकार हैं उनमें से काम मनुष्य का महाशत्रु है, क्योंकि काम से ही अन्य विकारों की भी उत्पत्ति होती है। इस विषय में कई लोग सोचते हैं कि काम से अन्य विकारों की भला कैसे उत्पत्ति होती है? काम ही सभी विकारों का मूल कैसे है?

कुछ लोग 'काम' का अर्थ 'कामना' मानते हैं। अशुद्ध कामनाओं से तो विकारों की उत्पत्ति होती ही है, **परन्तु यहाँ 'काम' का विशेष अर्थ देह के नाम-रूप, स्पर्श, सम्बन्ध इत्यादि के भान अथवा उसके प्रति अशुद्ध आकर्षण है। काम-चेष्टा की स्थिति में, मनुष्य के मन में शरीर के प्रति राग और स्त्री में ममत्व और देह-अभिमान तो समाया ही होता है। अत: जब 'काम' अर्थात् मैथुन के परिणामस्वरूप सन्तति होती है तो सन्तान, स्त्री और सम्पत्ति में मनुष्य का मोह जाग्रत होता है। जब अशुद्ध प्यार में अथवा काम-चेष्टा के भोग में कोई बाधा पड़ती है अथवा 'काम' के सम्बन्ध वाली उसकी स्त्री को अथवा 'काम' से उत्पन्न हुए उसके बच्चों को कुछ कष्ट पहुँचता है या उनकी कोई मनोकामना पूरी नहीं होती तो 'क्रोध' की उत्पत्ति होती है। इसलिए ही कहा गया है कि 'कामात् क्रोधोपजायते' अर्थात् काम से क्रोध की उत्पत्ति होती है। स्त्री और सन्तान के दु:खों की निवृत्ति करना चाहते हुए अथवा उनकी आवश्यकताओं एवं लौकिक कामनाओं को पूर्ण करना चाहते हुए मनुष्य के मन में लोभ जाग्रत होता है। ''मैं अपने कुटुम्ब के लिए अधिक-से-अधिक धन इकट्ठा करूँ'', अधिक सुख-सामग्री जुटाऊं, महल-माड़ियाँ बनाऊं, सम्पत्ति एकत्रित करूँ, इस प्रकार ही मनुष्य का चिन्तन चलता है।**

तब मनुष्य के मन में यह भावना जाग्रत होती है कि — ''मैं घर का स्वामी हूँ, मैं स्त्री का पति हूँ, इन बच्चों का पिता हूँ, यह सब धन-माल मेरा है, मैं अमुक हस्ती वाला हूँ, अमुक दर्जे वाला हूँ, अमुक कुटुम्ब का मनुष्य हूँ।'' — इस प्रकार उस पर अहंकार का रंग चढ़ता है।

इससे सिद्ध हुआ कि **'काम'** ही मनुष्य का महाशत्रु है। इसने मनुष्य को आदि, मध्य और अन्त दु:खी किया है, क्योंकि कामी मनुष्य विकारी अर्थात् आसुरी सृष्टि रचता है और दूसरों के जीवन को नर्कमय बनाता है। उसकी सन्तति

में भी "यथा पिता तथा पुत्र" के नियमानुसार वही संस्कार (मोह, अहंकार आदि) भर जाते हैं तथा कामी मनुष्य अपनी सन्तान को भी अपने ही कुमार्ग पर लगाकर अपनी सन्तति का भी अकल्याण करता है। इस प्रकार, वह अपने तथा दूसरों के जीवन में जन्म-जन्मान्तर के लिए दु:ख और अशान्ति तथा विकार और विकर्म लाने के निमित्त बनता है।

जब सृष्टि में **'काम'** रूपी विकार नहीं था तब क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार भी न थे। इसलिए, तब सृष्टि पर पूर्ण सुख था और पूर्ण शान्ति थी। अगर मनुष्य को किसी ने दु:खी किया तो वह **'काम'** ही है। इसलिए सारे ज्ञान का सार यह है कि काम को, नाम-रूप के भान को अथवा देह के प्रति अशुद्ध आकर्षण को समाप्त किया जाय। जब तक मनुष्य के मन से यह विकार नहीं गया तब तक उसके जीवन में शान्ति और शीतलता, आनन्द और उपराम वृत्ति, एकाग्रता और एक-रस अवस्था नहीं आ सकती।

कुछ लोग तो समझते हैं कि अपनी स्त्री के साथ काम का सम्बन्ध कोई विकार नहीं होता। परन्तु प्रश्न यह है कि अपनी स्त्री के साथ हो या अन्य किसी के साथ **'काम'** तो **'काम'** ही है। अत: इसे विकार तो माना ही जायेगा। उससे क्रोध, लोभ और मोह की उत्पत्ति तो होती ही है। उसके परिणामस्वरूप मनुष्य को कष्ट, दु:ख अथवा अशान्ति तो भोगनी ही पड़ती है। निश्चय ही वह मनुष्य ज्ञान की रसना का, योग के आनन्द का और अतीन्द्रिय सुख का तो अनुभव नहीं कर सकता। क्या आज तक कोई ऐसा मनुष्य हुआ है जो काम-वासना का भी भोग करता रहा है और आत्मिक सुख तथा ईश्वरीय आनन्द का भी अनुभव करता रहा है? काम-विकार के कारण ही मनुष्य को गर्भ-जेल से लेकर मृत्यु तक इस सृष्टि में अपने विकर्मों का दण्ड भोगना ही पड़ता है। **'काम'** को विकार मानने के कारण ही तो लोग गुप्त रीति से काम चेष्टा का उपभोग करते हैं। अत: यदि मनुष्य सर्वदा सुख और शान्ति का जीवन प्राप्त करना चाहता है तो वे भले ही युगल जीवन व्यतीत करें, परन्तु उसे कमल-पुष्प के समान पवित्र, देही-निश्चय बुद्धि और कर्मातीत होकर रहना चाहिए।

जबकि **'काम'** देह-अभिमान ही के कारण है और ज्ञान को नष्ट करने वाला है, तो ज्ञान और काम दोनों इकट्ठे कैसे रह सकते हैं? जबकि परमात्मा को ज्ञानी

आत्मा प्रिय है और ज्ञानी देही-अभिमानी होता है तो परमात्मा से योग-युक्त होना चाहने वाला मनुष्य इसे छोड़े बिना कैसे रह सकता है?

अत: सभी दु:खों के कारण रूप 'विकारों' को नष्ट करने के लिए विकारों के भी मूल को नष्ट करना ज़रूरी है। काम को नष्ट करने के लिए उसके मूल देह-अभिमान को मिटाने के लिए अज्ञान की निवृत्ति आवश्यक है; अज्ञान की निवृत्ति और देही-निश्चय में स्थिति ज्ञान और योग से ही होती है और वास्तव में ज्ञान और योग की शिक्षा गीता के भगवान् ही उस समय अवतरित होकर देते हैं जबकि सभी मनुष्य 'काम' से (मैथुन से) उत्पन्न होते हैं और स्वयं भी काम-वासना से युक्त होते हैं अर्थात् जब योग-बल और धर्म-बल की पूर्ण हानि हो गई होती है। अत: धर्म-ग्लानि के वर्तमान समय परमात्मा ही से ज्ञान और योग की शिक्षा प्राप्त करके काम-रूपी महाशत्रु को जीतना चाहिए, क्योंकि अब योग-भ्रष्ट, धर्मभ्रष्ट, देह-अभिमानी और कामी सृष्टि की बजाय योगनिष्ठ एवं पवित्र सृष्टि की पुन: स्थापना का समय है।

सहनशील व्यक्ति गृहस्थ-व्यवहार में रहते हुए भी कमल फूल के समान न्यारा और प्यारा जीवन व्यतीत कर सकता है।

सहनशीलता से सफ़लता

हर व्यक्ति चाहता है कि उसे अपने जीवन के प्रत्येक कर्म में सफ़लता मिले। सफ़लतामूर्त बनने के लिए जीवन में सहनशीलता का गुण धारण करना ज़रूरी है। सहनशीलता एक मुख्य दिव्य गुण है जिसकी धारणा से बिगड़े हुए कार्य बन जाते हैं और जिसके अभाव से बने हुए कार्य भी बिगड़ जाते हैं। परन्तु, सहनशीलता के अनमोल गुण को धारण या ग्रहण करने से जीवन में सफ़लता की सिद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है, इस रहस्य श्रृंखला को अच्छी रीति से समझने के लिए सर्वप्रथम तो यह जानना ज़रूरी है कि मनुष्य-जीवन पर दिव्य-गुणों और आसुरी अवगुणों का क्या प्रभाव पड़ता है और कैसे?

दिव्य-गुणों का महत्व

मनुष्य के गुणों और अवगुणों का सीधा प्रभाव उसके कर्मों, स्वभाव एवं संस्कारों पर पड़ता है। दिव्य-गुणों को धारण करने से उसे वर्तमान जीवन में भी सुख, शान्ति और सफ़लता मिलती है तथा उसका भविष्य भी उज्ज्वल बनता है क्योंकि मृत्यु के बाद यह दिव्य गुण ही संस्कार रूप में आत्मा के साथ जाते हैं। इसी तरह अवगुणों अर्थात् काम, क्रोध इत्यादि विकारों में फँसने से मनुष्य इस लोक तथा परलोक दोनों की निधि और सिद्धि से हाथ धो बैठता है। अपने दिव्य गुणों को गंवा कर, उनके बदले में अवगुणों की शक्ति का आधार लेकर धन पदार्थों को इकट्ठा करने में लगे रहना बहुत घाटे का सौदा है। यह धन-पदार्थ इत्यादि तो सुख के साधन मात्र हैं। इनका यथार्थ उपार्जन और उपभोग तथा इनसे जीवन में सच्चे, स्थाई और सम्पूर्ण सुख-शान्ति की प्राप्ति और अनुभूति भी केवल एक गुणवान व्यक्ति ही कर सकता है। आसुरी अवगुणों वाले मनुष्य को सच्ची मन की शान्ति कहाँ? फिर, मृत्यु के बाद उसके भ्रष्टाचार द्वारा एकत्रित किये हुए स्थूल धन-पदार्थ तो यहाँ ही धरे रह जाते हैं। परन्तु,उसके आसुरी संस्कार आत्मा के साथ रह जाते हैं। 'अन्त मति सो गति' के नियमानुसार ऐसी पापात्मा भविष्य में दुर्गति को प्राप्त होती है। सामाजिक दृष्टिकोण से भी गुणवान व्यक्ति का जीवन हीरे-तुल्य (Worth Diamond) और फूल के समान है

कर्म करते समय अन्य प्राणियों के हित का भी ख्याल रखता है और समाज को भी अपने गुणों से सुगन्धित करता है। अवगुणी मनुष्य का जीवन कौड़ी-तुल्य (Worth not a penny) और काँटे के समान है जो दूसरों को भी चुभता अर्थात् दु:खी और अशान्त करता रहता है। दिव्य गुण ही वह अनमोल और अविनाशी निधि है जिसको धारण करने से नर को श्री नारायण और नारी को श्री लक्ष्मी जैसे जीवनमुक्त देवी-देवता पद की प्राप्ति होती है। सर्वगुण सम्पन्न होने के कारण ही श्री राधे-श्रीकृष्ण, श्री लक्ष्मी-श्री नारायण, श्री सीता-श्री राम इत्यादि देवी-देवताओं का इतना गायन और पूजन आज दिन तक होता आ रहा है। अत: मनुष्य को अपने दिव्य गुणों को किसी भी कीमत पर खोना नहीं चाहिए। प्रत्येक दिव्य गुण के मूल्य को जान कर उसे जीवन में धारण करने का पुरुषार्थ ही मनुष्य-जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य है।

सहनशीलता बहुत मुख्य धारणा है।

सहनशीलता का गुण जीवन में सफ़लता प्राप्त करने की कुंजी है। जिस व्यक्ति में सहनशीलता होगी वह गम्भीर भी अवश्य होगा। जो गम्भीर है वह किसी भी कर्म या परिस्थिति में घबरायेगा नहीं बल्कि हर बात की ग़हराई में जाकर सफ़लता का साधन सोचकर उपाय करेगा और सफ़लता को प्राप्त होगा। जैसे धैर्यवान व्यक्ति हर कार्य को सोच-समझकर करता है तो उसे सफ़लता प्राप्त होती है, उसी रीति सहनशीलता की शक्ति किसी भी कठोर कार्य अथवा कठोर संस्कार को सहज और सरल बना देती है। सहनशीलता से शीतलता आती है। इस शीतलता से मनुष्य की बुद्धि का सन्तुलन सदा कायम रहता है जिससे हर कार्य में सफ़लता मिलती है। सहनशीलता की कमी मनुष्य के जीवन को दु:खी और अशान्त बनाने वाले बहुत से फालतू झगड़ों और झमेलों का कारण बन जाती है। जिस व्यक्ति में सहनशीलता नहीं होती; उसे बहुत अधिक परिश्रम करने पर भी जीवन में सफ़लता का मुंह देखना नसीब नहीं होता। इस एक कमी के कारण ही मनुष्य की अन्य अनेक खूबियाँ भी व्यर्थ होकर रह जाती हैं। कई लोग प्राय: यह कहते हैं कि यदि उन्होंने सचमुच कोई अपराध किया हो, तब तो वह स्वीकार भी कर लें, परन्तु किसी झूठे आरोप को वह भला क्यों सहन करें? वास्तव में उनका यह तर्क विवेक-संगत नहीं है। उदाहरणार्थ, यदि

किसी मनुष्य ने सचमुच चोरी की हो और लोग उसे चोर कहें, इसमें तो सहनशीलता की कोई बात ही नहीं, क्योंकि चोर तो वह है ही। सहनशीलता का तो प्रश्न ही तब उठता है जब मनुष्य पर कोई झूठा आरोप लग जाये। इसी प्रकार कई मनुष्य 'जुल्म सहना पाप है' का नारा बुलंद करके अपनी सहनशीलता के गुण को तिलांजलि दे देते हैं और फिर अनेक अकर्त्तव्य कार्य कर बैठते हैं जिससे उन्हें नाकामयाबी का मुँह देखना पड़ता है और समाज में भी अशान्ति फैलती है। हमारा अभिप्राय यह नहीं कि अन्याय को दूर करने का उपाय न किया जाय, बल्कि यह है कि इसका सही उपाय भी सहनशील व्यक्ति ही कर सकता है। वरना, अन्याय के विरुद्ध आवाज़ उठाने वाले स्वयं ही अन्याय करने लग पड़ते हैं। खून का बदला खून से लेने अथवा ईंट का जवाब पत्थर से देने के उपाय सोचने वाले व्यक्ति को सहनशील नहीं कहा जा सकता है।

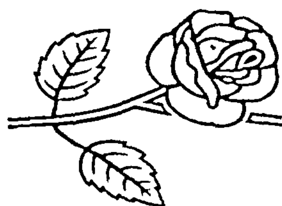
वर्तमान कलियुगी जीवन में अनेक प्रकार की समस्याएं तो आती ही रहेंगी परन्तु सहनशील व्यक्ति गृहस्थ-व्यवहार में रहते हुए भी कमल के फूल के समान न्यारा और प्यारा जीवन व्यतीत कर सकता है। सहनशीलता बहुत मुख्य धारणा है। सहनशीलता का गुण धारण करने वाला व्यक्ति ही इस सृष्टि-लीला को एक नाटक-समझता हुआ साक्षी होकर कार्य कर सकता है और 'बीती को बीती' (Past is past) समझ कर सृष्टि-ड्रामा की ढाल को पकड़ सकता है। यदि सहनशील नहीं बने हैं तो ड्रामा की ढाल को पकड़ना भी मुश्किल है। जैसे मोटर में गद्देदार (Coshioned) सीट पर बैठने से ऊंचे-नीचे रास्ते के धक्के महसूस नहीं होते बल्कि और ही मज़ा आता है उसी तरह सहनशील व्यक्ति भी हर्ष-शोक, स्तुति-निंदा, हानि-लाभ, जय-पराजय इत्यादि परिस्थितियों में समान रह सकता है और साक्षी होकर इस सृष्टि-लीला का आनन्द ले सकता है। सहनशीलता भी केवल बाहर की व शरीर की ही नही चाहिए लेकिन मन में जो अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प भी उत्पन्न होते रहते हैं, उन विकल्पों को देखकर भी घबराना नहीं चाहिए, बल्कि उनका सामना करना चाहिए।

सहनशील व्यक्ति के लक्षण

सहनशीलता के गुण को धारण करने वाले व्यक्ति के लक्षण ये हैं कि वह सन्तुष्ट दिखाई देगा। उसके नैन-चैन कभी भी असन्तुष्ट नहीं होंगे। जो सन्तुष्ट-मूर्त

रहता है वही दूसरों को भी सन्तुष्ट कर सकता है। सहनशील व्यक्ति के कर्मों से ऐसा अनुभव होगा कि जैसे मानो कोई फरिश्ता इस धरती पर चल-फिर रहा है। जितना कोई सहनशील बनता है उतना ही वह स्वयं से भी सन्तुष्ट हो सकता है। संतुष्ट होना माना सफ़ल होना। यह बात भी विशेष ध्यान देने योग्य है कि प्रत्येक दिव्य गुण की धारणा से मनुष्य को अनेक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं जिससे उसे अपने कर्मों में सफ़लता और सिद्धि मिलती है। जैसे सागर की तह में जाने वाले ही रत्न निकाल कर लाते हैं उसी तरह जो सहनशील होते हैं वह हर बात की गहराई में जाते हैं। गहराई में बहुत शक्ति मिलती है। सहनशील ही मनन शक्ति को प्राप्त कर सकते हैं। जो सहनशील होगा वह अन्दर ही अन्दर मनन करेगा। जो मनन करता है वही मगन रह सकता है। सहनशीलता के गुण की धारणा से ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, अहंकार इत्यादि विकार खत्म हो जाते हैं और अन्तर्मुखता, निर्माणता, अडोलता इत्यादि कई अन्य दिव्य गुणों की धारणा स्वत: ही हो जाती है। सहनशील व्यक्ति का चेहरा गुण-मूर्त दिखाई देगा और वह हर्षित मुख और लोक-प्रिय बन जायेगा जिससे हर कर्म में सफलता उसके पाँव चूमेगी।

सहनशीलता के गुण की गहराई में जाना चाहिए क्योंकि इसकी धारणा से प्राप्त होने वाली शक्तियों के द्वारा मनुष्य का जीवन संवर जाता है, जिसमें उसका अपना भी हित है तो समाज का कल्याण भी समाया हुआ है। जितना-जितना इस गुण की गहराई में जायेंगे उतना-उतना ही इसके मूल्य का पता पड़ेगा। जितना मूल्य का पता पड़ेगा उतना ही इस गुण को धारण करने का पुरुषार्थ करेंगे। विचार करें कि जिस गुण को धारण करने से मनुष्य का जीवन इतना श्रेष्ठ बनता हो उसका कितना मूल्य रखना चाहिए? जितना स्वयं को सहनशीलता के गुण के मूल्य का पता होगा उतना ही औरों को भी बतला सकेंगे। अत: हमें सहनशीलता के गुण को धारण करने और करवाने के लिए बीसों नाखूनों का ज़ोर लगा कर तत्पर हो जाना चाहिए।



दोष दृष्टि

अ-ज्ञानी और ज्ञानी के जीवन में वहुत अन्तर होता है और होना ही चाहिए। अज्ञानी मनुष्य की दृष्टि अपने सम्पर्क में आने वाले हर-एक मनुष्य के दोषों पर ही जाती है। वह दूसरे के अवगुणों का चिन्तन करता है और इस प्रकार न स्वयं हर्षित और प्रफुल्लित रहता है और न ही दूसरों को मीठी दृष्टि से देखता है। जिस मनुष्य की दृष्टि में जितनी वक्रता और कटुता है मानो कि वह उतना ही अधिक अज्ञानता अथवा विस्मृति में है।

"दूसरा व्यक्ति अगर दोषी है तो उसके दोषों का दण्ड वह पायेगा। हम उसके दोषों का व्यर्थ ही चिन्तन करके उसका दु:ख स्वयं को क्यों लगायें अथवा हम उसके अवगुणों की माला को क्यों जपें?" — ऐसा ही ज्ञानी सोचा करते हैं। अवगुण कम हों या ज़्यादा, हर-एक मनुष्य में कुछ तो गुण भी हुआ करते हैं। बुद्धिमान आदमी दूसरों के अवगुणों को छोड़कर गुणों को चुगता है। इसलिए, उसकी दृष्टि गुणों पर ही जाती है।

दूसरों के दोष दिखाई दे जायें तो अपने हृदय को प्रसन्न रखने का तरीका यही है कि हम स्वयं में देखें कि स्वयं हम में तो किसी अंश मे वह दोष नही छिपा है। जैसे दूसरों में वह दोष हमको अप्रिय लग रहा है, वैसे ही हम में भी तो वह दोष दूसरों को अप्रिय लगता होगा। तव क्यों न हम दूसरों के दोषों को देखकर भी स्वयं में से वह दुर्गुण निकालें?

हम में वह दोष न भी हो, परन्तु जव तक हम देवता नहीं वने, तव तक हम में और कोई दोष, ज़्यादा नहीं तो कम, प्रत्यक्ष नहीं तो गुप्त रूप में हो तो सकता ही है। जवकि दोष अप्रिय वस्तु है और हानिकारक है और दूसरों को और स्वयं को चुभने वाला कांटा है; तो क्यों न हम भी यह कोशिश करें कि दूसरों के दोषों को देखने की वजाय अपने दोषों को ढूंढकर निकाल दें।

मनुष्य के श्वास का क्या भरोसा है? जवकि इन्सान की मृत्यु की तिथि और घड़ी मनुष्य को मालूम नही तो क्यो न दोषो को आज ही निकाल दिया जाय? अथवा जवकि "अन्ते या मति सा एव गति" होती है; तो दोषों का चिन्तन ही क्यों किया जाय? क्यों न हम साक्षी होकर एक सर्व-गुण सम्पन्न परमात्मा ही के गुणों को देखें, उस ही से गुण लें और दोष-रहित अर्थात् देवता वनें?

दोषी का दोष देखकर उससे घृणा करना 'शुभ-चिन्ता' नहीं कहलाता। यदि तुम्हें उसका दोष अप्रिय है परन्तु वह स्वयं तुम्हें प्रिय है; तो उससे घृणा न होकर के उसके प्रति सहानुभूति होनी चाहिए। किसी मनुष्य को कांटा लगा हुआ हो तो क्या हमें उससे घृणा करनी चाहिए या उस पर दया आनी चाहिए? जबकि परमपिता परमात्मा हम (जो कि दोषी थे अथवा अब भी हैं) पर दया करके हमें ज्ञान-योग द्वारा निर्दोष बनाते हैं (न कि हम से घृणा करके हमें छोड़ देते हैं) तो सिद्ध है कि दोषी से घृणा करना हमारे निर्दय भाव को प्रकट करता है।

किसी के दोष निकाल कर उससे घृणा करना अथवा सारा समय दोषों की ही दृष्टि अथवा स्मृति में रहना स्वयं एक दोष है। इसलिये जब हम स्वयं अपने में से यह दोष निकाल देंगे तो दूसरे के दोषों को भी निकाल सकेंगे।

कुछ लोगों का ख्याल है कि किसी के ऐबों (दोषों) पर पर्दा डालना चाहिए, क्योंकि जैसे गन्द (कीचड़े) को खोदना बुरा है वैसे अवगुणों का वर्णन भी अच्छा नहीं।

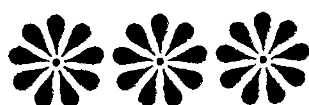
दोषी का दोष न देखने का यह अभिप्राय नहीं कि जो मनुष्य अवगुण अथवा आसुरी लक्षण वाला है उसको हम वैसा न मानें, देवता मानें अथवा उसे सर्वगुण सम्पन्न मानें। दोषी को दोषी न मानकर पवित्र मानना तो मिथ्या ज्ञान है। दोष-दृष्टि न रखने का अर्थ यह है कि हम व्यर्थ ही किसी के दोषों का चिन्तन कर अपने अनमोल समय को न गंवाएं और उस चिन्तन द्वारा अपनी खुशी को न खो बैठें। परमात्मा सर्वगुण सम्पन्न हैं, 'दोष' अथवा 'विकार' माया ही के नाम हैं। अत: जब हम किसी के दोषों अथवा विकारों का व्यर्थ ही चिन्तन करते हैं तो उसका अर्थ यह हुआ कि हप माया से बुद्धियोग लगाते हैं, ईश्वर से विमुख होते हैं। ऐसा करने से अकल्याण हो जाता है।

दोषों से मनुष्य दुष्ट बनता है और निर्दोषता से इष्ट। दुष्ट सबको अप्रिय और इष्ट ही सबको प्यारा लगता है। परमात्मा को हम इसलिए चाहते हैं और इसलिए 'इष्ट' मानते हैं कि वह सम्पूर्ण निर्दोष और पवित्र है। देवता भी मनुष्य के लिए 'इष्ट' हैं क्योंकि वे निर्दोष मनुष्य हुए हैं। महात्माओं का वन्दन इसलिए होता है कि उनमें दोष कम हैं। इसलिए दोष-दृष्टि तो अपने ऊपर होनी चाहिए। इसमें तो मनुष्य दुष्ट से इष्ट, विकारी से निर्विकारी अथवा मनुष्य से देवता बनता है।

वर्तमान समय एक 'दोष' सभी में है। उस ही के कारण अन्य सभी दोष भी विराजमान हैं। मनुष्य परमपिता परमात्मा को भूल गया है और उस भूल ही के कारण अकर्तव्य करता है। अत: परमात्मा की विस्मृति ही एक ऐसा दोष है जिससे कि संसार में दोष और द्वेष फैला है। इस दोष से कौन बचा है? अत: विचारवान् मनुष्य को चाहिए कि यह दोष निकालने का पुरुषार्थ करे, क्योंकि मनुष्य से देवता बनने की यही युक्ति है।

जन्म-जन्मान्तर के दोषों ही के कारण तो मनुष्य अब दु:ख और अशान्ति भोग रहा है। यह बात तो हमारी ये आंखें भी देखती हैं। दोषी मनुष्य के सिर पर दोषों का बोझ और भी बढ़ता हुआ साफ़ दिखाई देता है। उसके दोषों को देखकर उचित है कि मनुष्य स्वयं भी सावधान हो और दूसरों को भी सावधान करे।

"जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि" के अनुसार निर्दोष को सृष्टि में सद्‌गुण दिखाई देंगे। परन्तु जैसे प्राय: इसका अर्थ लिया जाता है वैसा अर्थ ठीक नहीं है। "दोष-रहित दृष्टि से देखने से सृष्टि का दोष-रहित दिखाई देना" वास्तव में इस प्रकार होता है कि जब मनुष्य दोष-रहित दृष्टि से देखने वाले अर्थात् निर्दोष हो जाते हैं तो सारी सृष्टि ही निर्दोष हो जाती है अर्थात् सतयुग आ जाता है।



सुख और दुःख

सुख और दुःख का सम्बन्ध किसके साथ है और वह किस रीति से उत्पन्न होता है, यह जानने की अत्यन्त आवश्यकता है, क्योंकि जीवन में पल-पल हम सुख या दुःख का अनुभव करते हैं। सुख और दुःख कर्म-जन्य हैं और इनका सम्बन्ध सीधा कर्म के साथ है। कर्म करते समय जैसी भावना होगी, जैसा उसका साधन होगा, तदनुसार ही उसका फल होगा। श्रेष्ठ कर्म का फल श्रेष्ठ ही होगा। अतः सदाकाल के लिये सर्वश्रेष्ठ सुख की प्राप्ति के लिये सर्वश्रेष्ठ कर्मों की आवश्यकता है। जब तक बुरे कर्मों में पूर्ण परिवर्तन न आये तब तक पूर्ण सुख का अनुभव कदापि नहीं हो सकता है।

कर्म की महिमा

बहुतों की यह मान्यता है कि सुख एवं दुःख दोनों परमात्मा ही देते हैं और इस रीति से वे ''ईश्वरेच्छा'' कहकर स्वयं को निर्दोष ठहराने की कोशिश करते हैं, परन्तु वास्तव में इस प्रकार ''ईश्वरेच्छा'' कहना भी निर्बल अथवा मिथ्या ज्ञान वाले मनुष्य की अपनी मनोवृत्ति का प्रतीक है। परमात्मा की महिमा सदैव ''सुख-कर्त्ता'' एवं ''दुख-हर्त्ता'' जैसे शब्दों से की जाती है, न कि ''सुख एवं दुःख दाता'' इत्यादि शब्दों से। **अगर सुख के साथ दुःख भी परमात्मा ही देते होते तब तो उनकी महिमा की आवश्यकता ही न रहती। क्या कभी कोई व्यक्ति सूर्य को ''प्रकाश एवं अन्धकार दोनों ही का देने वाला'' मानता है? कदापि नहीं। सूर्य का कार्य सदैव प्रकाश देना और अन्धेरे को भगाने का है। बस, इसी प्रकार परमात्मा भी सदैव सुख-कर्त्ता एवं दुःख हर्त्ता है।** जब-जब मनुष्य दुःखी होता है तब-तब वह परमात्मा को पुकारता है; इससे भी यह बात सिद्ध होती है कि परमात्मा का कार्य दुःख से छुड़ाने का है, न कि दुःख के बन्धनों में जकड़ रखने का। परमात्मा सुखदाता तो अवश्य हैं परन्तु कर्म के सिद्धान्तों को वह भी नहीं तोड़ते हैं। इसलिये ही तो वे कहते हैं कि ''मैं जो मत दूँ, उसके अनुसार कर्म करोगे तभी सुखी बनोगे।'' इस प्रकार आचरण अर्थात् कर्म की महिमा उन्होंने भी बताई है। अतः दुःख के नाश एवं सुख की प्राप्ति के लिये पवित्र प्रवृत्ति की ही अपेक्षा रहती है।

सुख के लिये ज्ञान को व्यवहार में लाना आवश्यक है

बहुतों की मान्यता है कि ज्ञान से सुख मिलता है। अतः सुख की प्राप्ति के लिये वे ज्ञानी बनने का पुरुषार्थ करते हैं। किन्तु वास्तव में ज्ञान तो 'समझ' ही का दूसरा

नाम है। 'समझ' अथवा ज्ञान तो साधन है, साध्य नहीं।

ज्ञान लेने के बाद भी कर्म को श्रेष्ठ करने की आवश्यकता तो फिर भी रहती ही है। अत: याद रहे कि ज्ञान को भी आचरण एवं व्यवहार में लाने की आवश्यकता है। ज्ञान को जीवन के लक्ष्य में बदलकर के तदनुसार आदर्श पुरुषार्थ करना चाहिए। ज्ञान बुद्धि में भरकर रखने की चीज़ नहीं है। जब तक ज्ञान का कर्मों के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ा जायेगा तब तक मनुष्य इस जीवन को पूर्ण सुखी, कल्याणयुक्त या अमृतमय बनाने में निष्फल रहेगा। ज्ञान को व्यवहार में न लाने से हमारी नासमझी के कारण ज्ञान का मार्ग भी बदनाम होगा।

दु:ख की निवृत्ति संकल्पों को जीतने से नहीं होती

सुख एवं दु:ख का अनुभव मन द्वारा होता है। इससे बहुत लोगों की यह धारणा हो गई है कि मन को जीतने से दु:ख को जीत सकेंगे। किन्तु मन तो एक साधन मात्र है जिसके द्वारा हम अनुभव करते हैं। मन का कार्य संकल्प करना है। संकल्प तो उठेंगे ही। उपनिषद् में यह जो लिखा है कि परमात्मा को नई सृष्टि रचने की इच्छा हुई, इससे सिद्ध है कि संकल्प तो निराकार परमात्मा भी करते हैं। संकल्प तो देवताओं के मन में भी उठते हैं। गीता में भी भगवान् ने यह जो कहा है कि जब-जब अति धर्म की ग्लानि होती है तब-तब मैं अवतार धारण करता हूँ, इससे भी सिद्ध है कि ज्ञान के सागर परमात्मा को भी संकल्प होते हैं। इस रीति से संकल्प तो अवश्य चलते ही रहेंगे। स्वप्न भी संकल्पों ही का एक रूप है। इसलिये संकल्प जीतने से या बन्द करने से या मन को जड़ कर देने से दु:ख का अन्त नहीं होगा। अत: प्रश्न उठता है कि दु:ख को दूर करने के लिये क्या पुरुषार्थ करना चाहिए?

विकल्प और विकर्म ही दु:ख का कारण

दु:खों को दूर करने के लिये मन में जो विकल्प चलते हैं, उन्हें जीतने की ज़रूरत है। ये विकल्प ही माया-जाल हैं। 'माया' प्रकृति या धन-सम्पत्ति का नाम नहीं है, बल्कि विकारों ही का दूसरा नाम है। मुख्य रूप से विकार पाँच ही हैं जिनके नाम काम, क्रोध, लोभ, मोह और अशुद्ध अहंकार है। विकार के वश जो विचार चलते हैं, उनको विकल्प कहते हैं और विकारयुक्त जो कर्म हों उन्हें विकर्म कहा जाता है। उदाहरण के लिये, घर में यदि बालक ऊधम मचाता है और माँ को उस पर क्रोध आता है तो क्रोध के विचार को 'विकल्प' कहा जायेगा और यदि वह क्रोधवश उसे मार दे तो उसके कर्म को 'विकर्म' कहा जायेगा। [illegible]

तो उसे **'विकल्प'** कहते हैं और यदि वह वाणी या कृति में आ जाय तो उसे **'विकर्म'** कहते हैं। इस रीति से जब विकार हमारी वाणी या कृति में प्रविष्ट होकर हमारे कर्म को दूषित करते हैं तब वे कर्म द्वारा हमारे विकर्म बनते हैं और इससे दु:ख की उत्पत्ति होती है।

'सत्कर्म' किसे कहते हैं?

ये विकल्प और विकर्म के उदाहंरण तो प्रति-क्षण हमें इस जगत् में देखने को मिलते हैं। किसी समय हम अन्य किसी व्यक्ति को विकारों के वश कर्म करते देखते हैं तो अन्य किसी समय साक्षी हो हम यदि अपनी कृति की ओर दृष्टि डालकर देखते होंगे तो अपनी कृति भी विकारी मालूम होती होगी। ऐसे जब विकर्म और विकल्प के माप-दण्ड से सबको मापेंगे तो मालूम पड़ेगा कि आज की सृष्टि में सब विकारी हैं अर्थात् विकार-वश होकर ही सामान्य रीति से अपने कर्म करते हैं। सत्कर्म तो सभी सतत् करने की चाहना रखते हैं, किन्तु सत्कर्म क्या है, उसका सत्य ज्ञान मालूम न होने के कारण विकार-मुक्त सत्कर्म तो बहुत कम होते हैं। इसके विपरीत, यानी विकर्म तो सतत् होते ही रहते हैं और इससे दु:ख का बीज दिन-प्रति-दिन बढ़ता ही रहता है। ऐसे विकर्मों को रोककर अर्थात् कर्म करते हुए विकार रूपी बीज को दूर करने से ही कर्म, अकर्म अथवा सत्कर्म बनेगा।

अत: सुख की प्राप्ति और दु:ख की निवृत्ति के लिए हमारे जो कर्म हैं उन्हें विकर्म न बनने देते हुए सत्कर्म करने का पुरुषार्थ करना चाहिए और उसके लिए आवश्यक ज्ञान लेना चाहिए। ज्ञान एक साधन है और उसे साधन रूप में प्रयोग में लाने से ही ज्ञान की सार्थकता बढ़ेगी और तभी ज्ञान भी फलीभूत होगा। किन्तु आज तो ज्ञान पेट के लिए रोटी कमाने अर्थ अथवा सत्ता या कीर्ति बढ़ाने के अर्थ ही उपयोग में आ रहा है। ज्ञान का उपयोग विकारों के नाश हेतु अर्थात् पवित्रता की प्राप्ति के लिए तो बहुत ही कम हो रहा है। ज्ञानी आत्मा को मनोमंथन करके अपने से ही पूछना चाहिए कि मैं स्वयं कितना पवित्र या निर्विकारी बना हूँ? भक्ति करते समय भी इसी दृष्टिकोण को अपनाना चाहिए कि भक्ति का अर्थ केवल भगवान् का नाम रटना या पूजना नहीं, बल्कि जैसे भगवान् पूज्य और पवित्र हैं वैसे ही अपने कर्मों को स्वच्छ बनाकर पूज्य तथा पवित्र बनने का पुरुषार्थ करना भी है। इस प्रकार सच्चे भक्त को भी चाहिए कि अपने कर्मों को विकारों से मुक्त करे, अर्थात् अपनी दिनचर्या को पवित्र बनाये। जब तक भक्त का व्यवहार विकार-मुक्त नहीं बना है तब तक भक्त के दु:ख का भी सम्पूर्ण नाश नहीं होगा।

पवित्र बनने के लिए प्रयत्न करो

जो लोग जप-तप, दान इत्यादि करते है उन्हें भी ये ध्यान में रखना चाहिए कि यदि दान करते हुए कीर्ति रूपी मोह सूक्ष्म रूप से मन में है तो वह विकारी दान हुआ और उससे दान का श्रेष्ठ फल नहीं मिलेगा। यदि दान, जप-तप आदि सब पुण्य कर्मों को पुण्य-युक्त बनाना है तो ये कर्म करते समय विकारों से मुक्त रहना पड़ेगा। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक — ये तीनों उन्नतियाँ कर्म की पवित्रता के बिना व्यर्थ हैं। पवित्रता तो सच्चे सुख का आधार है। शुद्ध कर्म जीवन की आधार-शिला है। यही न हो तो, ऊपर का ज्ञान, भक्ति, दान, उपवास आदि सबकी कितनी भी भव्य इमारत हो, परन्तु वे टहर नहीं सकेगी और मनुष्य के जीवन में कभी भी सोलह कला सम्पूर्ण, सम्पूर्ण निर्विकारी, मर्यादा पुरुषोत्तम देवी-देवताओं के जैसी सुख-शान्ति एवं समृद्धि प्राप्त नही हो सकेगी। अत: प्रति दिन, रात को सोते समय मनोमंथन करना चाहिए कि आज मैं कितना पवित्र रहा? काम, क्रोध या मोह रूपी भूतों के पंजे में कितना फँसा? बाहरी शत्रुओं को जीतने या उनके बचने के लिए लोग बहुत ही प्रयत्न करते है। लेकिन पवित्रता की बातें तो अपने जीवन सम्बन्धी सूक्ष्म बातें हैं। उसके लिए अन्य कोई भी दवा नहीं है। किसी की भी कृपा या दया से हम निर्विकारी नहीं बन सकेंगे। जैसे किसी के शरीर में थोड़ी भी बीमारी होती है तो उसे तुरन्त ही दूर करने का प्रयत्न किया जाता है, वैसे ही कर्मों में रही हुई इस विकृति को भी दूर करने का पूरा प्रयत्न करना चाहिए।

महावाक्य का अर्थ

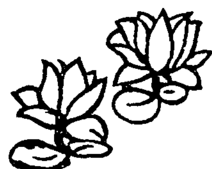
कर सकते हैं? जीवन में रोग आया, किसी की अकाल मृत्यु हुई, गरीबी आई या कोई झगड़ा इत्यादि होने से दु:ख उत्पन्न हुआ तो उसे हम मानें ही न, यह भला कैसे हो सकता है?

ऐसे दु:खों की परिस्थितियाँ यदि जीवन में पैदा होंगी तो वे निश्चित ही मन को कभी-न-कभी विचलित करेंगी। इसलिए ऐसे दु:खोत्पादक प्रसंग ही जीवन में न होने चाहिए। दु:ख कोई कल्पना नहीं है। वैसे ही सृष्टि भी कोई कल्पना नहीं है। दोनों सत्य हैं। अत: दु:ख का सामना, समझ अथवा ज्ञानपूर्वक होना चाहिए। दु:ख को दु:ख मानने की बजाय दु:ख के कारण ही जीवन में न रहें और 'दु:ख' शब्द शब्दकोष में ही न रहे, ऐसा पुरुषार्थ करना चाहिए। सम्पूर्ण तथा शाश्वत सुख का भी ज़माना था, ऐसा हमें देवी-देवताओं के वास्तविक जीवन चरित्र को जानने से मालूम होता है कि मनुष्य सतयुग तथा त्रेतायुग में सम्पूर्ण सुखी था। तब उसे काल का भी डर न था, निर्धनता न थी, धन-धान्य से भरपूर जीवन था, तब माया अर्थात् विकार का नाम-मात्र भी न था।

क्या पुरुषार्थ करना चाहिए?

गीता के उस महावाक्य का भी अर्थ है। जब विकल्प अर्थात् माया को हम जीतने का पुरुषार्थ करेंगे तभी वह (माया) हमारी शत्रु बनेगी। दुश्मन बनी हुई माया विघ्न भी निश्चित खड़ा करेगी और आघात-प्रत्याघात करेगी। ऐसे पुरुषार्थी जीवन में ऐसे आघातों को दु:ख न समझना ही इस महावाक्य का वास्तविक अर्थ है। इस तीव्र पुरुषार्थ के समय पिछले कर्मों के हिसाब-किताब चुक्तू होने के हेतु अधिक दु:खजनक प्रसंग उपस्थित होते हैं। तब उन नये-नये दु:खदायक प्रसंगों के समय दु:ख नहीं भासना चाहिए, यह इसका दूसरा अर्थ है। वैसे ही इस समय देह के सभी सम्बन्धों में से बुद्धि को हटाने की तथा जीते-जी ज्ञान द्वारा मरने से (मरजीवा जीवन से) जो थोड़ा-बहुत कष्ट होता है उसे कष्ट नहीं समझना चाहिए, यह तीसरा अर्थ है।

दु:ख के समय एकरस अवस्था रहे, इसलिए लिखा हुआ है कि उस दु:ख को दु:ख न मानो। बाकी कर्म-भोग के रूप से आये हुए दु:ख को तो निश्चित दु:ख ही समझकर उसे सदा के लिये जीवन में से दूर करने का पुरुषार्थ अवश्यमेव होना चाहिए।



मैं आपका शुभचिंतक

भारत में चिरातीत से यह एक रिवाज चला आया है कि जब यहाँ के लोग एक दूसरे को पत्र भी लिखते तो उसके प्रारम्भ में सबसे ऊपर या तो स्वास्तिक बनाते या ओम् लिखते या 'ओम् नमो शिवाय' आदि अंकित करते। फिर पत्र की प्रारम्भिक पंक्तियों में वे 'जय कृष्ण जी की' अथवा 'राम-राम वाँचना' अथवा और कोई ऐसे शब्द लिखते और साथ में मंगल-कामना अभिव्यन्जित करने के लिए कुछ इस प्रकार के शब्दों का भी उल्लेख करते जैसे — 'अत्र कुशलम्, तत्र अस्तु' अथवा 'ईश्वर की कृपा से यहाँ सब ठीक हैं और पूर्ण आशा है कि आप भी सब कुशलतापूर्वक होंगे।' इस प्रकार पत्र में थोड़ी-कुछ रूहानियत भी आ जाती और एक-दूसरे के प्रति कुछ शुभभाव भी उभर आते। पहले तो लोग अपने हाथों से ही ये शब्द उस भाव में स्थित होकर लिखते परन्तु जब छापेखाने खुल गये तब से लोगों ने सोचा होगा कि इन शब्दों का प्रयोग तो अच्छा ही है परन्तु बार-बार हर किसी को पत्र लिखते समय इन शब्दों को स्वयं लिखने में समय खर्च करने की बजाय उन्हें छपवा ही दिया जाये तो अच्छा है। अत: उन्होंने ऐसे पोस्ट कार्ड अथवा कागज़ छपवा कर ही रखने शुरू किये ताकि पोस्ट-कार्ड अथवा कागज़ पर छपे हुए उतने हिस्से को छोड़कर 'ज़रूरी बातों' अथवा 'काम की बातों' को लिखने में ही समय लगे। गोया ये सब पंक्तियाँ अब द्वितीय-स्थानीय महत्व (Secondary Importance) की मानी जाने लगीं। विशेषकर व्यापार-सम्बन्धी पत्रों में तो इन पंक्तियों को लिखने की बजाय इन्हें छापने ही का प्रयोग आम हो गया। कारोबारी पत्रों के आरम्भ में भगवान् का नाम अथवा मंगल कामना केवल एक रस्म ही रह गई है और उसमें रूहाब अथवा रस नही रहा।

जब लोग उपरोक्त प्रकार से पत्र लिखते थे, तब कम-से-कम ईश्वर का नाम बीच में ले आने से पत्र-प्रेषक तथा पत्र-संग्राहक — दोनों को कर्मों की अच्छाई का थोड़ा-बहुत ध्यान तो रहता ही होगा। हर बार पत्र लिखते समय ईश्वर अथवा इष्ट को उल्लेख करने से उनके मन में कुछ तो प्रभु-प्रेम अथवा खौफे खुदा रहता ही होगा। पुनश्च, हर पत्र में वे जिस व्यक्ति के प्रति भक्ति-भाव से मंगल-कामना व्यक्त करते, उसके प्रति उनका कुछ तो हितभाव या सद्भाव रहता ही

होगा। यही कारण था कि तब लोग एक-दूसरे के विरुद्ध मुकदमाबाज़ी करने, व्यापारिक लूट-खसूट मचाने अथवा दूसरे का अमंगल करने में कुछ तो अपने ऊपर काबू रखते थे।

समय परिवर्तन

परन्तु अब ज़माना काफ़ी बदल गया है। जिनके हाथ में बड़े उद्योग और बहुत बड़े व्यापार हैं उनके यहाँ तो पत्राचार प्राय: अंग्रेज़ी भाषा में ही होता है। अत: अब स्वास्तिक बनाने, ईश्वर के नाम का उल्लेख करने अथवा मंगल-कुशल पूछने का रिवा ज काफी कम-सा हो गया है और धीरे-धीरे समाप्त होता जा रहा है। अब भक्ति मार्ग की यह रस्म भी मिटती-सी जा रही है। अब परमात्मा के नाम को बीच में से निकाल देने से पत्रों में बिल्कुल लौकिकता ही आ गई है और मनुष्यों के पारस्परिक नाते से भगवान् का नाम भी मिटता-सा जा रहा है। यदि कहीं किसी के पत्र में भगवान् या देवताओं की याद दिलाने वाले ऐसे कोई शब्द लिखे होते हैं, तो भी वे केवल औपचारिकता के प्रतीक होते हैं, वे हृदय के भावों से तो शून्य ही होते हैं।

स्नेह का अभाव

पत्र-लेखन में जैसे प्रारम्भ में प्रयुक्त मंगल-कुशल सूचक शब्द निस्सार हो गये हैं वैसे ही आज पत्र के अन्त में अपने हस्ताक्षर से पूर्व लिखे जाने वाले शब्द भी स्नेह और सम्बन्ध की सुगन्धि से रहित, कागज़ के फूलों की तरह से केवल सजावटी हो गये हैं। आज भी पत्र-लेखक पत्र का अन्त प्राय: इन शब्दों से करते तो 'मैं हूँ आपका शुभचिंतक (Yours Faithfully)', 'मैं हूँ आपका आज्ञाकारी सेवक (Yours Obediently)' सचमुच आप ही का (Yours Truly)' अथवा 'भवदीय' (Your Own) इत्यादि, परन्तु पारस्परिक व्यवहार में वे इन शब्दों के अर्थ के अनुसार आचरण नहीं करते। लिखने को तो हरेक व्यक्ति लिख देता है कि "मैं हूँ आपका विश्वसनीय मित्र (Faithful Friend)" परन्तु आज व्यवहार में इस कथन का कोई महत्व नहीं रहा।

एक चिराकालीन परम्परा का अन्त

एक समय था जब हरेक सरकारी कर्मचारी अथवा अधिकारी अपने पत्र के `में लिखता था –

'मैं हूँ आपका आज्ञाकारी सेवक' (I am your obedient servent) परन्तु आज 'सेवक' शब्द का प्रयोग तो बिल्कुल ही बन्द हो गया है और प्राय: 'आज्ञाकारी'शब्द भी निकाल दिया गया है और सब प्रकार के सरकारी और व्यापारिक पत्रों में 'मैं हूँ आपका शुभचिंतक'(Yours Faithfully) अथवा 'आपका मित्र' (Sincerely yours) शब्दों का ही प्रयोग प्रचलित है। लोग इस रिवाज़ को बन्द करने का कारण बताते हुए कहते हैं कि ऐसे शब्दों में साम्राज्यवाद अथवा नौकरशाही (Feudalistic society) की दुर्गन्ध आती है। वे कहते हैं कि हम किसी के नौकर थोड़े ही हैं कि हम उसके प्रति लिखे गये पत्र में अपने लिए 'सेवक' शब्द का प्रयोग करें?

निस्सन्देह इतिहास में ऐसा समय था जब साम्राज्यवाद और नौकरशाही ही का प्रचलन था और उन दिनों कई लोग ऐसे भी रहे होंगे जिनमें गुलामी की ज़हनियत थी और जो हर तरह से अपने अफ़सरों और अधिकारियों को 'जी-हज़ूर'कहते थे परन्तु तब भी बड़े-से-बड़े अफ़सर भी तो अपने लिए 'मैं हूँ आपका सेवक' — इन्हीं शब्दों को प्रयोग करते थे।

उन दिनों अधिकारी वर्ग इन शब्दों का प्रयोग न भी करता हो तो भी अब जबकि जनता का जनता पर राज्य है, इन शब्दों का प्रयोग करने से नौकरशाही का भाव न आकर परस्पर व्यवहार में सेवाभाव ही तो जाग्रत होगा? अब इस रिवाज़ को छोड़ने की बजाय तो इसे और भी अधिक अर्थ-युक्त बनाने की वेला है। अत: लगता है कि जहाँ मनुष्य ने गुलामी की ज़ंजीरों को उतार फेंका है वहाँ उसने शायद सेवा-भाव को भी तिलांजली दे दी है।

नई पृष्ठभूमिका में स्नेह से इन शब्दों का प्रयोग

इस प्रकार कहने का भाव यह कि पहले जिन शब्दों का प्रयोग होता रहा है, वे मनुष्य के कर्मों को कुछ हद तक अंकुश में रखने के लिए सहायक होते थे और उनसे एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य के बीच व्यक्तिगत स्नेह ओर सौहार्द बना रहता था और निकटतापूर्ण संम्बन्ध जुटता था जिससे पारस्परिक व्यवहार में एक ऐसा तालमेल पैदा हो जाता था कि थोड़ी कुछ मर्यादा बनी रहती थी और यदि कहीं सम्बन्धों में विषमता आती भी थी तो उसको निबटाह लिया जाता था। आज भी यदि उन शब्दों का नयी पृष्ठभूमिका में व्यवहारिक प्रयोग होता तो

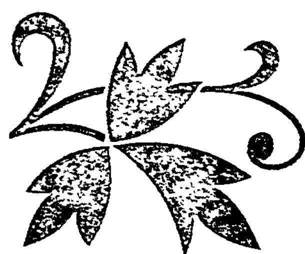
समाज का कुछ भला ही होता।

उदाहरण के तौर पर '**शुभचिंतक**' शब्द को ही लीजिए। यदि सच्चे अर्थ में हरेक व्यक्ति हर दूसरे का शुभ-चिंतक होकर बातचीत अथवा पत्राचार करें तो संसार के बहुत से झगड़े पैदा ही नहीं होंगे। और यदि कोई संकट पैदा हो भी जाय तो उसे भी शुभ-चिन्तन के आधार पर जीवन में निबटाय जा सकेगा। बात स्पष्ट है कि यदि कोई व्यापारी अपने ग्राहकों का शुभचिंतक होकर व्यापार करेगा तो वह न केवल अनुचित मुनाफा नहीं लेगा, चीज़ों में मिलावट भी नहीं करेगा और अवांछित संग्रह (Holding) तथा चोर-बाज़ारी जैसे निकृष्ट कर्म भी नहीं करेगा। यदि कोई उद्योगपति स्वयं को अपने कारखाने के कर्मचारियों का शुभचिंतक मानेगा तो वह उनका शोषण नहीं करेगा और यदि कारीगर भी स्वयं को कारखाने के मालिकों का शुभचिंतक अथवा आज्ञाकारी सेवक समझेंगे तो वे भी हर आये दिन हड़ताल, नाराबाजी, तोड़-फोड़ या ऐसे प्रकार के आन्दोलन नहीं करेंगे। यदि पुलिस स्वयं को जनता की शुभचिंतक माने तो वह केवल अपराधी ही को पकड़ेगी और निर्दोष लोगों पर अत्याचार नहीं करेगी। यदि अध्यापक स्वयं को विद्यार्थी के शुभचिंतक मानकर उन्हें पढ़ायेंगे तो वे उनके आचरण को भी उच्च बनाने का यत्न करेंगे तथा उन्हें विद्या पढ़ाने के कार्य पर भी अपना पूरा ध्यान देंगे और यदि विद्यार्थी स्वयं को समाज तथा अध्यापक वर्ग के शुभचिंतक मानेंगे तो वे भी तोड़-फोड़ नहीं करेंगे और अनुशासन भंग नहीं करेंगे। आज राजनीतिज्ञ भी कहते तो हैं कि हम समाज सेवा (Social Service) पर तत्पर हैं परन्तु यदि वे सही अर्थ में समाज की सेवा ही का भाव सदा बनायें रखें और सभी के शुभचिंतक बनकर कार्य करें तो निश्चय ही समाज की स्थिति में एक बहुत बड़ा परिवर्तन आ जायेगा। गोया इस समाज में एक प्रेम की लहर दौड़ जायेगी और सर्वत्र सभी का भला ही देखने में आयेगा।

उत्तम विधि

इससे भी अच्छा हो कि सभी लोग उन शब्दों को अपनायें जिन्हें अपनाने की शिक्षा हमें परमपिता परमात्मा शिव ने दी है। यदि हम हरेक व्यक्ति को **''परमपिता परमात्मा शिव की प्रिय सन्तान, प्रिय भाई.... अथवा प्रिय बहन...''** इस प्रकार सम्बोधन करें तो पत्र की बुनियाद भी रूहानियत और स्नेह पर आधारित

हो जायेगी और यदि हम पत्र के अन्त में 'ईश्वरीय सेवा में' अथवा 'ईश्वरीय स्मृति में आपका स्नेही भाई' अथवा 'आपकी स्नेही बहन' इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग करें तो पत्र का अन्त भी शुभ होगा। इन शब्दों से हमारा योग भी परमपिता परमात्मा से जुटेगा, हमें अपने स्वरूप की भी स्मृति रहेगी और पारस्परिक आत्मिक सम्बन्ध की भी पहचान रहेगी। परन्तु यदि किसी को ये शब्द भी अस्वीकार्य हों तो कम-से-कम 'ओम् शान्ति' और 'आपका शुभचिंतक' — ऐसे शब्द तो लिखने ही चाहिए और इन सूत्रों के अनुसार ही व्यवहार भी करना चाहिए। परन्तु इस विषय में इतना तो याद रखना चाहिए कि किसी को दुःख न देना, उसे दुःख देने का संकल्प तक भी न करना ही उसका शुभचिंतक होना है और इसी अर्थ में हम पूर्ण रूपेण किसी के शुभ चिंतक तभी हो सकते हैं जब हम निर्विकार जीवन व्यतीत करने का पुरुषार्थ करें, हमारे मन-वचन-कर्म एक हों और हम कल्याणकारी परमपिता परमात्मा से युक्त होकर शुभ ही कर्म करने वाले हों तथा परमपिता शिव ने जो ज्ञान और योग सिखाया है उस द्वारा दूसरों का शुभ करने का यथा सम्भव पुरुषार्थ करें। हम स्वयं भी शान्त रहें और दूसरों की शान्ति के लिए यत्न करें।



मूल्यों का मूल्य

स्नेह, सन्तुष्टता, सद्भावना, सहानुभूति, सहनशीलता, धैर्य, नम्रता, ईमानदारी इत्यादि को 'नैतिक मूल्य', 'मानवीय मूल्य' या 'आध्यात्मिक मूल्य' कहा जाता है। क्योंकि जीवन में हम जिन उद्देश्यों या उपलब्धियों को मूल्य देते हैं, उनकी प्राप्ति में ये सहायक होते हैं अथवा साधन बनते हैं। जैसे हम अपने दैनिक जीवन में उन वस्तुओं अथवा पदार्थों को 'मूल्यवान' मानते हैं जिनसे हमारी कुछ महत्वपूर्ण आवश्यक्ताएं पूरी होती हैं या जिन द्वारा हमें सुख या आराम या वांछित लक्ष्य की प्राप्ति होती है, वैसे ही हम इन गुणों को भी 'मूल्य' संज्ञा देते हैं क्योंकि इनसे भी हमारे नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष का लक्ष्य प्राप्त होता है और हम जीवन में खुशी तथा सफ़लता का अनुभव करते हैं।

एक-दो और उदाहरणों से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाएगी कि हम इन्हें 'मूल्य' क्यों कहते हैं? जब कोई व्यक्ति हमें ऐसा परामर्श या ऐसा मार्गदर्शन देता है कि उससे हमारी समस्या हल हो जाती है, हमारी परेशानी और हमारा मानसिक तनाव दूर होता है, चिन्ता मिट जाती है, और सफ़लता तथा खुशी प्राप्त होती है तो हम उस परामर्श या मार्गदर्शना को 'मूल्यवान' मानते हैं। अन्यश्च, यदि किसी व्यक्ति में ऐसी योग्यताएँ होती हैं जिससे कि वह ऐसे कार्य को कर देता है जिसे कि हम बहुत महत्व अथवा मूल्य देते हैं या वह ऐसी सेवा करता है कि जिससे कोई उच्च प्राप्ति होती है तो हम कहते हैं कि उस व्यक्ति के समय का बड़ा 'मूल्य' है। ठीक इसी प्रकार, जिन सद्गुणों या विशेषताओं से मनुष्य को उच्च मानसिक तथा आध्यात्मिक अवस्था का लाभ हो, उन्हें भी हम 'मूल्य' कहते हैं। पुनश्च, जैसे हम सोने से बने ज़ेवरों को या रत्न-जड़ित अलंकारों एवं श्रृंगारों को, जो कि पहनने वालों के सौन्दर्य में वृद्धि करते हैं, उसके व्यक्तित्व को उभारते हैं, को 'मूल्यवान' मानते हैं, वैसे ही हम इन गुणों को भी 'मूल्य' मानते हैं क्योंकि जो कोई भी इन्हें अपने जीवन में धारण करता है, उसका जीवन 'मूल्यवान', महान् तथा सुन्दर बन जाता है और उसे मूल्यवान व्यक्ति समझा जाता है क्योंकि अब उसके व्यक्तित्व में हीरे-मोतियों-जैसी चमक और आभा आ जाती है।

परन्तु प्रश्न यह उठता है कि इन 'मूल्यों' का मूल्य क्या है? दूसरे शब्दों में, सन्तुष्टता, सहनशीलता, धैर्य, नम्रता इत्यादि का मूल्य क्या है? सोने या हीरे का [illegible] उसकी सच्चाई (Reality, purity) या उनके अमिश्रित या वेदाग (Flawless, [illegible]yed) होने पर निर्भर करता है और उनके वज़न अथवा उनके माप या उनकी

चमक-दमक के अनुसर आंका जाता है। अत: इन मूल्यों के मूल्य को आंकने के लिए भी ये जानना ज़रूरी है कि ये हमारे आचार और व्यवहार को कितना बेदाग और सुन्दर बनाते हैं और हमारे व्यक्तित्व में क्या आभा और अलौकिकता भर देते हैं।

'मूल्य' का मूल्य क्या है?

हम यह देखते हैं कि किसी वस्तु का मूल्य समय-समय पर बदलता है। यों सदा इनका मूल्य होता ही है परन्तु किन्हीं विशेष परिस्थितियों में इनका मूल्य बढ़कर कई गुणा हो जाता है। ये ऐसे गुण हैं जो व्यक्तित्व को कई गुणा महान् बना देते हैं। उदाहरण के तौर पर यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे से झगड़ा कर लेता है और बर्छी हाथ में लेकर उसे धमकी देता है और ऐसी स्थिति में वह दूसरा व्यक्ति मधुरता, प्रेम और नम्रता नामक मूल्यों का व्यवहार करता है तो उसकी जान बच जाती है वर्ना तो अपनी जान भी गंवा बैठता और उसके साथ उसकी जो मूल्यवान सम्पत्तियाँ उनसे भी हाथ धो बैठता।

इसी सन्दर्भ में ईराक़ के प्रधान और उसके पिट्ठू परामर्शकों के उदाहरण पर विचार करना उपयोगी होगा। सद्दाम हुसैन और उसके साथियों ने सन्तुष्टता को धारण नहीं किया बल्कि उसकी बजाय कुवैत पर हमला करके उसे अपने देश के साथ जोड़ लिया। जब संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा समिति ने उनसे ये प्रस्ताव किया कि वे कुवैत को छोड़ दें और उसे अपने देश का हिस्सा न बनायें वर्ना उन्हें इसके दुष्परिणाम भुगतने पड़ेंगे, तब भी उन्होंने नम्रता से व्यवहार नहीं किया। अपने देश के लोगों के हित का भी ख्याल नहीं किया। न उन्होंने आत्म-नियंत्रण या संयम का पालन किया, न उन्होंने अन्य राष्ट्रों के विचार का सम्मान किया, यहाँ तक कि जो उनके मित्र राष्ट्र थे अथवा जो पक्षपात-रहित देश थे, उनकी बात भी उन्होंने नहीं सुनी। इसके विपरीत वे सदा अपने सैनिक शक्ति के अभिमान की गाथा गाते रहे और अपने मानवीय बल और सैन्य बल के नशे में चूर हो कर दूसरे राष्ट्रों को चुनौती देते रहे, उन्हें युद्ध के लिए ललकारते रहे और उनका विध्वंस या विनाश करने की धमकी ही देते रहे। उन्होंने धैर्य और सहनशीलता नामक मूल्यों का प्रयोग नहीं किया न ही मिठास और प्रेम से बात की बल्कि हर बार अन्य शक्तिशाली राष्ट्रों को उत्तेजित करने वाला ही व्यवहार किया।

इसका परिणाम यह हुआ कि उनके देश को अरबों डालर के मूल्य की सम्पत्ति की क्षति हुई। उन्हें कितनी शर्मिंदगी सहन करनी पड़ी। और अब तो उन्हें उन खतरों

का सामना करना पड़ा है कि कहीं उनके देश को अखंडता ही से वंचित न होना पड़े। इस प्रकार उन्हें अवर्णनीय दु:ख उठाने पड़े और उन्होंने पिछले 50 या अधिक वर्षों की अवधि में देश में जो-कुछ बनाया था वो प्राय: सब बरबाद हो गया। अपनी ईमानदारी और नेक नीयत खो बैठने के बाद दूसरे पर ललचाई नज़र उठाने से और अपने मन का सन्तुलन और उसकी शान्ति को खो बैठने के बाद वे प्राय: सब-कुछ ही तो गँवा बैठे हैं। चूंकि सद्दाम हुसैन ने अपने ऊपर नियंत्रण अथवा आत्म-अनुशासन गंवा दिया था, इसलिए उसका अपने लोगों पर से भी शासन और प्रशासन ढहता जा रहा है। देखिये तो देश के उन थोड़े-से नेताओं में कुछेक मूल्यों के अभाव के कारण सारे देश को कितना दु:ख सहन करना पड़ रहा है। कितने तो आदमी मारे गये हैं और अथाह संपत्ति भी नष्ट हुई है। शान्ति तो नाम-मात्र भी नहीं रही और खेद की बात है कि राष्ट्रों की पंक्ति में उनका सम्मान जाता रहा है। अब आप ही सोचिए कि उन 'मूल्यों' का कितना मूल्य है। **क्या ये कहना सत्य नहीं होगा कि कई वार मूल्यों का मूल्य अतुल्य, अवर्णनीय, अनगिनत अथवा अन्दाज़े से बाहर होता है और ऐसा तो कभी भी नहीं होता कि उन मूल्यों का कुछ भी मूल्य न हो। तब क्या वे सही मानों में 'मूल्य' न हुए?**

मूल्यों के अभाव में ये जीवन भी जीने जैसा नहीं होता

मूल्यों की चर्चा में एक पहलू और है। मूल्यों का पालन करने या न करने का एक परिणाम यह होता है कि मनुष्य की क्रमश: सकारात्मक और नकारात्मक आदत-सी बन जाती है और, बदले में, ये आदत अथवा संस्कार उसके दैनिक व्यवहार, आचार, आदि को प्रभावित अथवा निश्चित करते हैं। ये आदत अथवा संस्कार, और इस पर आधारित आचार व व्यवहार उसके वर्तमान जीवन के बाद आनेवाले समय में या इसके बाद के जन्म-जन्मान्तरों में व्यवहृत होते रहते हैं। इसके परिणामस्वरूप मनुष्य से बार-बार गलतियाँ, भूलें, अपराध और पाप होते हैं और उसके चरित्र में दाग-धब्बे लगते है। फिर चरित्र के ये जो दाग हैं ये बुरे कर्मों के लिए बाध्य करते हैं और फिर ये विकर्म बार-बार दु:ख, अशान्ति, असफ़लता इत्यादि मनुष्य के सामने लाते हैं। **इस प्रकार नैतिक मूल्यों को गंवाने के बाद व्यक्ति बारम्बार अपने स्वार्थ-सम्पत्ति, सम्मान और हर्ष और चरित्र को गंवाता है और जब तक पुन: वो इन मूल्यों को अपने जीवन में धारण न कर ले तब तक उसकी दु:ख-गाथा का अन्त नहीं होगा। ये निश्चित है कि जब तक वो इन मूल्यवान मूल्यों को अपने जीवन में धारण नहीं कर लेता तब तक उसके दु:खों विराम और स्थाई अन्त नहीं होता। सच ही तो है कि जो मनुष्य इन मूल्यों को धारण नहीं**

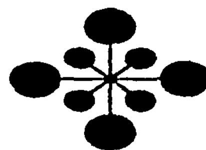
करता वो दूसरों के लिए और अपने लिए एक अनर्वकारी, अमंगलकारी और उपद्रवकारी (Nuisance Value) के रूप में ही नकारात्मक मूल्य रखता है। यदि किसी के जीवन में ये नैतिक मूल्य नहीं है तो वास्तव में उसका अपना भी कोई मूल्य नहीं हैं। वास्तविकता तो ये है कि जिस व्यक्ति में जिस मात्रा तक ये मूल्य होते हैं, तदनुसार ही उसका अपना भी मूल्य और उसकी अपनी भी महानता होती है। जिसके जीवन में इन मूल्यों का अभाव होता है या कमी होती है, वह स्वयं ही महसूस करता है कि उसका ये जीवन ही जीने-जैसा नहीं है।

यदि हम ध्यान दें तो हम स्वयं देखेंगे कि सभी नर-नारियों के अपने जीवन का मूल्य एक-सा नहीं होता। उनकी उपादेयता अथवा उनका मूल्य न केवल उनकी लौकिक योग्यताओं और कला-कौशल पर निर्भर करता है बल्कि उसके व्यक्तित्व में जो गुण या मूल्य भासित होते हैं या जिन मूल्यों को वो अपने दैनिक जीवन में लगाता है, उन पर भी उसके जीवन का मूल्य निर्भर करता है। हमारे लिए उस मित्रता का कोई मूल्य नहीं होता जिसमें साफदिल, सहानुभूति और समय पर सहयोग का गुण न हो। इसी प्रकार, पति-पत्नी के बीच का सम्बन्ध उनके पारस्परिक वफादारी, सेवाभाव, एक दूसरे के प्रति उत्सर्ग, स्नेह और हित की भावना इत्यादि मूल्यों पर निर्भर करता है। किसी राष्ट्र की महानता वहाँ के लोगों में एकता एवं उनकी चरित्र की उज्जवलता से ही आंकी जाती है। कोई व्यक्ति अथवा वस्तु यदि किसी की सेवा नहीं करते न किसी के सुख या आराम के काम में आते हैं तो वे बेकार अथवा 'मूल्य-रहित' या 'व्यर्थ' माने जाते हैं। उन्हें निरर्थक या निर्मूल्य मान कर उनसे छुटकारा पाया जाता है क्योंकि वे कष्टदायक होते हैं। अत: हम सन्तुष्टता इत्यादि मूल्यों को इसलिए स्वीकार करते और जीवन में लाते हैं कि वे हमारा लक्ष्य सिद्ध करते हैं, हमारी खुशी में बढ़ावा करते हैं, हमारे जीवन की रक्षा करते हैं और हमारे उद्देश्य की प्राप्ति कराते हैं।

मूल्यों को पहचानने का रवैय्या

कई ऐसे भी लोग हैं जिन्हें किसी दूसरे व्यक्ति या वस्तु के मूल्य को समझने की बुद्धि या सूझ नहीं होती। वे न मानव जीवन के मूल्य को समझते हैं, न एक अच्छे समाज के मूल्य को समझते हैं और न ही एक अच्छे देश की नागरिकता के मूल्य को। और तो क्या, वे अपने मूल्य को भी नहीं जानते। ऐसे लोग मानवता के स्तर से नीचे का जीवन जीते हैं। उन्हें ये एहसास ही नहीं कि हर एक चीज़ का एक अन्तर्निहित मूल्य या उसकी अपनी कुछ उपयोगिता या कीमत हुआ करती है। वे इस बात को समझ ही नहीं पाते कि सन्तुष्टता और स्वमान, आत्म-विश्वास और

आत्म-नियंत्रण सबके प्रति स्नेह और सद्भावना, मन का सन्तुलन और सहनशीलत तथा धैर्य और सेवाभाव नामक मूल्य ही हमारे जीवन को मूल्यवान बनाते हैं औ हमें खुशी और सुख का अनुभव करने की स्थिति में लाते हैं। जिस व्यक्ति वे जीवन में सन्तुष्टता न हो, वह चाहे कितना भी धनवान या सम्पत्तिवान हो, मनोदश में तो वह सदा एक भिखारी ही बना रहता है। किसी व्यक्ति के पास यदि ए करोड़ रुपये की सम्पत्ति हो, उससे भी ज़्यादा मूल्य-सन्तोष का है क्योंकि उ संपत्ति से कहीं ज़्यादा सुखदायक और हर्षप्रद 'सन्तोष' नामक गुण ही है। सन्तो से अधिक उपलब्धि है ही नहीं। मन के सन्तुलन से ऊंची तो कोई सफलता होत नहीं। धैर्य से अधिक चमत्कारी कोई दवाई तो अभी तक ईजाद ही नहीं हुई औ सहनशीलता जैसी जीवनरक्षक औषधि (Life saving drug) तो अभी तक बनाई ह नहीं जा सकी। परन्तु खेद की बात ये है कि उन्हें किसी चीज़ के मूल्य को समझ की इतनी भी सूझ नहीं कि वे 'मूल्य' को समझ सकें। भला श्री लक्ष्मी की पूजा 'ध की देवी' के रूप में क्यों होती है? लोग श्री लक्ष्मी और श्री नारायण की अराधन करते हुए उनसे स्वास्थ्य, सुख, सफ़लता, सुयश और संपत्ति की याचना-प्रार्थन क्यों करते हैं? यों तो श्री लक्ष्मी, श्री नारायण भी अपने पूर्व काल में इस धरा प मानव तनधारी ही थे। परन्तु भेद ये है कि उन्होंने अपने जीवन में दिव्य गुणों औ इन मानवीय मूल्यों को धारण करने का भरसक पुरुषार्थ किया; इसलिए वे पूज्य ह गये। उनका जीवन इतना मूल्यवान और महान हो गया कि आज लोग उनसे धन सम्पत्ति मांगते हैं। कारण यही तो हुआ न कि उन्होंने अपने पूर्व जन्म में उन मूल्य को आत्मसात् किया जिससे वे देव पद को प्राप्त हुए और अपार धन के स्वामी भ बने। उन्होंने उन मूल्यों और दिव्य गुणों रूपी धन के कारण स्वर्ग अथवा वैकुण्ठ ये सर्वोच्च पद को प्राप्त किया। अत:भौतिकवादियों को भी इस ओर ध्यान दे चाहिए कि भौतिक उपलब्धियों की पराकाष्ठा भी मूल्यों को ही जीवन में धारण कर से ही होती है। इन नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को धारण किए बिना या त भौतिक सुख-सामग्री भी सच्चा सुख देने वाले नहीं होते और या फिर जीवन-भ मनुष्य सुख-सामग्री को इकट्ठा करने या उसके पीछे पागल बना रहता है और सच सुख से वंचित रह जाता है।



की कोई भी बात सुनने के लिए तैयार नहीं हैं। हमारे मित्र को यह भी महसूस होगा कि अब हम उसमें भी अविश्वास करने लगे हैं और कि उसके साथ हमारी मित्रता केवल एक कच्चे घड़े की तरह से है जो थोड़ी-सी ठोकर लगने से टूट सकती है।

इसके अतिरिक्त हमें यह सोचना चाहिए कि अगर हमारा मित्र भी हमारी अपूर्णताओं की ओर हमारा ध्यान नहीं खिंचवाएगा और लोगों द्वारा की गई आलोचनाओं से हमें अवगत नहीं कराएगा, तो कौन हमें यह सब बताएगा? जिस व्यक्ति को हम अपना विरोधी या प्रतिद्वन्दी मानते हैं, वह यदि हमारी नुक्ताचीनी करेगा तब तो हम वैसे ही सोचेंगे कि हमसे विरोध होने के कारण ये ऐसी बातें कर रहा है और इसलिए हम उनकी बातों पर ध्यान दिए बिना सुनी बात को भी अनसुना कर देंगे। अत: यदि हमारा कोई मित्र हमारी उन्नति के प्रयोजन से, लोगों में हमारी प्रतिष्ठा को बढ़ाने के अभिप्राय से, हमारे दोषों, हमारी भूलों, हमारे अवगुणों अथवा हमारी अपूर्णताओं का हमें सुझाव देता है, तो हमें समझना चाहिए कि ये तो उसकी मैत्री, कृपा अथवा सेवा है अथवा शुभ भावना है। हमें उसका धन्यवाद करना चाहिए कि उसने हमारी उन्नति के लिए हमें सतर्क अथवा सावधान किया।

हाँ, यदि हमें ऐसा महसूस हो कि हमारा मित्र आज जब लोगों द्वारा होने वाली हमारी निंदा की कहानी हमें सुना रहा है, तब वह स्वयं भी हमारे प्रति उत्तेजित है और सहानुभूति करने की बजाय घृणा कर रहा है, और अपनी ओर से कुछ बातें उसमें जोड़कर हमारा उत्साह भंग करना चाहता है अथवा अपनी किसी बात को सिद्ध करने के लिए लोगों की कही हुई बातों का हवाला देकर हमें घटिया बनाना चाहता है अथवा कि लोगों द्वारा निराधार आरोपों को सुनकर भी उसने कोई प्रतिरोध नहीं किया, तब हमें उसकी बताई हुई बातों का वैसा स्वागत नहीं करना चाहिए, जैसे कि हम पहले करते थे, परन्तु फिर भी उससे अपने सम्बन्ध बिगाड़ने से हमें क्या लाभ हैं? उसके प्रति अपना मित्र-भाव मिटा देने का भी क्या प्रयोजन है? ठीक है, हम उसकी सभी बातों को या अधिकतर बातों को न मानें परन्तु किसी समय उस पर विचार तो करें और उसे इतना तो कह दें कि – "अच्छा मित्र, आपने यह सब हमारी उन्नति के लिए हमें बताया है, हमें इस समय ऐसा लगता नहीं कि यह सब बातें ठीक हैं, परन्तु फिर भी हम इस पर विचार करेंगे। आपने हमारा ख्याल रखा, लिए धन्यवाद।"

विरोधी द्वारा नुक्ताचीनी

इसके विपरीत यदि कोई ऐसा व्यक्ति हो जो प्राय: हमारा विरोध करता है, यदि वह हमारे कार्य या व्यवहार में भूलें निकालता है, उसका वर्णन करता है तो उन्हें भी हमें तत्काल रद्द नहीं कर देना चाहिए। किसी की बात को पहले पूरी तरह सुन लेना ही शिष्ट और सभ्य व्यक्ति का आभूषण है। अत: यदि कोई व्यक्ति निष्प्रयोजन और व्यर्थ ही बात को लम्बा-चौड़ा बनाकर कुछ अलूल-जलूल कह रहा है, उसे चाहे हम न सुने, परन्तु यदि कोई व्यक्ति धीरज से और शिष्ट रीति से अपनी बात कह रहा है, तो हमें उसे सुन लेना चाहिए। यदि वातावरण अनुकूल है तो हम उन बातों का निषेध भी प्रस्तुत कर सकते हैं और उनमें से कोई बात ठीक है तो उसे नपे-तुले शब्दों में स्वीकार भी कर सकते हैं। परन्तु यदि किसी विरोधी की बात को सुनते समय भी हम उछल पड़ते हैं तो हमारी और कोई भूल न भी हो तो उछलना तो हमारी भूल होती ही है। विरोधी की बात को हमें सदा इसी बात से नहीं देखना चाहिए कि ये तो विरोधी है, ये पहले भी ऐसा कहता ही आया है और अब भी जो कुछ कह रहा है, ये उसका विरोध-भाव ही है। उसकी बहुत सारी बातें विरोध भाव के प्रयोजन से कही गयी हैं। परन्तु जिस अंश में ठीक है; उतना तो मानना ही चाहिए और वह भी ऐसे तरीके से, जिससे हमारे जीवन में परिवर्तन आ जाए!

अपने अन्तर्मन की स्थिति पर विचार

ऊपर हमने मित्र और विरोधी द्वारा हमें कई बताई गई कमियों की चर्चा की है। परन्तु अब हम अपने अन्तर्मन में झांककर देखें कि जब हमारी कमियाँ हमें कोई बताता है, हममें कोई नुक्स निकालता है, या हमारे कार्य को घटिया सिद्ध करने की कोशिश करता है तो उस समय हमारी स्थिति क्या होती है? हम उस व्यक्ति को किस दृष्टि से देखते हैं? क्या हमें वह बात चुभती है और हम उस व्यक्ति से घृणा करने लगते हैं और उस मित्र के प्रति भी हम निरुत्साहित और उदासीन हो जाते हैं? क्या जब कोई विरोधी हमारी निन्दा करता है तो हममें क्रोध की आग भड़क उठती है, घृणा का ज्वारभाटा आता है और उस व्यक्ति के प्रति हममें दुर्भावना जागृत होती है? क्या हमें ऐसा महसूस होता है कि हमारा जीवन अभी तक नैतिक रूप से अविकसित है और हमारी कमियाँ मिट ही नहीं रहीं और हम अपने जीवन को

एक अभिशाप या धिक्कार मानने लगे हैं, और स्वयं से ही नफ़रत करने लगते हैं? क्या उस समय हमारा उत्साह भंग हो जाता है तथा हम उज्ज्वल भविष्य की आशा छोड़कर थके-थके से, शिथिल हुए से अथवा अन्य सभी की तुलना में स्वयं को एक निम्न कोटि का व्यक्ति मानने लगते हैं? क्या हम ऐसा महसूस करते हैं कि इससे आगे बढ़ना हमारे लिए सम्भव नहीं है, और कि बार-बार निंदित होने के बावजूद भी हम न सुधर सके, एक ऐसे व्यक्ति बन चुके हैं जिसका देवत्व के ऊंच शिखर पर पहुँचना किसी असम्भव लक्ष्य की चेष्टा करने जैसा है। यदि इन जैसा कोई भाव हमारे मन में आता है तो ईश्वरीय ज्ञान की भाषा में हम अपने शत्रु आप ही बन जाते हैं, ''मन के हारे हार है, मन के जीते जीत'', यह एक आध्यात्मिक उक्ति है। अगर हम स्वयं ही हार मान बैठें तो घृणा, द्वेष इत्यादि नकारात्मक प्रवृत्तियों, जिससे ही हमारा युद्ध है, को परास्त करने की बजाए उनके आगे हथियार डाल दें, तब तो हमें कोई भी जिता नहीं सकता। यदि हम स्वयं ही अपने मित्र हैं तो – ''निन्दा हमारी जो करे, मित्र हमारा सोए'' – इस उक्ति के अनुसार हम अपनी स्थिति को प्रशंसात्मक अथवा विरोधात्मक शब्दों से डगमगाने नहीं देंगे, बल्कि निर्णय शक्ति का प्रयोग करते हुए सदा स्वयं को उन्नति के पथ पर आगे ले जाने के लिए तत्पर रहेंगे। इसलिए ही बाबा ने कहा है – ''आत्मा अपना मित्र और अपना ही शत्रु है।'' अन्य को देखने के बजाय तो पहले हमें यह देखना चाहिए कि क्या हम स्वयं के मित्र हैं?



हमारी पढ़ाई का पाँचवा विषय – सहयोग

इस ईश्वरीय विश्वविद्यालय में चार विषयों (Subjects) का अध्ययन और अभ्यास तथा आचरण कराया जाता है – ऐसा हम मानते हैं और दूसरों को बताते भी हैं। ये चार विषय हैं – १. ईश्वरीय ज्ञान, २. सहज राजयोग ३. दिव्य गुणों की धारणा और ४. ईश्वरीय सेवा। परन्तु मेरा अनुभव यह कहता है कि इनके अतिरिक्त दो विषय और भी हैं। वे हैं – सहयोग और मर्यादा पालन। कहा जा सकता है कि ये दो अलग विषय नहीं हैं बल्कि ये तो दो दिव्य गुण हैं। यह भी कहा जा सकता है कि सहयोग तो सेवा में सम्मिलित है और मर्यादा-पालन दिव्य गुणों में आ जाता है। परन्तु मेरे विचार में यह उत्तर केवल अंशत: ही ठीक है; यह सम्पूर्ण सन्तोषजनक नहीं है।

जैसे 'दिव्य गुणों की धारणा' योग का एक स्तम्भ और ज्ञान का लक्ष्य होने पर भी अलग विषय है, वैसे ही 'सहयोग' भी अलग विषय है

आप देखेंगे कि यूँ तो दिव्य गुण भी योगी जीवन ही का एक भाग है। क्या हम यह नहीं मानते और बताते कि योग के 4 स्तम्भों में से 'दिव्य गुणों की धारणा' को एक अलग विषय क्यों मानते हैं? हम उसे योग के अन्तर्गत ही क्यों नहीं परिगणित कर लेते? इसी प्रकार, वास्तव में हम तो 'ज्ञानवान' भी उसी को मानते हैं जो जीवन को पवित्र बनाता है और दिव्य गुणों को धारण करता है। दिव्य गुणों की धारणा के बिना जो आत्मा, परमात्मा या सृष्टि के विषय में केवल सिद्धान्तों ही की चर्चा करती है, उसे तो हम "कुक्कड़ ज्ञानी", "कोरा पण्डित", "केवल वाचक" ही मानते हैं। अत: दिव्य गुणों का विषय तो ज्ञान में भी समाया हुआ है, परन्तु फिर भी हम उसे एक अलग विषय मानते हैं। ज्ञान का अध्ययन करते समय हमें यह बताया जाता है कि हम आत्मा हैं और कि आत्मा वास्तव में शान्त स्वरूप और पवित्र है और कि जब हम इस सृष्टि में पहले-पहले आये तो हम पवित्र और दिव्य गुण-युक्त थे और अब हमें वैसा ही बनना चाहिए। इस प्रकार, पवित्रता और दिव्य गुणों की ज्ञान के अन्तर्गत चर्चा होती है, उन पर बल भी दिया जाता है और उनकी धारणा

ही को ज्ञान का लक्ष्य बताया जाता है, वर्ना ज्ञान का प्रयोजन और फल ही क्या है? यह सब होने के बावजूद भी हम दिव्य गुणों को ज्ञान से भी एक अलग विषय मानकर चलते हैं।

इसको अलग मानने का एक कारण यह है कि हम दिव्य गुणों का विस्तारपूर्वक अध्ययन और अभ्यास करना चाहते हैं और जीवन संग्राम में दिव्य गुणों की धारणा में जो कठिनाइयाँ और बाधाएं उपस्थित होती हैं, उनको हम कैसे पार करें – यह भी हम जानना चाहते हैं। पुनश्च, हम इस दिव्य गुण रूपी विषय को काफ़ी महत्व देना चाहते हैं। इन सब कारणों के अतिरिक्त हम यह भी देखते हैं कि कुछ बहनें और भाई भले ही ज्ञान को सविस्तार नहीं जानते तो भी उनमें दिव्य गुण विशेष रूप से झलकते हैं। ऐसा भी देखा गया है कि कुछ लोग वृद्ध अथवा शारीरिक रूप से दुर्बल होने के कारण अधिक ईश्वरीय सेवा नहीं कर पाते परन्तु उनके जीवन में पवित्रता, प्रेम, नम्रता, त्याग इत्यादि दिव्य गुणों की सुगन्धि होती है। अत: यह मानना पड़ता है कि वे इस पहलू में दूसरों से आगे हैं और उन्हें इसके अधिक अंक (Marks) मिलेंगे। इस दृष्टिकोण से भी 'दिव्य गुणों की धारणा' को एक अलग विषय मानना पड़ता है।

इसी प्रकार 'सहयोग' भी एक अलग ही विषय है। यों भी कह सकते हैं कि इस विषय में चारों विषयों का थोड़ा-बहुत समन्वय है। यदि किसी में सहयोग की भावना कार्यान्वित नहीं है तो आप देखेंगे कि उसमें ज्ञान, योग और दिव्य गुणों की धारणा का भी तो किसी हद तक अभाव है और वह सेवा की बजाय भी सेवा-हानि (Dis-service) का कारण बन जाता है। मान लीजिए, कोई एक व्यक्ति दूसरे को आवश्यकता के समय में सहयोग नहीं देता। कई बार इसका कारण यह भी होता है कि सहयोग न देने वाला व्यक्ति न तो अति व्यस्त होता है और न किसी परिस्थिति से मजबूर बल्कि वह ईर्ष्या या द्वेष के कारण अथवा स्वार्थ और मन-मुटाव ही के कारण सहयोग नहीं देता। स्पष्ट है कि उसका यह व्यवहार 'दिव्य गुणों की धारणा' के विपरीत है। यह 'योग' के भी विपरीत है क्योंकि जो योग लगाता है, वह तो हरेक को आत्मिक नाते से अपना भाई देखते हुए उसका भला चाहता [illegible]र किसी भी अच्छे कार्य में अपना योगदान देने में खुशी अनुभव करता है; [illegible] सहयोग नहीं देता उसका योग भी कम ही होगा। सहयोग न देना 'ज्ञान'

के भी विपरीत है क्योंकि ज्ञान रूपी विषय के अध्ययन से हम यह जानते हैं कि मत-भेद, भाषा-भेद, जाति-भेद, देश-भेद तथा विकारों ने एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य में झगड़ा-फसाद, ईर्ष्या-द्वेष, शोषण और तनाव को पैदा करके मनुष्य को दुःखी कर दिया है। इस विधि से ज्ञान तो परमात्मा से भी नाता फिर से जोड़ने और परस्पर भाई-चारे, प्रेम-मिलाप, सहानुभूति तथा सहयोग से चलने की प्रेरणा देता है। यदि सहयोग नहीं है तो भाईचारा भी नहीं है। यदि भाईचारा नहीं तो यह विश्व एक परिवार है और हम सब एक परमपिता परमात्मा की सन्तान हैं – यह 'ज्ञान' भी नहीं है। अत: सहयोग का अभाव ज्ञान की प्रैक्टीकल धारणा के अभाव को प्रदर्शित करता है और उस व्यक्ति को 'तथाकथित ज्ञानी' अथवा 'वाचक ज्ञानी' सिद्ध करता है, इसके अतिरिक्त यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि सहयोग न देना ईर्ष्या, द्वेष, मनोविकार आदि का सूचक है। अत: सहयोग का अभाव व्यक्ति में मानसिक पवित्रता और दिव्य गुणों के अभाव का द्योतक है। जिसमें ईर्ष्या और द्वेष है, उसमें सूक्ष्म रूप में क्रोध, घृणा, कड़वापन, अपने नाम और शान की इच्छा, अपनी महिमा का लोभ, अपने ही से मोह इत्यादि विकृतियाँ हैं। जिसमें यह सब हों, उसका ठीक रीति 'योग' भी नहीं लग सकता क्योंकि ये सब वृत्तियाँ और स्मृतियाँ ईश्वरीय स्मृति में बाधक हैं। फिर, असहयोग (Non-Co-operation) से जो अनबन दिखाई देती है, जो सेवा के ऊंचे स्तर में कमी पड़ जाती है और संकल्पों की सूक्ष्म टक्कर से जो बाधायें उपस्थित होती हैं, वह भी सेवा को खण्डित और त्रुटिपूर्ण कर देती हैं। जिनकी सेवा की जाती है या जो और सहयोगी होते हैं उन्हें भी उस व्यक्ति के असहयोग का और अनबन का पता तो चल ही जाता है। और यह पता ऐसा है जो धीरे-धीरे कइयों का पत्ता ही काट देता है क्योंकि बुरा सुनने और देखने से वे स्वयं भाव-स्वभाव, मन-मुटाव, अपने-पराये, भेद-भाव इत्यादि कुसंस्कारों व कुसंकल्पों के भंवर में अथवा माया की दलदल में फँसते जाते हैं। इसके अतिरिक्त सहयोग न देने वाला व्यक्ति यहाँ-वहाँ, इधर-उधर, किसी के पूछने पर या स्वयं ही अपने मन को हल्का करने के लिए सहयोग न देने के कारण भी स्पष्ट करता फिरता है ताकि लोग कहीं यह न मानने लगें कि ये इसलिए सहयोग नहीं देता कि इसकी धारणा और अवस्था ठीक नहीं। इस प्रकार अपनी सफ़ाई पेश करने के लिए जो चर्चा यह करता है, वह भी आध्यात्मिक जगत के वातावरण को दूषित करती, ज़हर

फैलाती, दो दिलों के बीच में नफ़रत पैदा करती, ग़लतफ़हमी पैदा करती और संघर्ष को बढ़ाती है। इस प्रकार वह गुरु (सद्गुरु) की निन्दा, संस्था की निन्दा, परिवार (ब्राह्मण परिवार) की निन्दा कराने के निमित्त बनता है। इस प्रकार सहयोग का विषय भी विस्तारपूर्वक समझाया जाने वाला विषय है।

हम यह भी देखते हैं कि कुछ लोग ज्ञान भी अधिक नहीं लेते अथवा ज्ञान में उनकी पूरी आस्था नहीं, योग का भी वे विशेष अभ्यास नहीं करते, दिव्य गुणों को वे अच्छा तो मानते हैं परन्तु फिर भी वे सांसारिक लोग हैं किन्तु वे लोग ईश्वरीय सेवा में सहयोग देते हैं। अन्य लोगों को ज्ञान और योग की महिमा बताकर उनके कल्याण के निमित्त बनते हैं। संस्था के कार्य के प्रति भावना होने के कारण हमारे कार्यक्रमों में शामिल हो जाते हैं तब क्या उन्हें सहयोग के अंक (Marks) नहीं मिलेंगे। यदि मिलेंगे तो यह भी एक विषय है। जैसे कुछ लोग आत्मा और परमात्मा के ज्ञान की खोज में हमारे यहाँ आते हैं और फिर योग तथा अन्य विषय भी सीख लेते हैं; अन्य कुछ योग सीखने आते हैं, ज्ञान में रुचि न लेने पर भी धीरे-धीरे ज्ञान तो उनकी बुद्धि में बैठता ही जाता है; या कुछ लोग दिव्यता से प्रभावित होकर जीवन को अच्छा बनाने आते हैं और फिर ज्ञान योग भी सीख लेते हैं। इसी प्रकार, कुछ लोग सहयोगी बनते-बनते योगी भी बन जाते हैं और ज्ञानी भी।

मेरा यह भाव नहीं है कि हम सारा समय सहयोग में बिता दें और कुछ स्थाई कार्य के निमित्त न बनें। यों तो यदि सबको सहयोग देते जायें और हमारा कोई स्थाई कार्य-विभाग न भी हो तब तो हम रमता योगी और आज़ाद पंछी होंगे और उसमें भी हमें कोई हानि नहीं, बल्कि इसमें कुछ लाभ है कि हमारा किसी स्थान, व्यक्ति इत्यादि से लगाव नहीं रहेगा। परन्तु फिर भी यदि हम किसी स्थाई कार्य-विभाग के उत्तरदायित्व को लेना चाहते हैं तो इसमें भी कोई विशेष आपत्ति नहीं परन्तु योगी को सहयोगी तो होना ही चाहिए। क्योंकि बात अपने या पराये कार्य की नहीं बल्कि कार्य सब शिव बाबा का है। और यदि हम किसी को सहयोग नहीं देते तो मानो कि शिव बाबा को सहयोग नहीं देते। और यदि हम कार्य को इस प्रकार देखते हैं कि यह कार्य मेरा है और फलाँ कार्य दूसरे किसी का है तो इसका अर्थ यह हुआ कि कार्य बाबा का नहीं। इस तरह से तो मेरे और तेरे का भाव आ जाता है जो कि दीवारें (Partition) खड़ा करने वाला भाव है। यह भाव योगी के योग्य

नहीं।

इस कहने का यह अर्थ नहीं कि जिस कार्य का हमने उत्तरदायित्व लिया है, उस पर हम पूरा ध्यान ही न दें और वह कार्य रहता है तो रह जाये और हम हरेक को सहयोग ही देते रहें – यह भी ठीक नहीं। हम अपने ज़िम्मे लगा हुआ कार्य भी करें और पूरा ध्यान देकर तथा खूबी से करें परन्तु दूसरे को यदि हमारी सहायता की ज़रूरत है तो हम यथा समर्थ सहयोग अवश्य दें और अपने ज़िम्मे लगे कार्य को ऐसा पुनर्व्यवस्थित कर लें कि जिससे दूसरे को सहयोग मिल जाए।

सहयोग का विषय एक विस्तृत विषय है। हम संक्षिप्त लेख में इसके सभी पहलुओं पर प्रकाश नहीं डाल सकते परन्तु इतना ज़रूर कहते हैं कि इस विषय के भी बहुत अंक (Marks) हैं। यदि कोई सेवा तो करता है और दूसरों को सहयोग नहीं देता तो उसको कम अंक (Marks) मिलते हैं। वह दैवी परिवार को संगठित करने में सहायक नहीं होता। वह सबको पारिवारिक भासना दिलाने का निमित्त नहीं बनता बल्कि वह कई बार लून-पानी का-सा ख़ारापन सम्बन्धों में पैदा कर देता है जिससे उसके अंक कट भी जाते हैं।

अन्त में मैं यह कहना चाहता हूँ कि यदि सहयोग को एक अलग विषय माना जाए तो उससे परस्पर मिलाप, त्याग, स्नेह आदि बढ़ेगा। और संसार में हृदय की संकीर्णता, ईर्ष्या, द्वेष, मेरे-तेरे का भाव, परस्पर संघर्ष कम होंगे। ऐसे ही मर्यादा का विषय भी एक अलग विषय है जिसकी पहले हमने एक-दो बार चर्चा की भी है। फिर कभी इसकी विस्तृत चर्चा करेंगे। यदि किसी तर्क से ये दोनों अलग विषय न भी हों तो भी इन दोनों को अलग विषय मानने से इन पर विशेष ध्यान देने के फलस्वरूप अपनी उन्नति और ईश्वरीय विश्वविद्यालय की प्रगति निश्चित है।



बात बात में बात

सभी प्रकार की बातों में से सर्वोत्तम बात तो ज्ञान-ध्यान ही की बात होती है। दूसरी बातों में रखा ही क्या है? दूसरी बातों से तो क्षणिक ही प्राप्ति होती है। आनन्द-रस की प्राप्ति, मधुर मिलन की अनुभूति, कल्याण की उपलब्धि, मन की तुष्टि और जीवन की सफ़लता तो प्रभु-चर्चा और परमार्थ-चिन्तन ही से होती है। स्वयं शिव बाबा ने ब्रह्मा बाबा के मुखारविन्द द्वारा जो हर्षकारी बातें सुनाई उनसे उत्तम भला और बात हो ही क्या सकती है? उनको सुनकर तो रोम-रोम पुल्कित हो उठता है। परन्तु उन उत्तम बातों में से भी किसी एक विशेष विषय को न ले कर हम इस बार बातों ही बातों में कुछ बात यहाँ पर लेना चाहते हैं। हम ईश्वरीय ज्ञान की चर्चा पर कुछ परिचर्चा करने का संकल्प करते हैं।

लक्ष्य को छोड़कर लक्षपति बनने की फिक्र

यह बात तो कही जा चुकी है कि त्याग के बिना तपस्या नहीं होती है और त्याग तथा तपस्या के बिना समय तथा संकल्पों के खज़ाने को खर्च करना गोया चन्दन की लकड़ी का कोयला बना कर उसका प्रयोग करना है। वास्तव में तो तपस्या ही समस्या-समूल का अन्त है, समाधि ही समाधान है और त्याग ही भाग्य है परन्तु देखा गया है कि चलते-चलते कभी त्याग करने वाला कोई-कोई व्यक्ति भी प्रभु-प्रीति को छोड़कर पैसे को मन का मीत मान लेता है। वह योग के लक्ष्य को छोड़कर लक्षपति (लखपति) बनने की फिक्र में लग जाता है। इस प्रलोभन के प्रभाव में वह प्रभु-स्मृति को छोड़कर माया का मुरीद बन जाता है और पवित्रता बढ़ाने के बजाय पाकेट बढ़ाने लगता है।

शिवबाबा ने तो यही कहा है कि पहले जब बैग्गर (Beggar) बनोंगे तभी प्रिंस (Prince) बनोंगे क्योंकि यह तो कलियुग के रंक से सतयुग के राव बनने का ही खेल है। "मेरा तो कुछ है ही नहीं, जो है सो शिव बाबा का है" – इस प्रकार के भाव ही त्याग वृत्ति और निमित्त भाव को स्थिर करके बुद्धि की लाईन क्लियर (Line clear) करते हैं और सर्व प्राप्तियों से मन को भरपूर कर देते हैं। शिवबाबा ने कहा ही है कि जब 'फकीर' बनोंगे तब ही 'फिक्र से फारिग' या 'बे-फिक्र बादशाह' बनोंगे।

हरि छोड़कर हेराफेरी

परन्तु बात बात में बात यह है कि कोई-कोई व्यक्ति यहाँ ही राव बनने का दाव ।।ता। है। वह धन में ही मन लगाने लग जाता है। वह देखता है कि इस संसार

में धन-वालों ही का सम्मान है और कि जब जेबें तथा हाथ अशर्फियों से भरे हों तभी दूसरे भी पूछते हैं, तो वह नर से **श्री नारायण** बनने का पुरुषार्थ करते-करते फिर **'नकद नारायण'** को ईष्ट देव मान कर, उस ही की प्राप्ति में लग जाता है, वह **हरि** को छोड़ कर फिर **हेरा-फेरी** करने में लग जाता है। कहा तो यही गया है कि सिम्पल (Simple सादा) बनो और सेम्पल (Sample) या एक्जाम्पल (Example आदर्श) बनो परन्तु वह 'धनी लाल,' 'करोड़ी मल,' 'धनपतराय,' 'शौकत हुस्सैन' बनने का पुरुषार्थ करने लगता है। धन के बिना कोई बड़ा कार्य तो हो नहीं पाता परन्तु धन की **धुन** लगा लेना गोया मन को **घुन** लगाना है, और येन-केन-प्रकारेण धन इकट्ठा करना गोया **"बाप बड़ा न भैय्या, सबसे बड़ा रुपय्या"** की नीति अपनाना है। वह **कायदा** और **मर्यादा** एक ओर रख कर **फायदा** अधिक सोचता है। इस प्रकार, माया बड़ी दुस्तर है, वह किसी-किसी गज को भी ग्राह बन कर पकड़ लेती है और दूसरे कोई गज भी पंक्ति बना कर पीछे चल पड़ते हैं। उस भेड़ चाल में व्यक्ति यह नहीं सोचता कि कायदे में ही फायदा है।

त्याग का भी भाग्य

साधु-सन्तों में भी जब एक साधु देखता है कि उसके-ही-जैसे दूसरे साधू ने उसके देखते-देखते काफ़ी बड़ा 'आश्रम,' 'निकेतन,' 'अखाड़ा' बना लिया है और उस पर आलीशान इमारत खड़ी कर ली है और किसी भी प्रकार से इज़्ज़त कमा ली है तथा अपना महत्व बना लिया है तो उसे लगता है कि उसने तो यों ही साधुता में अपना जीवन गंवा दिया है। वह सोचता है कि जब सब तरफ से लूट मची है तब वह खड़े-खड़े क्या देख रहा है? वह **समाधि** के साथ-साथ **उपाधि** भी पा ले तथा त्याग-मूर्त बनने के साथ आदि ताजमहल भी बना ले तो क्या हर्ज़ है? अत: वह अपने त्याग का भी त्याग कर के फिर से पैसे के पीछे बेतहाशा भाग उठता है। लोगों को **कारों वाला** देख कर वह सोचता है कि "मैं ही **बे-कार** रह गया, सभी **सा-कार** (कार सहित) हैं, मैं 'निर्-आकार' (कार रहित) बना रह गया!! वे धन के **सिन्धु** बन गए और मैं **बिन्दु** ही बना रहा।" अत: पर्सनल प्रापर्टी बनाने के बारे में साधुओं पर शास्त्रों का जो **बैन** (Ban) है, उसे तोड़ कर वह **वैन** (Van) ले लेता है और **'बेकार'** कहलाने से बचने के लिए **कार** ले लेता है और **अपने पास** पैसा न रख कर बैंक में जा कर रखता है।

इस प्रकार वह साधना का आखेरा छोड़ कर बखेरा लेता है और "मैं तेरा" कहना छोड़ कर "सब-कुछ मेरा ही मेरा" कहने के चक्कर में पड़ जाता है। साधुता को छोड़ कर वह धत्ता बन जाता है।

समर्पित के लिए भी सतर्कता ज़रूरी, सहयोगी के लिए भी सावधानी आवश्यक

ऊपर हमने साधू-सन्तों और महन्तों की जो बात बताई है, वह तो उन में प्राय: चारों ओर दिखाई देती है। परन्तु सहज योग का अभ्यास करने वाले भी किसी-किसी योगी-सहयोगी को भी माया कभी-कभी अपनी लपेट में ले लेती है। सूक्ष्म रूप से माया उसके मन में फेर-बदल ला कर उसकी वैराग्य और त्याग वृत्ति को ध्वस्त कर देती है।

वह **श्रेय** से हट कर **प्रेय** की ओर मुड़ जाता है और त्याग तथा सेवा में 'मस्त कलन्दर' बनने की बजाए 'माया मछन्दर' बनने को उतारू हो जाता है। प्रभु की गोद को छोड़कर वह सोने के हिरण की ओर भागना प्रारम्भ कर देता है। **समाधि** की बजाए **उपाधि** पाने की होड़ लगाता है। एक प्रभु की ***लगन में मगन*** रहने की बजाए उसे ***पैसे से लगन*** लग जाती है। *साधना* की बजाए ***'भभके का भगत'*** और ***'पैसे का पुजारी'*** बन जाता है "मैं भी मालदार हूँ मेरे कहने पर भी रकम की छम-छम हो सकती है, मेरे पास केवल साधना नहीं, साधन भी है" — इस प्रकार का प्रदर्शन करने का प्रलोभन और ऐसी दौड़ की होड़ का वह भी शिकार हो जाता है। धन को सेवा का एक साधन मानने की बजाए वह उसे सिद्धि मान बैठता है और साधना को छोड़ या कम कर के वह सेठ धन्नामल बनने चल पड़ता है। वह पहले तो योग विद्या को सीखते-सीखते चल रहा था। परन्तु अब गणित के योग (जमा करने) में लग जाता है।

अत: ज्ञान और योग बल से बलवान बने रहने तथा माया की अति सूक्ष्म चालों से सावधान रहने की अतिशय ज़रूरत है वरना हज़ारों-लाखों अच्छे पुरुषार्थी के अच्छे पुरुषार्थी होने के बावजूद भी कोई दूसरों को गुमराह करने वाला उदाहरण बन सकता है। हमें यह याद रखना चाहिए कि जो व्यक्ति अपने घर-गृहस्थ की ज़िम्मेदारियों को संभालते हुए, स्वयं को सम्पत्ति का निमित्त प्रबन्धक मात्र मानता है और लौकिक को यथा-शक्ति अलौकिक बनाता है, वह भी 'समर्पित' ही है। जो प्रभु-समर्पित हो चुका, उसका 'अपना' कुछ भी नहीं रह जाता।

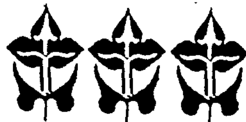
महिमा एक परमपिता की; बाकी 50% गप्प

सही और सच्ची महिमा एक प्रभु ही की है क्योंकि केवल वह ही तो सदा पूर्ण हैं और निर्मल, निस्वार्थ, निष्काम तथा अथक सेवाधारी और कल्याणकारी मनुष्य में तो कई दाग-धब्बे हैं जो छिपे-छिपे-से हुए हैं। मनुष्य में कोई महानता

है तो उसका भी मार्ग-दर्शन तो उसे डायरेक्ट या इनडायरेक्ट रूप से कभी-न-कभी परमपिता से ही प्राप्त हुआ है हाँ, महानता या सफ़लता प्राप्त करने में मनुष्य का अपना भी पुरुषार्थ या उद्यम तो होता ही है। उस पुरुषार्थ के लिए यदि कोई उसकी महिमा करता है तो उसे ध्यान देना चाहिए कि वह अतिशयोक्ति को स्वीकार न करे और प्रशंसा ही को अपना लालन-पालन न बना ले। बल्कि उस प्रशंसा से केवल इतना ही समझ ले कि लोग उससे सन्तुष्ट हैं। कई लोगों की यह आदत होती है कि वे जब भी किसी की महिमा करते हैं तो भाट की तरह प्रशंसा कर के उसे आसमान पर भेज देते हैं। वे जब प्रशंसा का राग अलापने लगते हैं तब सारे शब्द-कोष में से उत्तम शब्दों (Superlatives) को चुन कर माला पिरो देते हैं उनमें से 75% या कम से कम 50% गप्प होती है और एक के बाद एक जब प्रशंसा करने लगते हैं तब हर कोई हर दूसरे से बढ़ कर महिमा करते हैं ताकि वह कम प्रशंसक न लगे। इस प्रकार की अतिशयोक्तियों से वे प्रशंसा पाने वालों में इल्लत (Addiction) पैदा कर देते हैं जिससे प्रशंसा पाने वाले स्वयं उस व्यक्ति को भी तथा दूसरों को भी समस्या का सामना करना पड़ता है।

अत: प्रशंसकों को पहले ही से सावधान कर देना चाहिए कि वे शब्दों को फजूल-खर्च न करें और अपने को अविश्वसनीय न बनायें और श्रोताओं को भी प्रभु से विमुख न करें तथा प्रशंसा पाने वाले के लिए भी समस्या पैदा न करें क्योंकि वह भी उस प्रशंसा के अनुसार पूरा नहीं उतर पाएगा।

किसी की उतनी ही प्रशंसा करनी चाहिए जितनी से उसकी उन्नति हो और उसका मन सन्तुलित रह सके। प्रशंसा का प्रयोजन केवल दूसरे की हिम्मत बढ़ाना और उसे सफ़लता की बधाई देना तथा उसमें आत्म-विश्वास को बनाए रखना ही होना चाहिए। प्रशंसा उचित (Reasonable) और न्याय-युक्त (Justifiable) तथा मर्यादित होनी चाहिए। किसी के कान में इतनी बालियाँ डालने का क्या लाभ कि जिससे उसके कान भी छेदी लाल के कानों की तरह लटक जाएं या उनके कटने की भी नौबत आ जाए? प्रशंसा पाने वाले को भी कहना चाहिए कि – "यारों, बस करो, अब प्रभु के गुण गाओ और जीवन सफ़ल बनाओ। मुझ मनुष्य के पीछे क्यों पड़े हो; मुझे प्रशंसा के पिंजरे में मत कैद करो, मुझे आज़ाद रहने दो; मैं प्रशंसा का पान नहीं खाता और मिर्च-मसालों से भी घबराता हूँ।"



सहनशीलता

सहनशीलता ज्ञानी का मुख्य गुण है, क्योंकि धर्म-स्थापना में अनेक प्रकार के विघ्न अथवा आपदायें तो आती ही हैं, परन्तु उनके होते हुए भी अपने परमार्थ-पथ पर वह टिक सकेगा जिसमें सहनशीलता का मुख्य गुण होगा। योग का लक्ष्य ही निन्दा-स्तुति, मान-अपमान इत्यादि में समचित्त रहना है। अत: जिस पुरुषार्थी में सहनशीलता का गुण नहीं होगा, उसकी अवस्था अडोल-चित्त, धैर्यवत् अर्थात् योगयुक्त नहीं रह सकती।

ज्ञान-मार्ग में मनुष्य जितना आगे कदम बढ़ाता है, परीक्षाएं भी अनायास ही उतना उग्र रूप धारण करके उसके सामने आती हैं। परन्तु ज्ञानी का धर्म ही है हर्षित रहते हुए उन्हें सहन करते जाना, क्योंकि इस समय जो मनुष्य जितना सहन करता है, भविष्य में उसकी प्रालब्ध भी उतनी ऊंची होती है। जो विपरीत परिस्थितियाँ अथवा आपदायें आती हैं, मानो वो आती ही पुरुषार्थी को यह दर्शाने के लिए हैं कि क्या वह एकमात्र एक ईश्वर ही के भरोसे पर अटल हो खड़ा है या नहीं और क्या परमपिता परमात्मा की सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए उसने जो पुरुषार्थ-रूपी दाव लगाया है क्या वह हर हालत में स्वयं को उस सम्पत्ति का पक्का वारिस (अधिकारी) निश्चय करता है।

सभी धर्म-स्थापकों को और उनके सहायकों को सितम सहन तो करने ही पड़े हैं, क्योंकि पवित्रता स्थापन करने वालों पर आपदायें पड़ना मानो इस अद्भुत सृष्टि-लीला का अनादि नियम है। तो अब जबकि मैं धर्मराज परमात्मा स्वयं सर्वश्रेष्ठ सत्वगुणी आदि सनातन देवी-देवता धर्म स्थापन करता हूँ तो उस कार्य में जो मददगार हैं, उनके सामने भी अनेकानेक आंधियां और तूफ़ान आवेंगे अवश्य। इसलिये सृष्टि-लीला के इस रहस्ययुक्त नियम को जानकर घबराना नहीं चाहिये और हर्ष-शोक में नहीं आना चाहिये क्योंकि जितना-जितना कोई व्यक्ति इन परिस्थितियों को समचित्त होकर सहन करेगा उतना-उतना ही उसकी अवस्था परिपक्व होती जावेगी और जितनी-जितनी अवस्था परिपक्व होगी, भविष्य में उसे स्वराज्य पद भी उतना ही शीघ्र प्राप्त होगा। आपदाओं, परिस्थितियों और प्रकृति के विघ्नों तथा बन्धनों को जीतने का यही तो फल है।

हाँ, जितना कोई व्यक्ति बड़ा योद्धा बनेगा, उसके मन के पुराने संस्कार और बाहरी विघ्न भी विकराल रूप धारण करके उसके सामने आते रहेंगे। परन्तु यदि मुझ सर्वशक्तिमान् परमात्मा के साथ उसका योग पूरा जुटा होगा तो उसको शक्ति भी पूरी मिलेगी। इस पुरुषार्थ के बाद तो प्रालब्ध काल में कभी कुछ सहन करना ही नहीं पड़ेगा, क्योंकि आख़िर विजय हो जाने पर तो प्रकृति दासी हो ही जायेगी। इसलिये सहनशील होकर चलते चलो, वर्ना पुरुषार्थ-पथ पर अन्त तक चल न सकोगे, क्योंकि अन्त में तो मानो परीक्षायें और ही इकट्ठी होकर एकदम पूरे ज़ोर से वार (आक्रमण) करने आयेंगी। इसलिये पहले से (In advance) ही इस गुह्य तथ्य को जानकर अभी से अवस्था को दृढ़ करने और सहनशीलता के गुण की धारणा करने के अभ्यास पर ध्यान देना ही पुरुषार्थी का काम है।

सदा तीन बातें याद रखो - पवित्रता, सत्यता और दिव्यता। ऐसे साधारण बोल नहीं, साधारण संकल्प नहीं, साधारण कर्म नहीं। दिव्यता का अर्थ है - दिव्य गुण के आधार पर मन, वचन, कर्म करना।

हमारा महाशत्रु कौन?

देशों और व्यक्तियों के बीच मित्रता या शत्रुता परिवर्तनशील है। इस कलियुगी संसार में आज यदि कोई मित्र है तो कल वह शत्रु हो जाता है और यदि कल तक कोई देश शत्रु था तो आज उसका मित्र बन जाना भी सम्भव है। देशों के बारे में कही गई यह बात व्यक्तियों के सम्बन्ध में भी ठीक घटती है। व्यक्तियों में भी मित्रता के भाव बदलकर शत्रुता का रूप धारण कर लिया करते हैं।

परन्तु जिस महाशत्रु ने हर एक व्यक्ति और हर एक देश को दुःखी कर रखा है और जो सभी को हानि पहुंचाने वाला है, उस शत्रु की तरफ आज कोटि-कोटि व्यक्तियों में से किसी विरले ही का ध्यान है। वह शत्रु है 'रावण' या 'माया' अर्थात् पांच विकार — काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार। पिछले दिनों लंका में हुए झगड़ों में पीड़ित हुए लोग तो लाखों की संख्या में थे परन्तु इन विकारों से तो सभी नर-नारी पीड़ित हैं। किसी वैरी मनुष्य अथवा किसी शत्रु देश से तो एक-आध जन्म दुःख मिला होगा परन्तु इन विकारों ने तो मनुष्य को जन्म-जन्मान्तर दुःखी किया है।

देशों की पारस्परिक शत्रुता भी विकारों के कारण

वास्तव में देशों और व्यक्तियों में भी जो लड़ाई अथवा शत्रुता होती है उसका कारण भी अहंकार, काम, क्रोध, लोभादि विकारों में से ही कोई विकार होता है। उदाहरण के तौर पर भारतवासियों के आपसी मतभेद और अंग्रेजों के लोभ ने ही भारत को परतन्त्र दुःखी किया। वास्तव में तो ये पांच विकार ही हर देश अथवा व्यक्ति के शत्रु हैं। यह जो पांच विकार हर स्त्री में और पांच विकार हर पुरुष में हैं, इन्हीं का प्रतीक दस सिरों वाला रावण है, जिसका बुत हर वर्ष भारतवासी जलाते हैं क्योंकि यह हमारा महाशत्रु है।

एक समय था जबकि भारत में एक ही मत था और यहां के लोग पवित्र और निर्विकारी थे। उस समय को 'सतयुग' नाम से याद किया जाता है। उस समय के भारत को 'देवभूमि' कहा जाता है। तब भारत में श्री लक्ष्मी और श्री नारायण इत्यादि देवी-देवता अटल, अखण्ड, निर्विघ्न और अति सुखकारी राज्य करते थे। उनके राज्य में एक भी शत्रु न था क्योंकि विकार रूपी शत्रु नहीं थे। उस

समय यह भारत स्वर्ग था। जब यहां के लोग विकारी और आसुरी स्वभाव वाले बने तभी यहां पर मतभेद, शत्रुता, कलह-क्लेश, लड़ाई-झगड़ा इत्यादि हुए और यह देश नरक और परतन्त्र बन गया।

अत: वास्तव में तो पहले इन महाशत्रुओं का नाश करने की आवश्यकता है। परन्तु आश्चर्य की बात देखिये कि बाह्यमुखता के कारण सभी लोगों, नेताओं, समाचार-पत्रों आदि-आदि का ध्यान जन्म-जन्म जलाने वाले और आदि, मध्य, अन्त दु:ख देने वाले इन महाशत्रुओं (विकारों) की ओर न होकर बाहर के शत्रुओं की तरफ है। यह बात तो कोई विरला ही समझता है कि हम सभी आत्माएं रूपी सीताएँ विकारों रूपी रावण की जेल में हैं और इस रावण से हमें स्वतन्त्र या मुक्त होना है। भले ही वे रावण के कागज़ी पुतले को हर वर्ष जलाते हैं परन्तु रावण के बारे में वास्तविकता न जानने के कारण वे विकारों रूपी रावण को योगाग्नि से नहीं जलाते अत: अब याद रखना **चाहिए कि वास्तव में व्यक्ति नहीं विकार ही हमारे दुश्मन हैं। इन विकारों पर विजय प्राप्त करने से मनुष्य जगतजीत बन जाता है और देश के लोग अत्यन्त सुखी बन जाते हैं।**

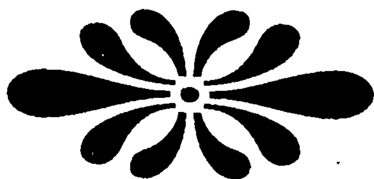
सभी पापों की जड़

इन विकारों में भी 'देह-अभिमान' नाम का जो विकार है, वह विकारों की जड़ है। वह सभी पापों का मूल है। स्वयं को आत्मा की बजाय देह निश्चय करना, यही सबसे बड़ी भूल है। इससे अन्य सभी भूलें पैदा हुई हैं। आप नोट कीजिए कि जब मनुष्य देहाभिमान के कारण 'पुरुष-पन' अथवा 'स्त्री-पन' के भान में आ जाता है तो वह **'काम'** रूपी विकार के वशीभूत होता है। स्वयं को देह मानने के कारण ही अन्य देह-धारियों से मोह का सम्बन्ध जुटता है और उनके शरीर छोड़ने पर मनुष्य दु:ख मनाता है। देह-अभिमान के कारण स्वयं को बड़ा मानकर क्रोधान्वित होता है। इस प्रकार आज सभी नर-नारी देह-अभिमानी अर्थात् आसुरी स्वभाव वाले हो चुके हैं और एक-दूसरे के शत्रु हो गए हैं। देह-अभिमान ने सभी की दृष्टि, वृत्ति और स्मृति को विकारी बना दिया है।

हमारा महाशत्रु 'काम'

भले ही पांच विकार हमारे शत्रु हैं और देह-अभिमान उनका मूल है परन्तु उन सभी का सरदार यह काम विकार ही है। इन [illegible] के जीतने [illegible]

सभी सैनिक हथियार डाल देते हैं। नाम इसका 'काम' है परन्तु वास्तव में सभी काम बिगाड़ने वाला शत्रु यही है। यदि देह-अभिमान को नर्क की दहलीज़ कहें तो यह 'काम' ही नर्क का मुख्य द्वार (सिंहद्वार) है। आज सारे विश्व में इन पांच विकारों का बोल बाला है। आप ही सोचिये कि भला इन विकारों से बड़ा शत्रु और कोई हो सकता है? दूसरे जो शत्रु हैं, वे सर्वव्यापी नहीं है परन्तु इन विकारों रूपी शत्रुओं ने तो सभी को अपने फन्दे में डाल रखा है। इन्होंने तो आज भाई-भाई को, पिता-पुत्र को, स्त्री-पुरुष को भी आपस में शत्रु वना दिया है। यह तो घर का शत्रु है और इसकी सेना तो देखिये, कितनी बड़ी है! यह शत्रु तो वड़ी मज़बूती से जमा हुआ है क्योंकि इसने तो शताब्दियों से डेरे अथवा डोरे डाल रखे हैं। अतः इस सर्वव्यापी शत्रु पर विजय प्राप्त करने वाला नर सारे विश्व का मालिक वन सकता है – इतनी बड़ी प्राप्ति होती है इसको पराजित करने से।



जीवन ऊंचा कैसे बने?

सब लोग जीवन को ऊंचा तो उठाना चाहते ही हैं। 'महात्मा' अथवा 'गुरु' लोगों का भी आदेश-उपदेश द्वारा यही प्रयत्न होता है कि जनता का जीवन ऊंचा उठे। माता-पिता भी बच्चे की देखभाल करते, उसे स्कूल भेजते और सारा दिन यही पुरुषार्थ करते हैं कि उनके बच्चों का जीवन ऊंचा हो और वे बड़े होकर नामी व्यक्ति हों। नेता लोग भी अपने भाषणों में यही भाव प्रगट करते हैं कि – 'हम देश-वासियों के रहन-सहन के स्तर (Standard of living) को ऊंचा उठाने की सेवा कर रहे हैं।' हर-एक मनुष्य दिन-भर यही पुरुषार्थ करता है कि उसे उच्च पदवी मिले, अधिक सुख प्राप्त हो। इस प्रकार, ऊंचा जीवन तो सभी का लक्ष्य है, परन्तु हाँ, "उच्च जीवन" की जो परिभाषा (Definition) संन्यासी लोग करते हैं और जो राजनीतिक नेता या अन्य लोग करते हैं, उस परिभाषा में अन्तर हो सकता है। संन्यासी लोगों की परिभाषा के अनुसार तो 'जिस जीवन में सदाचार और त्याग हो वही जीवन उच्च है।' शिक्षक वर्ग के विचार में विद्यार्थी की बुद्धि और विचार-शक्ति इतनी उच्च हो कि वह बड़ा होकर कोई चमत्कारी कर्त्तव्य करे, एक अच्छा नागरिक बने या प्रधानमंत्री अथवा सेना का कोई कुशल जरनेल बने और स्कूल का नाम रोशन करे। माता-पिता का दृष्टिकोण यह है कि जो बच्चा बड़ा होकर स्वस्थ, सुखी और चरित्रवान् हो और कुल के नाम को ऊंचा उठाने वाला हो उसी का जीवन ऊंचा जीवन है। राजनीतिक और सामाजिक नेता कहते हैं कि मनुष्य पढ़ा-लिखा हो, उसमें सफ़ाई-सुथराई और सभ्यता हो, वह सरकार के कानून को मानने वाला हो, उसके रहन-सहन और खान-पान का स्तर ऊंचा हो और वह आर्थिक दृष्टि से भी सम्पन्न हो; उनके मत में ऐसे मनुष्य का जीवन-स्तर ऊंचा है।

मनुष्य को जीवन की ऊंचाई का ज्ञान नहीं और जीवन उच्च बनाने की शक्ति नहीं

ऊपर हमने 'उच्च जीवन' के बारे में कुछ मानवी दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं। इन सभी मतों पर विचार करने से मालूम होता है कि मनुष्य को यह मालूम ही नहीं है कि मनुष्य-जीवन वास्तव में कितना उच्च हो सकता है। आज के समाज में तो कुछ धनी-मानी, जरनेल, नेता, प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति या संन्यासी आदि ही उच्च माने जाते हैं, इसलिए लोग जीवन की इतनी ही ऊंचाई जानते हैं। परन्तु वास्तव में तो मनुष्य का जीवन इनसे बहुत ऊंचा हो सकता है। आज तो मनुष्य एक ही जीवन में पुरुषार्थ करके एक निर्धन और सामान्य

व्यक्ति के स्तर से उठकर एक अत्यन्त धनी या प्रसिद्ध नेता या एक बड़े देश का राष्ट्रपति आदि ही बन सकता है और इतना ऊंचा उठना भी किन्हीं इने-गिने व्यक्तियों को मालूम है, परन्तु एक पुरुषार्थ ऐसा भी है कि मनुष्य एक ही जीवन में राष्ट्रपति, उद्योगपति, नेता, विद्वान, राजा, संन्यासी, इत्यादि सभी से बहुत ही ऊंचा उठ सकता है। लेकिन आज यद्यपि लोग जीवन ऊंचा बनाना चाहते हैं तथापि उनमें ऊंचा उठने की शक्ति भी नहीं है। शक्ति न होने के कारण वे ऊंचा नहीं उठ पाते।

एक छोटा बालक चाहता है कि – "मैं अपने पाँवों पर खड़ा हो जाऊं। वह खड़ा होने का पुरुषार्थ भी करता है, लेकिन उसकी टाँगों में शक्ति ही नहीं होती, इसलिए वह गिर पड़ता है।" ठीक इसी प्रकार, आज भक्त लोग भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि – "विषय-विकार मिटाओ," परन्तु वे पुन: पतित हो जाते हैं और तब यही कहते हैं कि हम में आत्मिक शक्ति नहीं है। यदि आज मनुष्य को ऊंचे जीवन का स्पष्ट ज्ञान होता और उसमें शक्ति भी होती या सर्वशक्तिमान् परमात्मा से शक्ति प्राप्त करने का ढंग उसे आता तो आज संसार में भ्रष्टाचार क्यों होता? जीवन में ऊंचा उठने का प्रत्यक्ष फल तो आत्मिक शान्ति और सुख है; आज इनके न होने से सिद्ध है कि मनुष्य गिरते जाते हैं।

कौनसा जीवन ऊंचा जीवन है?

अब से कुछ समय पहले तक बहुत लोग राजाओं के जीवन को ऊंचा जीवन मानते रहे हैं। 'राजा' शब्द भी प्रभुत्व (Authority) और उंचाई का सूचक है। 'राजा' शब्द ही सूचित करता है कि अन्य सब उससे नीचे हैं। राजा लोगों की उपाधि भी बहुत बड़ी हुआ करती थी। वह उपाधियाँ भी श्रेष्ठता की सूचक होती थीं, फिर चक्रवर्ती राजा का तो कहना ही क्या! राजा के जीवन में प्रभावशाली व्यक्तित्व, कुशाग्र बुद्धि और रहन-सहन में एक ठाठ-बाट (Royalty), शिष्टाचार तथा धन-सम्पत्ति को देखकर लोग राजा को विष्णु का प्रतिनिधि मानने लगे थे। वे राजा को ईश्वर द्वारा चुना हुआ मानते थे और राजा के दैवी अधिकार (Divine Right of Kings) मानते थे। परन्तु वास्तव में विष्णु के साकार प्रतिनिधि या भगवान् के चुने हुए तो वह राजा थे जिनकी पूजा भारत में श्रीलक्ष्मी-श्रीनारायण, श्रीराधे-श्रीकृष्ण, श्रीसीता-श्रीराम आदि नामों से होती है। उन्हें ही दैवी अधिकार (Divine
hts) प्राप्त थे। द्वापर युग और कलियुग में जो राजा हुए हैं, वे तो स्वयं भी
में पूजे जाने वाले दैवी राजाओं की पूजा करते थे, या तो भगवान् शिव की
करते थे जिसका अर्थ यह हुआ कि वे स्वयं तो पतित ही थे, उनका अपना

जीवन पूर्णत: पावन या ऊंचा नहीं हुआ था। वह तो स्वयं ही आसुरी लक्षणों वाले अर्थात् विकारी थे, उनके दैवी अधिकारों का फिर प्रश्न ही कहाँ? राजा विक्रमादित्य जैसे बड़े राजा भी पुजारी थे; वह शिव की पूजा किया करते थे। राजाओं के महल में छोटे-छोटे मन्दिर बने रहते थे। मन्दिरों में जिन देवी-देवताओं की पूजा होती है, उनके सिर पर तो दो ताज दिखाये जाते हैं, एक प्रकाश का और दूसरा स्वर्ण-मुकुट। अत: सिद्ध है कि राजाओं से देवी-देवताओं का जीवन उच्च था, तभी तो आज राजा भी उनके आगे नतमस्तक होते हैं। मन्दिर में तो सदैव उच्च और पूज्य ही व्यक्ति की प्रतिमा रखी जाती है, अत: मन्दिरों में पूज्य देवी-देवता निश्चित ही उच्च जीवन वाले थे, वे राजाओं के भी पूज्य थे।

क्या संन्यासियों का जीवन ही सर्वोच्च जीवन है?

अब बहुत लोग संन्यासियों के जीवन को ऊंचा मानते हैं। इसलिए वे उन्हें 'महात्मा' अर्थात् 'ऊंची आत्मा' – ऐसे शब्दों से सम्बोधित करते हैं। लोग उन्हें बड़ी-बड़ी उपाधियों से भी विभूषित करते हैं। उन्हें 'मण्डलेश्वर', 'महामण्डले-श्वर', 'स्वामी', 'महाराज' इत्यादि अनेक उच्च उपाधियाँ देते हैं, चाहे मनुष्य इन उपाधियों के योग्य न भी हों और चाहे यह उपाधियाँ वास्तव में एक परमपिता परमात्मा ही की हों। लोग सोचते हैं कि "संन्यासियों के जीवन में त्याग है। संन्यासियों ने घर-बार का त्याग किया है तो अवश्य ही उन्होंने कोई उच्च प्राप्ति की होगी। वे मानते हैं कि संन्यासियों ने विकारों को छोड़ा और इसलिए हम लोग जो घर-गृहस्थ में रहते हैं और विकारी हैं, हमें संन्यासियों के आगे माथा टेकना चाहिए।" परन्तु विचार कीजिए – 'क्या संन्यासियों का जीवन सर्वोच्च जीवन है? क्या मनुष्य के पुरुषार्थ का यही लक्ष्य है?'

सोचने की बात यह है कि भले ही संन्यासी लोग विकारों का संन्यास करते हैं, परन्तु उनसे भी ऊंची अवस्था तो उन देवी-देवताओं की है जो गृहस्थ में होते हुए भी पवित्र या महात्मा थे। आज के संन्यासी भी तो उन देवी-देवताओं ही की महिमा करते हैं। अगर संन्यासी लोग प्रवृत्ति या घर-व्यवहार में बर्तते हुए पवित्र एवं निर्विकारी रह सकते तो वे घर-बार का संन्यास करते ही क्यों? स्पष्ट है कि संन्यासियों से उच्च तो उन देवी-देवताओं का जीवन था जो राज-कार्य चलाते हुए भी इतनी उच्च कर्मणा तथा प्रवृत्ति वाले थे कि आज तक उनके चित्रों और मूर्तियों का भी मान चला आता है। आज लोग उनकी मूर्ति को यदि हाथ लगाते हैं तो भी हाथ को धोकर जाते हैं और उनके आगे माथा टेकना भी अपना सौभाग्य मानते हैं। वे कोशिश करते और

मनौती मानते हैं कि किसी प्रकार उन देवी-देवताओं का एक सेकेण्ड के लिए साक्षात्कार या दर्शन हो जाये। वे उन देवताओं को न केवल ऊंचा मानते हैं, बल्कि उन्हें **स्मरणीय, दर्शनीय, वन्दनीय और पूजनीय मानते हैं।** आप देखते हैं कि वे श्रीराम या श्रीकृष्ण के नाम का **स्मरण** भी करते हैं, फिर पत्र-पुष्प लेकर के, धूप-दीप जलाकर उनके आगे **वंदना** भी करते हैं और **पूजा** भी और यदि इस सबके लिए समय न मिले तो मन्दिर के बाह्य द्वार से झांककर मूर्त्ति के **दर्शन** अवश्य कर लेते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि उन देवताओं की सूरत का भी हमारी सीरत (चरित्र) पर प्रभाव पड़ेगा। इतना ऊंचा वे देवी-देवताओं को मानते हैं। यहाँ तक कि वे कहते हैं – ''हे देव, हम तो आपके **चरणों के दास** हैं।'' दास भी तो कई प्रकार के होते हैं – कपड़े पहनाने वाले दास, स्नान कराने वाले दास, भोजन लाने वाले दास इत्यादि। परन्तु आज भक्त लोग तो ऐसे दास को भी अपने से उच्च मानकर स्वयं को चरणों को साफ़ करने वाले, पौंछने वाले, सेवा करने वाले दास मानना भी अपना सौभाग्य मानते हैं। वे स्मरण, वन्दन, पूजन करते हुए भी दर्शन की आशा करते हैं और कहते हैं कि – ''मैं तो तेरे दर्शन की प्यासी हूँ।'' आज तो संन्यासी और पण्डित भी लोगों को यही उपदेश देते हैं कि सब तरफ़ से बुद्धि अथवा मन को हटाकर उन मूर्त्तियों में ध्यान या मन को टिकाओ। स्मरणीय में भी प्रात: 'स्मरणीय' उच्च होता है। आज भक्त लोग तो देवी-देवताओं को **'प्रात: स्मरणीय'** मानते हैं। अत: यदि कोई व्यक्ति प्रात: किन्हीं मनुष्यों के बारे में कोई बात छेड़ दे तो भक्त कहते हैं – ''सुबह-सुबह क्या व्यर्थ की चर्चा छेड़ी है? पहले मुझे देवता का तो स्मरण कर लेने दो!'' वे देवी-देवताओं ही को प्रात: स्मरणीय मानकर, अन्य कोई भी काम करने से पहले देवताओं के मन्दिरों में जाते हैं। दुकान पर जाकर भी व्यवहार-व्यापार पीछे शुरू करते हैं, पहले देवताओं को स्मरण करते हैं। भला उन देवी-देवताओं से उच्च, गायन-योग्य और कौन-सा जीवन हो सकता है?

क्या समाज-सेवकों का जीवन ऊंचा जीवन है?

कई लोग सेवा-भाव वाले मनुष्यों का जीवन ऊंचा मानते हैं। वे कहते हैं कि सेवा ही मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म और कर्म है, सेवा के बिना मनुष्य का जीवन निष्प्रयोजन है। अत: वे **समाज-सेवकों** का स्थान उच्च मानते हैं। परन्तु देखा जाय तो ...ा भी तो एक दैवी गुण है। दो प्रकार के गुण माने गये हैं – 'दैवी' और 'आसुरी'। ...ी गुण वह है जो सुख दे और आसुरी गुण वह है जो दु:ख दे। जो मनुष्य किसी की सेवा करता है वह स्वयं भी उस कर्म के फलस्वरूप सुख पाता है और दूसरे

को तो वह अपने सेवा-कर्म से सुख देता है ही। परन्तु हम कह आये हैं कि 'सेवा' तो एक दैवी गुण है, सेवा करने वाला मनुष्य सर्व दैवी गुणों का तो भण्डार नहीं होता। जिसमें सब दैवी गुण हों, वही तो 'देवता' होता है। देवता तो 'सोलह कला सम्पूर्ण' कहलाते हैं अर्थात् उनमें न केवल सभी दैवी गुण होते हैं, बल्कि सभी गुणों की पराकाष्ठा भी होती है। अत: स्पष्ट है कि ऊंचा जीवन तो देवी-देवताओं का था। यों भी आप देखते हैं कि यदि कोई मनुष्य सरल स्वभाव वाला होता है और सच्चा तथा प्रेम और शीतलता आदि गुणों वाला होता है तो लोग कहते हैं कि – ''यह तो जैसे कि कोई देवता है।'' तो आप सोचिये कि जिसमें सभी दैवी गुण हों अर्थात् जो साक्षात् देवता हो उसका जीवन कितना उच्च होगा?

क्या दानी का जीवन ऊंचा होता है?

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो दानी व्यक्ति के जीवन को ऊंचा मानते हैं। दानी मनुष्य अस्पताल, धर्मशाला, स्कूल आदि बनवाते हैं और वहाँ हज़ारों मनुष्य लाभ उठाते हैं। बड़ी-बड़ी सभाओं में दान देने वालों का नाम सुनाया जाता है, उन्हें 'दानवीर' की उपाधि दी जाती है और लोग उनकी महिमा करते नहीं अघाते। धर्मशालाओं, मन्दिरों, स्कूलों और अस्पतालों में पत्थरों पर नाम खुदे हुए रहते हैं कि अमुक व्यक्ति ने इतना दान दिया अथवा अमुक कमरा बनवा दिया। इस प्रकार, दानी व्यक्ति का भी ऊंचा स्थान माना जाता है। परन्तु मनुष्य के जीवन में भी काम, क्रोध, लोभ, आलस्य द्वेष, अहंकार या भय आदि विकार तो होते ही हैं। दान देना तो उनका एक सद्गुण है परन्तु उनके जीवन में भी कुछ तमोगुण-रजोगुण तो होता ही है। अत: देवी-देवताओं की भेंट में तो उनका जीवन ऊंचा नहीं मानेंगे? पुनश्च, दानी लोग जिन्हें दान देते हैं, वे भी तो विकारी ही हैं, अत: यद्यपि दान देने के फलस्वरूप उन्हें अगले जन्म में धनवान घराने में अथवा राज्यकुल में जन्म मिलता है, तो भी विकारी लोगों से कर्म-खाता जुटने के कारण उनका अगला जन्म भी होता तो विकारी मनुष्यों के यहाँ और इसी विकारी मनुष्य-सृष्टि में ही होता है और उन्हें फल भी तो एक-आध जन्म ही के लिए ही मिलता है। फिर, उनके दान देने से, दान लेने वाले का भी जीवन सर्व प्रकार से तथा सदाकाल के लिए तो सुखी नहीं हो जाता, अर्थात् जीवन सर्वोत्तम तो नहीं बन जाता? इसके अतिरिक्त दान देने वाला व्यक्ति भी देवी-देवताओं की या परमात्मा की भक्ति, पूजा, आराधना इत्यादि करता ही है और विषय-विकार मिटाने के लिए, काल के पंजे से छूटने के लिए, स्वास्थ्य और आत्मिक शान्ति के लिए याचना करता ही है। उसके पास असीम धन-राशि, स्थायी

स्वास्थ्य, एकरस शान्ति, पूर्ण निर्विकारी जीवन कहाँ? स्पष्ट है कि दानी से भी देवी-देवताओं का जीवन उच्च है।

क्या ब्राह्मणों का जीवन ऊंचा है?

बहुत-से लोग ऐसे भी हैं जो 'ब्राह्मणों' का जीवन उच्च मानते हैं। वे सभी कर्मों की शुरूआत ब्राह्मणों के हाथों से कराते हैं। जन्म से लेकर मरण तक के संस्कार करने के लिए वे ब्राह्मणों को बुलाते हैं, बल्कि मरने के बाद भी श्राद्ध के लिए ब्राह्मणों को आमन्त्रित करते हैं। दुकान का मुहूर्त्त करना हो या गृह-प्रवेश करना हो, नामकरण का दिन हो या मुण्डन का अवसर हो, ब्राह्मण का तो मुख्य पार्ट रहता है। **परन्तु वास्तव में ब्राह्मण तो वे उच्च थे जो प्रजापिता ब्रह्मा के मुख से पैदा हुए थे।** आजकल के ब्राह्मण तो **विकारी** हैं और **पुजारी** हैं। ये तो स्वयं भी जो मुहूर्त्त या धर्म-कार्य आदि करते हैं उसमें देवी-देवताओं की स्तुति, पूजा या उनका आह्वान करते हैं, उन्हीं से वर मांगते अथवा यजमान के लिए सुख-सम्पत्ति की याचना करते हैं। अत: आजकल के ब्राह्मणों से भी देवी-देवता निश्चय ही उच्च हैं।

क्या भक्तों का जीवन उच्च है?

संसार और व्यवहारी लोग भक्तों का जीवन भी बहुत उच्च मानते हैं। जो व्यक्ति भक्ति करता है, लोग उसे आदर और प्रेम भाव से "भक्त जी, भक्त जी" कहकर पुकारते हैं। वे समझते हैं कि यह कोई नेमी (नियमी) है, तीर्थ-यात्रा करता, स्नान-दान करता और देवता को रिझाता है। वे मानते हैं कि भगवान् भी भक्त के वश में होते हैं। परन्तु वास्तव में समझने की बात यह है कि "भक्ति" तो **पुरुषार्थ ही की स्टेज** (Stage) अथवा **अवस्था** है। ऊंची स्टेज तो वह है जो पुरुषार्थ के बाद "**प्राप्ति**" **की स्टेज** (अवस्था) होती है। फिर, भक्त तो भक्त ही रहते हैं, उन्हें भक्ति से ऊंची कोई **देवपद रूपी स्टेज** तो प्राप्त होती नहीं, क्योंकि वे तो सदा यही प्रार्थना करते हैं कि – "हे देव, हम आपके दास हैं, आपके किंकर हैं, भृत्य हैं, सेवक हैं। हम नीच हैं, आप हम पर कृपा करके हमारे पापों को हर लो।" अत: भक्ति तो वास्तव में कोई **उच्च कोटि का पुरुषार्थ भी नहीं है** क्योंकि उच्च पुरुषार्थ तो वह है जिससे कि उच्च प्राप्ति हो, उच्च स्टेज मिले। **भक्ति करते रहना या भक्त बने रहना ही जीवन का कोई लक्ष्य नहीं है, आखिर उद्देश्य तो किसी पूज्य और सम्पूर्ण अवस्था को प्राप्त करने का है, न कि सदाकाल के लिये पुजारी बने रहने का।**

अत: मनुष्य के जीवन में **ऊंची धारणाएं** चाहिए और उच्च धारणा के लिए भी

ज्ञान चाहिए जिससे भक्त का भी जीवन वैसा बनें, जैसे उसका है, जिसकी वह भक्ति करता है। इसलिए कहते हैं कि ज्ञान के बिना गति नहीं है। उक्ति प्रसिद्ध है कि – "ज्ञान द्वारा ही मनुष्य से देवता या नर को श्री नारायण पद की प्राप्ति होती हैं।" भक्त जिसकी भक्ति करता है, वह पूज्य भी तो आत्मा ही है और भक्त अथवा पूजक स्वयं भी एक आत्मा ही है। तो मनुष्य को सोचना चाहिये कि मेरे पूज्य की आत्मा उच्च है, मेरी नहीं है, उसके लिए मुझे प्रकाश (लाइट;Light) और शक्ति (माइट;Might) की आवश्यकता है।

जीवन ऊंचा कैसे बने?

जीवन का आधार आत्मा है। आत्मा जब उच्च बनेगी तभी हम सही अर्थ में 'महात्मा' अर्थात् 'देवता' बनेंगे। आत्मा पतित है तो मनुष्य का जीवन भी पतित है। अत: अब जीवन को ऊंचा उठाने के लिए अथवा मनुष्य से देवता बनने के लिए तीन चीज़ों की आवश्यकता है। एक तो ज्ञान, दूसरे मार्गदर्शक (Guide) और तीसरे 'शक्ति'। ज्ञान न होने के कारण मनुष्य आज सद्‌गति प्राप्त नहीं कर सकता अथवा मनुष्य से देवता नहीं बन सकता। शक्ति अथवा सामर्थ्य न होने के कारण वह जीवन को उच्च बनाने में अशक्य है और जब मार्ग-दर्शक ही नहीं तो मनुष्य अपने लक्ष्य तक पहुँचे कैसे? व्यावहारिक जीवन में भी हम देखते हैं कि जब कोई मनुष्य किसी कार्य को करना तो चाहता है, परन्तु असफ़ल रहता है तो लोग कहते हैं कि "इस में ताकत नहीं है अथवा शक्ति नहीं है।"

अब देखा जाय तो यह तीनों चीज़ें एक परमपिता परमात्मा ही के पास हैं। परमात्मा ज्ञान सागर (Knowledgeful) हैं अर्थात् उनमें सम्पूर्ण ज्ञान है और कोई भी आत्मा ज्ञान से फुल (Full) अर्थात् सम्पूर्ण नहीं हैं। दूसरे, परमात्मा मार्ग-प्रदर्शक (Guide) भी हैं। इसलिए लोग परमात्मा को इन शब्दों से सम्बोधित करते हैं – "हे जीवन-नैया के खेवनहार, हे पतित-पावन, डूबतों को बचाने वाले, नयनहीन को राह दिखाने वाले, प्रभु!" इसके अतिरिक्त, परमात्मा ही सर्व-शक्तिमान् (Almighty) भी है। परमात्मा ही ज्योति (Light) भी हैं और शक्ति (Might) भी। अतएव मनुष्य को यह जानना चाहिये कि परमात्मा के सिवाय अन्य कोई भी, मनुष्य के जीवन को उच्च नहीं बना सकता। क्या दलदल में फँसा हुआ अन्य किसी को दलदल से निकाल सकता है? नहीं। उस फँसे हुए मनुष्य को निकालने के लिए भी अन्य कोई चाहिए। इसी प्रकार, मनुष्य किसी अन्य मनुष्य का जीवन देवताओं जैसा नहीं बना सकता, वह दूसरों को पतित से पूर्ण पावन नहीं कर सकता, नर को

नारायण नहीं बना सकता। यह कार्य केवल एक परमात्मा ही कर सकते हैं।

परन्तु कितने अफ़सोस की बात है कि आज मनुष्य को यह ज्ञान नहीं है कि जीवन को ऊंचा बनाने वाले उस परमपिता, परमशिक्षक, परमसद्‌गुरु, महात्माओं से भी महान् जो परमात्मा हैं, उनका क्या नाम है या उनका कौनसा धाम है। तभी तो आज मनुष्य का यह हाल है! यदि उन्हें मालूम होता तो वे उससे सम्बन्ध जोड़कर उससे शक्ति और मार्ग-प्रदर्शना ले सकते और पतित से पावन बन गए होते।

याद रहे कि ज्ञान (Knowledge) होने से ही मनुष्य परमात्मा से सम्बन्ध (Connection) जोड़ सकता है। सम्बन्ध जोड़ने से ही उसे शक्ति और मार्ग-प्रदर्शना की प्राप्ति हो सकती है। अत: मनुष्य को यह एक बात याद कर लेनी चाहिए कि हमारा जीवन ऊंचा तभी उठेगा जब हमें उस ऊंचे-से-ऊंचे पिता (परमात्मा) का नाम-धाम आदि मालूम होगा और उसी से हमारा सम्बन्ध होगा तथा उसकी हमें याद होगी, क्योंकि तभी हमारे विचार (Thoughts) ऊंचे होंगे।

आज स्थान-स्थान पर जो 'ज्ञान' सुनाया जाता है, वह कोई वास्तविक ज्ञान नहीं है। वहाँ पर तो देवी-देवताओं के आगे झुकना और माथा टेकना सिखाया जाता है, ऊंचा उठाना नहीं सिखाया जाता। वहाँ पर **देवी-देवताओं के समान बनना-बनाना नहीं सिखाया जाता, बल्कि उसकी 'जय' बोलना सिखाया जाता है।** वहाँ विकारों पर 'जय' प्राप्त नहीं करते, बल्कि केवल देवताओं की ही **जय** बोलते हैं।



जीवन में उत्साह और उल्लास कैसे बढ़े?

सभी पुरुषार्थी को यह तो मालूम ही है कि देवता बनना अथवा जीवनमुक्ति प्राप्त करना ही मानव-जीवन का लक्ष्य है। वे यह भी जानते हैं कि इसके लिए दिव्य गुण धारण करना, परमपिता परमात्मा से योग-युक्त होना तथा ईश्वरीय ज्ञान के अनुकूल जीवन को निर्विकारी बनाने की ज़रूरत है। परन्तु हम देखते हैं कि यद्यपि यह लक्ष्य और पुरुषार्थ सभी को एक-सा बताया जाता है, परन्तु कई तो इस पुरुषार्थ में काफ़ी आगे निकल जाते हैं और कई पीछे रह जाते हैं। इसका क्या कारण है? आप कहेंगे कि हरेक के संस्कार तथा धारणा में अन्तर है, इसलिये प्राप्ति में भी अन्तर है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि हरेक की धारणा में अथवा पुरुषार्थ की तीव्रता (Speed) में भी अन्तर क्यों है? विचार करने पर आप इसी नतीजे पर पहुँचेंगे कि – इसका एक कारण यह है कि किसी के जीवन में उत्साह और उल्लास अधिक है और अन्य के जीवन में यह कम है। **उत्साह और उल्लास की कमी के कारण ही मनुष्य अपने कर्त्तव्य को जानते हुए भी जीवन में कोई विशेष अथवा उच्च कार्य नहीं कर पाता है। अगर मनुष्य के जीवन में उमंग और तरंग हो तो वह अपनी कमियों को भी दूर कर सकता है, अपनी थोड़ी-सी शक्ति से भी बहुत-कुछ कर सकता है, परन्तु उमंग के अभाव के कारण उसके हाथ-पाँव फूल-से जाते हैं; वह अपने कर्त्तव्य को समझते हुए भी उसे करता नहीं है।** इस प्रकार उत्साह की कमी के कारण मनुष्य के जीवन में बहुत ही घाटा पड़ जाता है।

अत: प्रश्न उठता है कि किन-किन कारणों से मनुष्य अपने जीवन में उमंग और उत्साह को खो बैठता है और क्या ऐसी युक्तियाँ हैं जिनसे कि उसके जीवन में उत्साह बना रह सकता है?

आलोचना, निन्दा अथवा व्यंग से उत्साह भंग

देखा गया है कि अगर काम करने के बाद मनुष्य के कार्य करने के बारे में लोग – 'वाह, वाह' करें तो काम करने वाले मनुष्य का उत्साह बढ़ता है और उस उत्साह तथा खुशी में आकर वह और अधिक काम कर डालता है तथा अपने काम में श्रेष्ठता लाता है, क्योंकि वह सोचता है कि मेरे कार्य करने का स्तर (Standard) गिर न जाय और मेरे बारे में लोगों का विचार (Opinion) बदल न जाय, परन्तु यदि काम करने के बाद उसे कोई कहे कि – 'यह क्या किया है! तुमने तो सब चौपट कर दिया है'' अथवा

"तुम्हारा काम हमेशा ऐसा ही होता है; मालूम होता है कि ध्यान देकर काम नहीं करते हो," तो उस मनुष्य का उत्साह भंग हो जाता है। वह सोचता है कि – "मैंने इतने परिश्रम से और मन लगाकर काम भी किया और इस पर मुझे यह सुनना पड़ रहा है कि मैंने तो काम चौपट कर दिया है; तो ठीक है, मैं आगे के लिए काम करूंगा ही नहीं। निःसन्देह कोई भी कार्य अथवा सेवा करने से मेरा ही भाग्य उच्च बनता है परन्तु मुझे अब ऐसी बातें सुननी ही नहीं हैं चाहे मेरा भाग्य बने या न बने! यदि मेरे कार्य में कोई कमी भी है तो भी मुझे ऐसे ढंग से क्यों कहा जाता है?" इस प्रकार जब उसके मन को महसूस होता है तो वह हाथ पर हाथ धर कर बैठ जाता है।

यदि कार्य करने के पहले उसे कोई कहे कि – "आप तो अच्छे पुरुषार्थी दिखाई देते हैं, हमें तो आप में काफ़ी उम्मीद है" तो उसके उल्लास में काफ़ी वृद्धि होती है और वह जी-जान लगाकर काम करता है, परन्तु यदि कोई व्यंग में उसे कह दे – "भाई, इसका कार्य तो हमेशा नमूने का होता है", तो वह समझ जाता है कि यह मुझ पर व्यंग हो रहा है। वह इसे अपने मन को लगा लेता है और पुरुषार्थ से पीछे हट जाता है।

परन्तु वास्तव में ऐसा कहना ग़लत है। यदि कोई व्यक्ति हमारी आलोचना करता है और उस आलोचना में कुछ सत्य और तथ्य है तो उसे हमें अच्छा समझना चाहिये, क्योंकि उससे हमें अपनी कमियों का पता चलता है। हमें उन कमियों को दूर करना चाहिए और हमारी ग़ल्तियों को बताने के लिए उस व्यक्ति को धन्यवाद देना चाहिए। परन्तु यदि हम समझते हैं कि आलोचना निराधार और तथ्यहीन है और ईर्ष्यालु लोगों द्वारा यों ही अपमानित करने के लिये की गई है तब भी उत्साहहीन होने का कोई कारण नहीं, क्योंकि तब हमें सोचना चाहिए कि वे अपने दूषित संस्कारों के वशीभूत होकर अथवा किसी भ्रान्ति के वश होकर ऐसा कर रहे हैं। उनके संस्कारों के कारण हम अपने कर्त्तव्य को क्यों छोड़ दें? हम अपने भाग्य को उच्च बनाने का पुरुषार्थ क्यों छोड़ दें? हमें जो सेवा करने का अथवा कर्त्तव्य करके जीवन को उच्च बनाने का अवसर मिला है, उसे हम दूसरों के कारण क्यों गँवायें?

फिर यह भी समझना चहिए कि हम तो इस कार्य में निमित्त हैं। जो निमित्त होते हैं उन्हें तो नम्र-चित्त होना पड़ता है; उन्हें तो सहन करना ही पड़ता है। विशेषकर जो धर्म या स्वराज्य की स्थापना या समाज-सेवा के कार्य में लगे होते हैं, उन्हें तो आलोचना, आरोप, आक्षेप, अत्याचार सहन करना ही पड़ता है। जो ऊंचे लक्ष्य को लेकर चलते हैं, उन्हें नुक्ताचीनी का तो सामना करना ही होता है। यह तो हमें पहले से ही मालूम है कि हम अच्छाई की ओर जितना आगे बढ़ते हैं बुराई उतनी ही हमारे सामने आती है। तब

फिर बुराई का सामना करने की बजाय अच्छाई के मार्ग से हटने की बात क्यों?

जो मनुष्य ज्ञान और योग के पथ पर चलता है, उसे दिव्य-गुण भी धारण करने होते हैं। इन दिव्य गुणों में सहनशीलता और सम-अवस्था का मुख्य स्थान है। अत: आलोचना, नुक्ताचीनी आदि की जो परिस्थितियाँ आती हैं, उनके बारे में तो हमें यह सोचना चाहिए कि ये दिव्य गुणों की धारणा के लिए ही हमारे सामने आवश्यक परिस्थितियाँ आई हैं। यदि ये परिस्थितियाँ न आयें तो उन दिव्य गुणों की धारणा का अभ्यास हम कैसे करेंगे? हमारी तो पढ़ाई भी प्रैक्टीकल और परीक्षा भी प्रैक्टीकल है। अत: ये तो मानो कि हमारे लिए उन्नति की सीढ़ियाँ हैं। अगर हम इन्हें पार करते जायेंगे तो ऊपर चढ़ते जायेंगे और यदि हम इन पर खड़े हो जायेंगे या पीछे वापस लौट आयेंगे तो फिर हम मंज़िल पर पहुँचेंगे कैसे? शिव बाबा तो कहते हैं कि आप जम्प (Jump) करो; जम्प तो किसी अड़चन (Hurdle) के ऊपर से ही किया जाता है। अत: यदि हम इस नुक्ताचीनी की परीक्षा को जम्प से पार कर देंगे तो हमें सदा के लिए सुख का प्राइज़ (Prize) मिलेगा। तो हमें अपनी उन्नति के दृष्टिकोण से ही उन परिस्थितियों को देखना चाहिए; हमें दूसरे के बात करने के ग़लत तरीके की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए। यदि हम ऐसा दृष्टिकोण धारण नही करेंगे तो हमारी अपनी ही हानि होगी और अपनी कमाई में घाटा डालना तो भारी भूल है। जो लोग हमारी नुक्ताचीनी करते हैं, वे हमारी कठिनाइयों का एहसास (Realise) नहीं करते, तो क्या उनकी इस ग़लती के कारण हम अपनी पढ़ाई (गुणों की धारणा) और कमाई (सेवा-कार्य द्वारा प्राप्ति) छोड़ दें? छोड़ने का तो यह अर्थ होगा कि हम भी इस बात का एहसास नहीं करते कि दूसरों के ख़राब संस्कारों के कारण हम अपनी हानि कर रहे है।

असफ़लता अथवा हानि होने के कारण हौसला कम

कई बार ऐसा भी होता है कि जब किसी मनुष्य को किसी प्रयत्न अथवा कार्य में दो-चार बार लगातार असफ़लता होती है अथवा झंझटों का सामना करना पड़ता है, तब भी वह हिम्मत हार जाता है और मन में निराशा लेकर बैठ जाता है। परन्तु परमपिता परमात्मा शिव कहते हैं कि – यदि शिकस्त (Defeat) हो गयी; सो तो हो गयी, अब दिल-शिकस्त (Defeatist mentality) तो मत बनो। हार हो गयी सो हो गयी ; मन से तो न हारो! अंग्रेजी के साहित्य में रॉबर्ट ब्रूस और मकड़ी (Robert Bruce and Spider) की कहानी प्रसिद्ध है। रॉबर्ट ब्रूस जब कई लड़ाइयों में हार गया तो वह हिम्मत और हौसला भी छोड़ बैठा, परन्तु जब उसने मकड़ी को कई बार गिरने के बाद फिर-फिर ऊपर

चढ़ने का यत्न करते हुए और अन्त में विजय प्राप्त करते हुए देखा तो उसमें फिर हिम्मत लौट आई और जब उत्साह और उमंग लौट आये तो उसे विजय प्राप्त हुई। तो देखिये कि हिम्मत हार जाने से क्या परिणाम होता है और उमंग तथा उत्साह बने रहने से क्या प्राप्ति होती है। अत: यदि असफ़लता हुई तो देखना चाहिए कि किन कारणों से असफ़लता हुई। उन कारणों का निवारण करना चाहिए; अभ्यास करते-करते सफ़लता मिल ही जायेगी। यदि सफ़लता न भी मिले तो भी प्रयत्न करने से कुछ-न-कुछ तो बनेगा ही, पुरुषार्थ छोड़ देने से तो कुछ भी नहीं बनेगा।

दूसरों के असहयोग के कारण उमंग समाप्त

यदि किसी कार्य में मनुष्य को दूसरे साथी सहयोग नहीं देते तब उसका मन टूट जाता है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होना चाहिए, बल्कि मनुष्य को सोचना चाहिए कि यदि वे सहयोग नहीं देते तो अपने लिए ही अनमोल अवसर को गंवाते हैं, हम कार्य करेंगे सो हम पायेंगे; वे नहीं करेंगे तो अपना गंवायेंगे। "जो ओटे सो अर्जुन" अथवा 'जो करे सो पावे' की उक्ति के अनुसार हम ही इसे करने का बीड़ा उठाते हैं, वे हमारे मददगार नहीं बनेंगे तो स्वयं सर्वशक्तिमान् भगवान् हमारे साथ हैं। हम अकेले नहीं बल्कि स्वयं भगवान् हमारे सहयोगी हैं। इस शुभ कार्य को कराने वाले तो स्वयं भगवान् ही हैं केवल हमें निमित्त बनने की ज़रूरत है। अत: उनको न देखते हुए और शिव बाबा को अपने सामने अथवा साथ देखते हुए कार्य में लग जाना चाहिए। हमें असहयोगी (Non-co-operative) लोगों का अनुकरण थोड़े ही करना है, हम तो परमपिता परमात्मा शिव की आज्ञा का अनुकरण करके अपना भविष्य ऊंचा बनायेंगे।

आत्म-विश्वास की कमी के कारण उत्साह की कमी

ऐसा भी होता है कि यदि किसी मनुष्य को स्वयं में विश्वास न हो तो वह अपने पास साधन, सामर्थ्य और योग्यता होते हुए भी कुछ नहीं कर पाता। आत्म-विश्वास की कमी, संकोच, लोक-लाज के कारण मनुष्य के मन में उठती हुई उमंग भी बन्द हो जाती है। वह सोचता है कि मैं इस पुरुषार्थ में लग तो जाऊं परन्तु सफ़ल न होऊं तो लोग क्या कहेंगे? परन्तु ऐसा सोचना भी व्यर्थ है। ऐसा सोचते रहने से तो हमारी उन्नति ही रुक जायेगी। हमें सदा यह सोचना चाहिए कि हम जो कार्य करने लगे हैं, एक तो वह ऐसा कार्य है जिससे हम में आत्मिक बल बढ़ेगा, क्योंकि पवित्रता भी एक बल है। दूसरे, उस कार्य को करने से ईश्वरीय बल भी हमें मिलेगा, क्योंकि अच्छा कार्य करने का अर्थ है – ईश्वरीय कार्य में सहयोगी बनना। तीसरे, यदि कोई कमी रह भी गयी हो तो हम

करना तो सीख ही जायेंगे। सफ़लता यदि न भी मिली तो सीखना भी तो एक प्रकार की प्राप्ति है और न करने वाले की तुलना में तो पुरुषार्थ में असफ़लता पाने वाला फिर भी आगे ही है, क्योंकि उसे कर्तृत्व का तो श्रेय है। जो करेगा ही नहीं वह सीखेगा कैसे? "करते की विद्या है" – उक्ति तो ऐसे प्रसिद्ध है। अत: 'न' की तुलना में कुछ करना अच्छा होता है – ऐसा मानकर मनुष्य को कर्त्तव्य में लग जाना चाहिए। लोग हमारी हिम्मत नहीं बढ़ायेंगे तो हिम्मत करने वाले को खुदा मदद देता है। वे यदि 'शाबाश' (Buck up) नहीं कहेंगे तो परमपिता परमात्मा हमें सहारा (Backing) देंगे। लोगों की ओर न देखते हुए हम यदि भगवान की ओर देखेंगे तो हम यह सोचकर कि – "हम जैसे भी हैं उस प्रभु के हैं और वह हमारा है" – हम कार्य में जुट जायेंगे और निश्चयात्मा होकर विजयी बनेंगे।

कार्य का श्रेय दूसरों को मिलने के कारण उत्साह-हीनता

कुछ लोग जब यह देखते हैं कि कार्य तो उन्होंने ही किया है, परन्तु उसका श्रेय दूसरों को मिल रहा है, नाम दूसरों का हो रहा है तो वे आगे के लिये कार्य से पीछे हट जाते हैं। वे कहते हैं कि जिनको नाम मिला है, उन्हें ही काम करने दो। जब उन्हें कोई काम दिया जाता है तो वे कहते हैं कि हम यह कार्य नहीं कर सकते, हमारे पास समय नहीं है अथवा वे वैसे ही कह देते हैं कि – "यह कार्य उन्हें (जिनको पहले कार्य का श्रेय दिया गया है) दे दो।" परन्तु उनके ऐसा कहने में उपालम्भ अथवा नाराज़गी समाई हुई होती हैं। इस रुष्टता की मनोवृत्ति (Mood) में वे उत्साह-हीन हो जाते हैं और कार्य करना छोड़ देते हैं और यदि सहयोग देते भी हैं तो भी शुष्क रीति से और अलग-अलग से रहकर। वे यह नहीं सोचते कि अच्छा कार्य अथवा ईश्वरीय कार्य हो तो जायेगा ही, हम यदि कोई उपालम्भ देकर अथवा कोई बहाना बनाकर उसे अपने सिर से टालना चाहेंगे तो भी वह रुकेगा तो नहीं परन्तु उसे छोड़ने से हम एक प्रकार से अपना ही उच्च पद गंवा बैठेंगे अर्थात् जो उस कार्य को करने से हमें स्वर्गिक राज्य-भाग्य मिलता उसे गोया लौटाने जैसा अकर्त्तव्य करेंगे।"

अत: जहाँ तक हो सके, सभी का सहयोगी बन कर मनुष्य को उपालम्भ, बहाना तथा शिकायत के बिना और प्रफुल्लित हृदय से कार्य में तत्पर रहना चाहिए और यह सोचना चाहिए कि "गुप्त दान महा पुण्य" होता है। यदि मेरा कार्य लोगों ने नहीं देखा अथवा देखते हुए भी मेरी सराहना नहीं की तो कोई बात नहीं, गुप्त कार्य का अधिक फल होता है। हमारा सहायक परमपिता परमात्मा भी गुप्त है, हमारा पुरुषार्थ भी गुप्त है और

अभी प्राप्ति भी गुप्त है। अच्छा है, ''नेकि कर दरिया में डाल'' की कहावत के अनुसार हम कार्य कर रहे हैं। हम अभी यश के रूप में प्रारब्ध नहीं भोग रहे तो भविष्य में हमें सौ गुणा अधिक सुख की प्राप्ति होगी। कर्म तो अविनाशी है; हमने जो कुछ किया, चाहे वह लोगों के ध्यान में नहीं आया तो कोई बात नहीं, हमारे कर्मों के खाते में तो दर्ज हो ही गया, कर्म तो अविनाशी है, लोगों के न देखने से ऐसा तो हो ही नहीं सकता कि हमारे कर्मों का फल हमें नहीं मिलेगा। तो फिर चिन्ता किस बात की है? इस तरह मनुष्य को सदा अपने जीवन में उल्लास और उमंग बनाये रखना चाहिए।

जीवन में उमंग और उल्लास के बिना तो मनुष्य निर्जीव की तरह है। उत्साह और उमंग के महत्व को लोग मानते हैं, तभी तो यह रिवाज़ है कि जब कोई व्यक्ति अपने किसी मित्र-सम्बन्धी को अंग्रेज़ी भाषा में पत्र लिखता है तो उसके प्रारम्भ में यह वाक्य लिखता है – ''आशा है कि आप स्वस्थ होंगे और स्पिरिट (Spirit) में होंगे।'' इसका अर्थ यह हुआ कि जीवन में सफ़लता और उन्नति के लिये जैसे धन का महत्व है वैसे स्पिरिट (Spirit) अर्थात् उमंग और उल्लास का भी है। हिन्दी भाषा में पत्राचार करते समय लोग लिखते हैं – ''आशा है कि आप ठीक-ठाक होंगे''। ठीक के साथ जो 'ठाक' शब्द है यह वास्तव में स्पिरिट का वाचक है। पुनश्च, जब लोग देखते हैं कि कोई व्यक्ति उमंग और उत्साह से रहित है तो वे कहते हैं कि अभी इसका मूड ऑफ (Mood off) है, इसलिए अभी इसे किसी कार्य के लिए कहना नहीं चाहिए, वरना यह तुरन्त 'न' कहेगा। तो जैसे बिजली का स्विच ऑफ होने से, कारखाने की मोटर नहीं चलती, वैसे ही उत्साह या मूड ऑफ़ होने से मनुष्य भी नाकारा हो जाता है। जैसे कि हमने बतलाया है, मूड ऑफ़ होने के मुख्य कारण हैं – दूसरों द्वारा नुक्ताचीनी (Criticism) अथवा कार्य की यथेष्ट सराहना का अभाव (Lack of appreciation), सहयोग का अभाव (Lack of co-operation), आत्म-विश्वास की कमी (Lack of Self-Confidence), जीवन में सफ़लताओं की कमी (Failures) इत्यादि। परन्तु इन सभी का कारण अपने में ईश्वरीय-ज्ञान के किसी-न-किसी प्वाइंट की धारणा की कमी, किसी दिव्य गुण का स्वयं में अभाव तथा ईश्वरीय योग में स्थिति का अभाव है। इन तीनों के विस्तार की बात को एक ओर रखकर, एक वाक्य में यह कहना होगा कि जब मनुष्य यह भूल जाता है कि मैं सर्वशक्तिमान्, त्रिलोकीनाथ, सर्वसमर्थ, परमपिता परमात्मा की संतान हूँ और अच्छे कार्य में वह परमपिता मेरा सहायक है और उसमें यदि सफ़लता दिखाई न दे तो भी मेरा कल्याण है और कोई प्राप्ति अवश्य है। यदि वह इस बात को न भूले तो उसके जीवन में उत्साह, उल्लास और उमंग बने रहेंगे और वह दिनोंदिन उन्नति की सीढ़ी पर चढ़ता जायेगा।



मनमत और 'श्रीमत'

मनुष्य का स्वभाव है कि जो कार्य उसके मन को भाता हो अर्थात् उसकी अपनी इच्छा के अनुकूल हो, उसे वह पूरी रुचि, उमंग और लगन के साथ करता है। ऐसे कार्य को वह बहुत ही उत्साह और उल्लासपूर्वक तुरन्त शुरू कर देता है तथा बड़ी फुर्ती और सतर्कता बरतते हुए उसे जल्दी से जल्दी सम्पन्न कर देना चाहता है। यदि उस कार्य को खत्म करने के लिए कोई निर्धारित समय हो, तो वह प्राय: उसे समय से पूर्व ही पूरा कर लेता है। अपने मनपसन्द कार्य की पूर्ति के लिए जो कुछ भी पुरुषार्थ या त्याग पर्याप्त होता है, उसे वह अपनी मन-मर्जी से और खुशी-खुशी कर लेता है। इससे उसकी हर मुश्किल आसान हो जाती है और वह मार्ग की कठिन से कठिन रुकावटों को भी बड़ी आसानी से पार करता हुआ अपनी मंज़िले-मकसूद तक जा पहुँचता है। अपने मनोवांछित लक्ष्यरूपी फल की प्राप्ति होने पर उसे असीम खुशी का अनुभव होता है इसकी भेंट में यदि मनुष्य को कोई ऐसा कार्य करने को कहा जाये जो उसकी अपनी इच्छा के विपरीत हो अर्थात् उसके मन को न भाता हो, तो वह पहले तो कई हील-बहाने बनाकर उससे छुटकारा पाने की कोशिश करता है और यदि उसे लाचारी हालत में उस कार्य को करना ही पड़े, तो वह उसे अनमना-सा होकर बड़े अलबेलेपन और सुस्तीपूर्वक करेगा। वह ज़रा-ज़रा सी बात पर अटकेगा तथा थकावट और भारीपन महसूस करेगा। उस कार्य को पूरा करने के लिए वह न तो कोई विशेष मेहनत करेगा और न ही किसी प्रकार का त्याग करने के लिए राज़ी होगा। इसे उसे बात की भी कोई परवाह नहीं होगी कि वह कार्य निर्धारित समय के अन्दर-अन्दर पूरा हो भी जायेगा या नहीं। परिणामस्वरूप, वह कार्य प्राय: अधूरा ही रह जाता है।

आज संसार में बहुधा मनुष्य अपनी मनमर्ज़ी के अनुकूल कर्म करना ही पसंद करते हैं। केवल इतना ही नहीं, वे यह भी चाहते हैं कि उनके सम्पर्क में आने वाले सभी लोग उनका कहना मानें और उनकी मर्ज़ी के मुताबिक चलें। उनकी आन्तरिक तमन्ना तो यहाँ तक रहती है कि संसार में जो कुछ भी होता है, वह सब उनकी इच्छा के अनुसार ही हुआ करे, तो कितना अच्छा हो! जब कभी उनके मन और बुद्धि के बीच इस बात पर संघर्ष चलता है कि अमुक कर्म उन्हें करना चाहिए या नहीं, तो भी जीत प्राय: मन की ही होती है। दूसरे शब्दों

में बहुधा मनुष्य अपने मन को अच्छे लगने वाले व्यक्तियों, वस्तुओं, परिस्थितियों एवम् वातावरण को प्राप्त करना अथवा बनाये रखना चाहते हैं तथा अपने मन को अच्छी न लगने वाली इन्हीं चीज़ों से निवृत्ति हासिल करना अथवा इनसे छुटकारा पाना चाहते हैं। यही उनके जीवन का लक्ष्य बन जाता है और इसी उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए वे मरते दम तक दौड़-धूप करते रहते हैं। उनके जिस कार्य का परिणाम उनकी इच्छा के अनुकूल नहीं निकलता है, उससे वे दु:खी और अशान्त हो जाते हैं। उनके मन की इच्छाओं का पूरा होना या न होना ही उनके सुख-दु:ख तथा शान्ति-अशान्ति का मापदण्ड बन जाता है। उन्हें इस बात का कोई विचार नहीं रहता कि उनकी इच्छाएं यथार्थ, मर्यादायुक्त और शुभ हैं या कि अयथार्थ, मर्यादारहित और अशुभ हैं। वे तो केवल अपनी सभी अच्छी-बुरी इच्छाओं की पूर्ति चाहते हैं और इसमें ही उन्हें सुख-शान्ति महसूस होती है। किन्तु विचार की बात है कि ऐसी विचित्र-सी शान्ति को जो एक शराबी को शराब मिल जाने पर या एक हत्यारे को हत्या करने पर प्राप्त होती है, क्या सच्ची, स्थाई एवम् सुखदायक शान्ति कहा जा सकता है? मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह सभी प्राणियों में श्रेष्ठ है। मनुष्य द्वारा अन्य प्राणियों के हित-अहित का ध्यान रखे बिना किया गया कोई भी कर्म श्रेष्ठ-कर्म नहीं हो सकता और न ही उससे सच्चे सुख-शान्ति की प्राप्ति हो सकती है। इसी रीति काम, क्रोधादि मनोविकारों के वशीभूत होकर किए गए कर्मों अथवा विकर्मों का फल भी सुख-शान्ति नहीं, बल्कि दु:ख-अशान्ति ही होता है। लेकिन पतित, भोगी और तमोप्रधान मनुष्य अपने भ्रष्ट एवम् कनिष्ठ कर्मों के भयंकर व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक दुष्परिणामों की कोई परवाह न करते हुए उनके द्वारा अपने मलीन मन की तुच्छ इच्छाओं की पूर्ति से होने वाले क्षण-भंगुर एवं विनाशी इन्द्रियों के सुख की अनुभूति करने में ही तल्लीन रहते हैं। अपनी विषय-वासनाओं, दुर्व्यसनों एवम् देह-अभिमान की पूर्ति के लिए वे नाजायज़ तरीकों से धन बटोरते हैं। झूठ और धोखेबाजी में उन्हें अपनी कमाई और लाभ दिखाई देता है। वे भूल जाते हैं कि दूसरों से धोखा करके वे वास्तव में अपने साथ ही धोखा करते हैं। ऐसे मनुष्य माया के पूरे मुरीद होते हैं। माया ने उनकी आंखों ऐसी धूल झोंक रखी है कि दुर्योधन की न्याई उन्हें कुछ दिखाई ही नहीं देता। सत्य को असत्य और असत्य को सत्य मानने लगते हैं। उन्हें यह कलियुगी पतित सृष्टि रूपी नर्क तो स्वर्ग भासता है और सतयुगी स्वर्ग अथवा वैकुण्ठ के

सच्चे सुख फीके लगते हैं। ऐसे मनुष्यों के लिए ही कहा गया है कि सूई के छिद्र से ऊँच निकल जाना तो सम्भव हो सकता है, किन्तु मायावी मनुष्य का सतयुगी स्वर्ग में चलना सम्भव नहीं है। वे ईश्वरीय सत्य-ज्ञान के दो शब्द भी सुनना नहीं चाहते। जो ज्ञान रूपी अमृत है वह तो उन्हें विष लगता है और विष उन्हें अमृत के समान मीठा लगता है। ऐसे मनुष्यों को कितना भी समझायें कि 'पवित्रता ही सच्चे सुख और शान्ति की जननी है' अथवा 'इस पतित कलियुगी सृष्टि का महाविनाश होने ही वाला है' किन्तु इन कुम्भकरणों पर कुछ असर नहीं होता। ऐसे विनाश काले 'विपरीत बुद्धि' दुष्ट लोग अपने भ्रष्ट कर्मों के कारण भावी महाविनाश में नष्ट हो जायेंगे और उनकी आत्माएं धर्मराजपुरी में कड़ी सजाएं भोगेंगी। लेकिन यह सब जानते हुए भी अपना तो फिर भी यही कर्त्तव्य बनता है कि दुर्जनों पर भी तरस खाकर उन्हें ईश्वरीय सन्देश देते रहें। इसके अतिरिक्त कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं जो इस ईश्वरीय सत्यज्ञान के मार्ग पर चल तो पड़े हैं किन्तु वे अटकते, भटकते और लंगड़ाते हुए चल रहे हैं। अपने पुरुषार्थ की रफ़्तार से वे स्वयं भी सन्तुष्ट नहीं हैं क्योंकि वे ईश्वरीय 'श्रीमत्' एवम् नियमों का पूरा पालन नहीं कर पाते। उनकी रूहानी मौज-मस्ती तथा उमंग-उत्साह एकरस और सदाकालीन नहीं रहती। वे बीच-बीच में सुस्ती, आलस्य और निराशा का शिकार होते रहते हैं। अब तक भी उनके मन में मायावी विकल्पों की कोई ऐसी लहर आ जाती है जो उनकी सारी अलौकिक खुशी एवम् ईश्वरीय नशे को गायब कर देती है। अब जब कि ईश्वरीय पढ़ाई का समय पूरा हुआ है और अन्तिम परीक्षा होने ही वाली है, तो ऐसे ढीले-पुरुषार्थियों को बहुत सावधान होने की ज़रूरत है। उन्हें सोचना चाहिए कि कहीं ऐसा तो नहीं कि वे उस हद तक ही ईश्वरीय 'श्रीमत' पर चलते हों जितने तक कि 'श्रीमत' उनकी मनमत के अनुकूल होती है, किन्तु जब भी 'श्रीमत' और उनकी अपनी मत में फर्क हो तो वे 'श्रीमत' को मानने की बजाय अपनी मन मर्ज़ी कर लेते हों। ऐसी हालत में तो यही समझना चाहिए कि वे अब तक 'श्रीमत' पर नहीं, बल्कि अपनी मन मत पर ही चलते रहे हैं जिससे उनमें कमियाँ और कमज़ोरियाँ रह गई हैं। यह एक बहुत ही खतरनाक चिह्न है। कल्याण तो इसी में है कि पुरुषार्थ करने के लिए बची हुई शेष चन्द घड़ियों के लिए परमपिता परमात्मा पर पूरा-पूरा भरोसा करके उनकी पतित-पावनी, सदा कल्याणकारी 'श्रीमत्' का पूरा-पूरा पालन किया जावे।



नाराज़गी

इस कलिकाल में हम देखते हैं कि हरेक व्यक्ति किसी एक-न-एक से ज़रूर नाराज़ अथवा असंतुष्ट है। शायद ही कोई व्यक्ति ऐसा मिलेगा जो सबसे पूर्णतया सन्तुष्ट हो और जिससे अन्य सभी भी सन्तुष्ट हों। इस बात को देखकर किसी लेखक ने यह कह दिया कि संसार में आज तक कोई ऐसा मनुष्य पैदा ही नहीं हुआ जो सारी दुनिया को संतुष्ट कर सका हो (There was never born a man who could please the whole world)।

अब क्या किया जाए! क्या लोगों को असन्तुष्ट ही रहने दिया जाए और उनकी दशा को उन्हीं पर छोड़ दिया जाए या कोई ऐसा उपाय है जिससे कि अधिकाधिक लोगों को सन्तुष्ट किया जा सकता है? फिर हमारी अपनी असन्तुष्टता का क्या इलाज है? हमारी अपनी नाराज़गी कैसे दूर हो और हम में ताज़गी कैसे आए?

योगी के लिए संतोष और संतुष्टता महत्वपूर्ण

योगी का ध्यान अपने चित्त की वृत्तियों पर होना स्वाभाविक है। हरेक योग-शास्त्र में 'संतोष' और संतुष्टता को विशेष स्थान दिया है और उसकी विशेष व्याख्या की गई है। यदि हम योग-स्थिति का विश्लेषण करें तो हम इस परिणाम पर पहुंचेंगे कि योग और संतुष्टता सहगामी हैं। संसार की स्थिति से असंतुष्टता प्रारम्भ में कई धर्म-प्रेमी लोगों को योग मार्ग अपनाने के लिए प्रेरित करती है परन्तु जब मनुष्य योग-युक्त हो जाता है तब वह 'असंतुष्टता' नामक चित्त-वृत्ति से अवश्य ही ऊंचा उठा हुआ होता है।

नाराज़गी और असंतुष्टता में अन्तर

अत: हम संतुष्ट होने तथा नाराज़गी से बचने सम्बन्धी जो प्रश्न ऊपर कर आये हैं, वह योगी के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं। परन्तु इस प्रश्न पर चर्चा करने से पहले हम 'नाराज़गी' और 'असंतुष्टता' में अन्तर को स्पष्ट कर देना चाहते हैं। हमारे विचार में असंतुष्टता नाराज़गी की जननी है परन्तु असंतुष्टता से नाराज़गी अधिक उग्र और क्लेशकारी है। यह एक मानसिक ताप है। जैसे किसी व्यक्ति का तापमान (Temperature) सदा 99° (F) फारेनाहाइट रहता है वैसे ही नाराज़गी वाले मनुष्य का मन भी थोड़ा बहुत तपा ही रहता है, गोया यह एक मानसिक ज्वर है, एक प्रकार का तपेदिक (T.B.) है। पुनश्च यदि हम से किसी

का व्यवहार मर्यादापूर्ण न हो अथवा यदि हमारे साथ कोई कार्य करने वाला ठीक प्रकार से कार्य न करता हो तो इस परिस्थिति में असंतुष्टता का उद्रेक होने की सम्भावना तो होती है परन्तु, उस व्यक्ति से नाराज़ हो जाना स्वयं अपनी ही कमज़ोरी के कारण होता है। असंतुष्टता को जागृत करने में तो दूसरा व्यक्ति भी भागीदार होता है क्योंकि उसी की रीति-नीति और उसी की स्थिति-कृति अथवा उसी की बात-चीत मर्यादा का उल्लंघन करने वाली होती है, परन्तु नाराज़गी का होना या न होना स्वयं हम पर अर्थात् हमारे स्वभाव पर निर्भर करता है।

नाराज़गी और असंतुष्टता का कारण और निवारण

अब प्रश्न यह है कि नाराज़गी अथवा असंतुष्टता का इलाज़ क्या है? हमारा यह विचार है कि किसी मनुष्य में मुख्य रूप से दो कारणों से ही असंतुष्टता होती है (1) एक कारण तो प्रायः यह हुआ करता है कि आप जिस व्यक्ति से सहयोग, सहायता, सहानुभूति, सहकारिता, स्नेह और सम्मान की जो आशा करते हैं, वह उस आशा के अनुसार पूरा नहीं उतरता और (2) दूसरा कारण यह हुआ करता है कि आप जिस व्यक्ति से सभ्य-व्यवहार मर्यादा, शालीनता, अनुशासन, सरलता और सच्चरित्रता की जो आशा करते हैं, आपकी वह आशा उससे पूरी नहीं होती। अब इन कारणों से हमारे मन में असंतुष्टता और उससे उत्पन्न होने वाली नाराजगी तभी पैदा होती है जब हम इन तीन बातों को समय पर अपने मन में स्थिर नहीं कर पाते:–

1. यह कि हरेक मनुष्य स्वयं कई उलझनों में उलझा हुआ है, चिन्ताओं में डूबा हुआ है, परिस्थितियों से पीड़ित है, कमियों और कमज़ोरियों से जकड़ा हुआ है, और उसके अपने विचार अस्थिर आकर्षण केन्द्र तथा स्नेह-भाजन बदलने वाले हैं और तन से, धन से तथा बुद्धि से उसकी सामर्थ्य की सीमा है। जब हम उसकी इन उपाधियों एवं परिस्थितियों की अपेक्षा करके उससे आशा करते हैं तो गोया जान-बूझकर अपने को मानसिक असंतुष्टता का शिकार बनाते हैं।

2. दूसरा यह भूल जाते हैं कि इस समय सभी मनुष्यों की तमोप्रधान, मर्यादा विहीन, माया अधीन, और मानसिक चंचलता अथवा अस्थिरता तथा संस्कारों की अशुद्धता की अवस्था है। जो इससे उच्च उठ चुके हैं वे भी अभी सम्पूर्ण नहीं बने। यदि वर्तमान समाज तथा उसमें व्यक्ति की दशा, परिस्थिति तथा कमज़ोरी का ज्ञान हमारी बुद्धि में स्थिर रहे तो हम स्व-स्व अनुसार नाराज़गी से बचे रह सकते हैं।

3. इस पर भी यदि यह बात विस्मृत न हो कि हमारा हरेक व्यक्ति से अपना कर्म-फल भी है और हमारा कर्म-फल भी हमारे साथ है और कि हरेक मनुष्य शुद्ध रूप से, अशुद्ध रूप से तथा शुद्ध-एवं-अशुद्ध मिश्रित रूप से किसी-न-किसी अंश में स्वार्थी भी है तो फिर हम नाराज़गी के उग्र रूप से स्वयं को बचाये रख सकते हैं।

हम एक दो उदाहरणों द्वारा इस बात को और अधिक स्पष्ट करते हैं।

एक उदाहरण

मान लीजिए कि किसी सेवा केन्द्र की कोई शिक्षिका किसी ज्ञानवान भाई को कहती है कि "आज सायं को शिवरात्रि से सम्बन्धित कार्यक्रम है। उसके लिए व्यवस्था करनी है।" आज आप सायं 5.30 बजे अवश्य अमुक हाल में पहुंच जाना अमुक वह भाई कहता है "बहन जी, आज तो मैं जल्दी नहीं आ सकता। हमारे दफ़्तर में कार्य बहुत है। मुझे जल्दी छुट्टी मिलेगी ही नहीं। अतः 5.30 बजे मैं नहीं आ सकता। हाँ 6.00 या 6.30 बजे तक पहुंच सकता हूँ।" इस पर यदि वह बहन उससे असंतुष्ट अथवा रुष्ट हो जाती है और कहती है कि "वर्ष भर में एक दिन ही तो शिवरात्रि का त्योहार हम मनाते हैं। आप तब भी थोड़ा जल्दी छुट्टी नहीं ले सकते तो बाकी फिर आप क्या सेवा कर सकते हो, अथवा आप का निश्चय क्या हुआ?" बहन को असंतुष्टता से व्यवहार करते देख वह भाई भी नाराज़ हो जाता है। वह कहता है कि "बहन जी मेरी परिस्थिति को तो आप मापती नहीं हैं, यों ही रुष्ट हो रही हैं? यह कोई ठीक थोड़े ही है।"

अब वास्तव में इस तरह की बात तभी होती है जब दोनों एक दूसरे की परिस्थिति को ध्यान में नहीं रखते। जब उस व्यक्ति को दफ़्तर से छुट्टी ही नहीं मिल सकती तो उससे असंतुष्ट होने का कारण ही नहीं है। हाँ यदि हमें शत-प्रतिशत सही मालूम है कि वह व्यक्ति छुट्टी ले सकता है और वह यों ही टरका रहा है तब हम मान सकते हैं कि वह सहयोग नहीं देना चाहता। परन्तु एक दूसरे की आवश्यकता एवं परिस्थिति को ठीक प्रकार न मापने के कारण परस्पर असंतुष्टता होती है।

अब हम दूसरे प्रकार के बताये कारणों में से एक और उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं।

दूसरा उदाहरण

मान लीजिए एक महिला को अपने भाई से सहयोग और सहायता चाहिए। परन्तु भाई से उतनी ही सहायता न मिलने पर वह असंतुष्ट होकर कहती है — "अब इस भाई का मुझ से कुछ भी स्नेह नहीं रहा। जब से इसने विवाह किया है, तब से यह बदल गया है। यह अपनी 'जोरू का गुलाम' अथवा 'ज़न मुरीद' बन गया है।" बहन का ऐसा दृष्टिकोण देखकर भाई भी बहन से नाराज़ हो जाता है। अब इसका कारण क्या है? यही कि बहन यह नहीं देखती कि भाई की परिस्थिति भी बदल गई है और उसका आकर्षण-केन्द्र तथा स्नेह-भाजन भी बदल गया है। स्वाभाविक बात है कि पहले बहन भी छोटी थी और भाई भी अकेला था। अब विवाहित हो जाने पर भाई अपनी पत्नी की ओर भी ज़िम्मेदारी महसूस करता है और सोचता है कि अब बहन की ज़िम्मेदारी कुछ तो उसके पति तथा ससुराल वालों पर भी है ही। अत: सीमित सामर्थ्य होने के कारण वह अब बहन के कार्यों पर उतना धन और समय खर्च नहीं कर सकता। जितना पहले किया करता था। यह बात बहन की समझ में आनी चाहिए कि परिस्थिति बदल गई है और कि मनुष्य का स्नेह-स्थान भी एक और हो गया है तथा सामर्थ्य भी बट गई है। यदि इस पर उसका ध्यान रहता तो वह नाराज़गी से बच जाती।

अधिकाधिक लोगों को संतुष्ट कैसे करें?

परंतु, अभी हमारा यह प्रश्न भाग रहा हुआ है कि हम स्वयं से अधिकाधिक लोगों को संतुष्ट कैसे करें? इस बारे में हमारा विचार है कि नम्रता, मधुरता, स्नेह, सहयोग, सेवा और त्याग रूपी गुणों की धारणा ही अधिकाधिक लोगों को संतुष्ट करने का साधन है — यह बात हमारे उपरोक्त वर्णन से स्वत: ही स्पष्ट है क्योंकि जैसे हमारी अपनी असंतुष्टता लोगों से स्नेह, सहयोग इत्यादि न मिलने के कारण से होती है वैसे ही लोग भी हमसे इसलिए ही असंतुष्ट होते हैं कि हम उनसे स्नेह, सहयोग, सम्मान इत्यादि से युक्त होकर व्यवहार नहीं करते।

क्या हम असंतुष्टता को व्यक्त करें?

अब अन्त में , हम इस बात पर भी विचार कर लें कि हमें अपनी असंतुष्टता अथवा नाराज़गी को अभिव्यक्त करना चाहिए या चुपी ही साध लेनी चाहिए?

कुछ लोग कहेंगे कि नाराज़गी अथवा फीलिंग (Feeling) एक प्रकार का फ्ल्यू (Flue) है, वह मनोविकार है। अत: इसको मन तक ही सीमित रखना चाहिए वर्ना वचन द्वारा इसकी अभिव्यक्ति से विकर्म बन जाएगा। इस विषय में हमारा यह विचार है कि हम ऊपर असंतुष्टता एवं नाराजगी के निराकरण के उपाय बता आये हैं, उनके प्रयोग से यदि हम इस अशुद्ध संकल्प को निवारण कर सकें तो सर्वश्रेष्ठ है। परन्तु यदि हम इस वृत्ति का विरोध नहीं कर पा रहे तो हमें मर्यादा, शालीनता, नम्रता और लोक संग्रह को साथ रखते हुए इसे सम्बन्धित व्यक्ति अथवा दोनों के किसी श्रद्धेय एवं योग्य व्यक्ति के साथ बैठ कर परस्पर हित-भावना से इसको हल कर लेना चाहिए। निस्संदेह, अपनी नाराजगी अथवा असंतुष्टता का स्थान-स्थान पर वर्णन करना योग-अनुशासन के विरुद्ध है और दैवी मर्यादा के विपरीत है परन्तु मन के अन्दर ही परेशान रहने, ईश्वरीय विमुख होने, पुरुषार्थ से पीछे हटने और अनबन का वातावरण पैदा करने की बजाय शिष्टता पूर्वक उसकी अभिव्यक्ति करके उसका यथासम्भव उपाय ढूंढ निकालना ही श्रेष्ठ है। इस पर भी यदि कोई हल नहीं होता तो हमें उसे अपने पूर्व कर्मों का फल मान, अपने कर्म खाते को जानकर योग की मस्ती में मस्त रहना चाहिए। परन्तु योगी को कभी ऐसे क्रूर साधन नहीं अपनाने चाहिए जैसे आज के सामान्य जन अपना असंतोष प्रगट करने के लिए अपनाते हैं।

इस प्रसंग में हम एक और बात के प्रति भी ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। असंतुष्टता और नाराज़गी के अतिरिक्त एक स्थिति और भी होती है। मान लीजिए कि कोई व्यक्ति आपके साथ निजी तौर पर अमर्यादा से व्यवहार करता है अथवा संगठन या सभा में अपनी सीमा का अतिक्रमण (Crosses his/her limit) करता है। यदि कई बार-बार ऐसा हो तो आप आगे के लिए उस व्यक्ति से केवल उतना ही सम्बन्ध रखते हैं जितना कि सेवार्थ आवश्यक है अथवा उस संगठन में उतना ही भाग लेते हैं जितना कि लोक संग्रहार्थ ज़रूरी है आप अधिक लेन-देन अथवा सम्मिलित होना समाप्त कर देते हैं। हमारे विचार में सामान्यार्थ में इसे, असंतुष्टता या नाराज़गी की संज्ञा देना गलत होगा क्योंकि ...ने इस कृत्य द्वारा आप अपनी नाराज़गी का नहीं बल्कि अस्वीकृति-मात्र ...re disapproval) का प्रगटीकरण चाहते हैं। अर्थात् इस बात की अभि-... करना चाहते हैं कि आप उस व्यक्ति की उस व्यवहार विधि को अथवा उस संगठन की कार्य विधि को सही नहीं मानते। इसमें आप किसी से अपना

मित्र भाव नहीं गंवाते, न ही किसी से विरोध करते हैं परन्तु लोक संग्रहार्थ अन्ततोगत्वा आपको शिष्टता पूर्ण रीति से तथा अपनत्व के साथ यह विधि अपनानी ही पड़ती है। ताकि दूसरे पर नैतिक दबाव न पड़े।

कुछ लोग इतने तक नाराज़ हो जाते हैं कि परस्पर बोलना ही बन्द कर देते हैं। उनके मन में एक-दूसरे के लिए घृणा घर कर जाती है। राह जाते हुए वे एक-दूसरे को दुआ-सलाम भी नहीं करते या मुंह फेरकर निकल जाते हैं। योगी के लिए इस वृत्ति का पोषण हानिकारक है। शुभ-चिन्तक और शुभ-चिंतन, इस सुभाषित के विरुद्ध ही यह व्यवहार है। हमें अपने सौजन्य को नहीं छोड़ना चाहिए और लोक-संग्रहार्थ तथा ईश्वरीय सेवा को प्रमुख स्थान देना चाहिए (Service First and fore most) नहीं तो अपनी ही आध्यात्मिक उन्नति में स्वयं बाधा डाल कर अपना शत्रु आप बनना है।

इस लेख में हम दो शब्द और जोड़ना चाहते हैं। कुछ लोग मन में होते तो असंतुष्ट अथवा नाराज़ हैं परन्तु पूछने पर मुसकरा कर कहते हैं – "नहीं, नहीं, हम आपसे नाराज़ कैसे हो सकते हैं?" किसी अवसर पर किसी व्यक्ति को ऐसा कहना शायद दूसरे की ढाढ़स बंधाने के लिए नीतियुक्त भी हो सकता होगा परन्तु हमारे विचार में आज नहीं तो कल हमें वस्तु-स्थिति को मानसिक सन्तुलन के साथ, कल्याण-भावना से और प्रिय वचनों में स्पष्ट कर ही देना चाहिए। वरना अनबन की खाई बढ़ती है और अपने स्वभाव में भी कृत्रिमता आती है।

फिर ऐसे भी कुछ लोग देखे जाते हैं कि उनके व्यवहार में विषमता पाकर जब आप उनसे पूछते हैं – "क्यों जी, आप हमसे नाराज़ हैं"? तो वह झट से कहते हैं – "नहीं, नहीं, हम नाराज़ तो कभी किसी से होते ही नहीं" यदि वे सचमुच में नाराज़ नहीं होते तो या होकर भी बात को भुला देते हैं या न भुलाकर भी सद्व्यवहार करते ही रहते हैं तो वे सचमुच हमारे लिए अनुकरणीय और मान्य-योग्य हैं, परन्तु ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जो इस विचार से अपने नाराज़ होने की बात का इन्कार करते हैं कि लोग कहीं यह न कह दें कि 'इसे भी फीलिंग (Feeling) का फ्लू (Flue) होता है।' यह तो अपनी कमज़ोरी को छिपाना, आलोचना से भयान्वित होना और सत्य से इन्कार करना है जो कि योगाभ्यासी को अभी भले ही किसी परिस्थिति में छुड़ा देता हो परन्तु अन्ततो-गत्वा हानिकर है।



संयम और सिद्धि

हरेक मनुष्य अपने जीवन में अनेक प्रकार के मनोरथ सिद्ध करना चाहता है परन्तु किसी को आंशिक और किसी को सम्पूर्ण सफ़लता प्राप्त होती है और कोई बिल्कुल निष्फल ही रह जाता है। फिर, कुछ लोग ऐसे भी हैं जिनके हाथ में ऐसी सिद्धि होती है कि लोग अपने मनोरथों की सिद्धि के लिए उनका परामर्श लेने अथवा उनसे आशीर्वाद लेने आते हैं। प्रश्न उठता है कि मनुष्य को सिद्धि कैसे प्राप्त होती है? किसी भी व्यक्ति में जो असामान्य और अद्भुत सिद्धि बल होता है, उस पर विचार करने से पहले हम किन्चित यह तो देख लें कि सामान्य तौर पर मनुष्य की सफ़लता के क्या आधार हुआ करते हैं।

गहराई से विचार करने पर हम इस निर्णय पर पहुँचेंगे कि सफ़लता अथवा सिद्धि मुख्य रूप से इन 9 बातों पर आधारित हैं – 1. यत्न, 2. बुद्धि, 3. शक्ति, 4. एकाग्रता, 5. अवधि, 6. आत्म-विश्वास, 7. दृढ़ता, 8. उपयुक्त मनोदशा और 9. भाग्य। अब हम इनमें से हरेक के महत्व का संक्षिप्त उल्लेख करेंगे –

1. ठीक यत्न

हरेक कार्य के लिए यत्न तो करना ही पड़ता है। कहावत भी है कि यद्यपि शेर बलवान वन्य पशु है तथापि उसे उठकर शिकार को काबू करने का यत्न तो करना ही पड़ता है; शिकार स्वयं उसके मुँह में नहीं आ पड़ता। अत: हमें याद रखना चाहिये कि **हम जितना काम करेंगे, हमें उतनी कामयाबी मिलेगी। साधना के बिना सिद्धि नहीं होगी।** अत: जो व्यक्ति पूर्ण सिद्धि चाहता है, उसे चाहिये कि पूर्ण रीति से जी-जान लगाकर प्रयत्न करे।

इस संसार में **जो करता है वही पाता है** और जो जितना करता है, वह तद्नुसार ही पाता है। यहाँ करनी-भरनी का ही खेल है। यहाँ करते की विद्या है। इस नियम को ध्यान में रखते हुए हमें प्रयत्न पूरा करना चाहिए, तभी पूरी सिद्धि प्राप्त होगी। अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिए भी खूब पुरुषार्थ साधना करने की ज़रूरत होती है उसमें भी बहुत 'तप करना होता है, योग लगाना पड़ता है और सेवा करनी पड़ती है।'

2. बुद्धि

बुद्धि तो सिद्धि के लिए मानो आवश्यक ही है। **बुद्धि द्वारा ही मनुष्य विधिपूर्वक करता है और विधि सिद्धि की अग्रगामिनी है।**

फिर, मनुष्य कर्मेन्द्रियों द्वारा ही तो कार्य करता है; परन्तु हमें याद रखना चाहिए कि कर्मेन्द्रियाँ मन के अधीन होती हैं और यदि वह सद्बुद्धि के अधीन हो

तो सहज प्राप्त होती है। अत: बुद्धि के बल को शरीर के बल से बड़ा माना गया है – तभी तो लोग पूछा करते हैं कि – 'अक्ल बड़ी या भैंस?'

पुनश्च, बुद्धि में ज्ञान धारण होता है और ज्ञान द्वारा ही गति अर्थात् क्रिया होती है और क्रिया से ही कार्य सिद्ध होता है। अत: हम कह सकते हैं कि बुद्धि द्वारा ही सिद्धि होती है। यही कारण है कि जब कोई कार्य बिगड़ जाता है तो लोग कहते हैं कि – 'तेरी बुद्धि को क्या हुआ था।' क्या तेरी अक्ल पर पर्दा पड़ गया था? यह भी कहा गया है कि 'जब किसी मनुष्य के बुरे दिन आते हैं तो उसकी बुद्धि मारी जाती है; इसलिये जो व्यक्ति उल्टा कार्य करता है, उसके लिए लोग परमात्मा से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि – "हे प्रभु, इसे सद्बुद्धि देना।" इन सभी से स्पष्ट है कि बुद्धि के साथ सिद्धि का सीधा (Direct) सम्बन्ध है।

इसके अतिरिक्त हम यह भी देखते हैं कि संसार में मनुष्य ने वैज्ञानिक आविष्कार करके तत्त्वों पर जो विजय प्राप्त की है अथवा बड़े-बड़े साधनों को सिद्ध करने का जो आश्चर्यजनक कार्य किया है, वह सब भी बुद्धि ही की तो उपलब्धि हैं। बुद्धि द्वारा वह ऐसा शक्तिशाली बम भी बना सकता है कि जिस द्वारा बड़े-बड़े नगर भी कम्पायमान हो जाते हैं। बुद्धि ही के बल से मनुष्य ऊपर मंगल ग्रह तक और नीचे समुद्र-तल तक पहुँचा है और जहाँ एक ओर उसने परमाणु के भी अन्दर के भेदों को खोज ड़ाला है, वहाँ उसने जीव-शास्त्र में भी नित्य नये शोध-कार्य (Research Work) द्वारा मनुष्य को मृत्यु के मुख से भी निकालकर वापिस लाने का समर्थ यत्न किया है। तो देखिये, सुख-स्वास्थ्य के कितने ही साधन बुद्धि ही की तो उपलब्धि हैं।

केवल भौतिक सफ़लता ही नहीं, बल्कि आध्यात्मिक सिद्धियों की प्राप्ति के लिए भी बुद्धि की नितान्त आवश्यकता है। बुद्धि द्वारा ही मनुष्य 'आत्मा' और 'परमात्मा' – जैसे सूक्ष्म विषयों को ग्रहण कर इतना महान् बन जाता है कि लाखों-करोड़ों लोग उसके आगे नतमस्तक होते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि बुद्धि भी एक बहुत बड़ी शक्ति है और सिद्धिदायिनी है। असामान्य सिद्धियाँ अथवा अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त करने में भी इसका बड़ा स्थान है।

3. शक्ति

भौतिक शास्त्र वाले तो हरेक कार्य की सिद्धि शक्ति या ऊर्ज़ा (Power or Energy) द्वारा ही मानते हैं। बात है भी ठीक ही। सभी सिद्धियाँ शक्ति ही के आधीन होकर रहती हैं। इसलिये लोग शक्ति को अर्जित करते, शक्ति की आराधना करते और शक्ति का संचय करते हैं। कमज़ोर तो कुचला जाता है। शक्तिशाली ही

शासन करता है और समर्थ ही सुरक्षित रहता है।[2]

शक्तियाँ अनेक प्रकार की हैं – तन की शक्ति, मन की शक्ति, मस्तिष्क की शक्ति, धन शक्ति, सहन शक्ति, राज शक्ति, नैतिक शक्ति इत्यादि। परन्तु इन सभी में से 'विचार शक्ति' सर्व-प्रमुख है। विचारों ने ही दुनिया में बड़ी-बड़ी क्रान्तियाँ लाई हैं। यदि विचार और आचार मिल जायें तो वे संसार को स्वर्ग बना सकते हैं और यदि विचार और दुराचार मिल जायें तो वही संसार को नर्क बना देते हैं। विचार पर्वतों को हिलाकर रख देते हैं (Thoughts can move the mountains.) समुद्रों में से भी अपना मार्ग बना लेते हैं, रेगिस्तानों में भी हरियाली ला सकते हैं और असम्भव माने जाने वाले कार्य को भी सम्भव बना सकते हैं। अत: 'विचार शक्ति' (Thought Power) ही वह अद्भुत शक्ति है, जिससे अद्भुत सिद्धियाँ होती हैं। रूस की एक महिला दूर बैठे ही संकल्प द्वारा घड़ी की सुइयों को रोक लेती है, तराजू के पलड़े को झुका देती है और मेज़ पर पड़ी डवल रोटी को बिना हाथ लगाये अपनी ओर चला देती है।

आज हम संसार में अनेक प्रकार की शक्तियों का प्रयोग देखते हैं जिनमें विद्युत शक्ति (Electric Power), परमाणु शक्ति (Atomic Power) इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। परन्तु इन सब को वश करके इनका प्रयोग करने वाला मन इन सभी से प्रवल है। मन स्वयं एक परमाणु-जैसा ही है परन्तु वह परमाणु से अगण्य गुणा शक्तिशाली है। मन में चुम्बकीय शक्ति भी है और विस्फोटक शक्ति भी। तभी तो वह दूसरों को अपने प्रेम से आकर्षित भी कर लेता है, घृणा से हटा भी देता है और क्रोध द्वारा स्थिति को भयंकर भी बना देता है। मन में ताप द्वारा उत्पन्न होने वाली शक्ति (Thermal Power) भी है और विद्युत द्वारा पैदा होने वाली शक्ति भी। अत: यों तो सब प्रकार की शक्तियाँ अपने-अपने कार्य को सिद्ध करने वाली हैं, परन्तु मन की संकल्प शक्ति इतना तीव्र गामी हैं कि वह स्थान और समय (Space and Time) की रुकावटों को भी उलांघ कर भूत और भविष्य में अथवा ब्रह्माण्ड के इस छोर से उस छोर तक अकाट्य तथा अविरुद्ध गति से कहीं-की-कहीं जा सकती है।

4. एकाग्रता

निःसन्देह, प्रबल बुद्धि तथा शक्ति सिद्धि को देने वाले तो हैं, परन्तु यदि एकाग्रता से प्रयोग किया जाये तो इनसे बहुत बड़े-बड़े कार्य सिद्ध हो सकते

1. The Weak must go to the wall.
2. Survival of the fittest and strongest is the law of Nature.
3. Thoughts can move the mountains.

हैं। **बुद्धि** की एकाग्रता से मनुष्य बड़ी-बड़ी समस्याओं का हल ढूंढ निकालता है। संकल्प या विचार की एकाग्रता से वह बहुत कार्य कर सकता है। ऊपर रूस की महिला का जो हमने उदाहरण दिया है, वह संकल्प की एकाग्रता ही का फल है।

प्रयत्न की एकाग्रता से वह बड़े-बड़े डैम, बड़ी-बड़ी गुफ़ाएं, गगन-चुम्बी भवन, महाकाय जलपोत, वायुयान इत्यादि बनाकर तैयार कर देता है। यदि मनुष्य प्रयत्न में भी 'एकाग्रता' न लाये तो उसके कार्य अधूरे और असफ़ल रह जाते हैं। यदि एक मनुष्य किसी एक ही स्थान पर पन्द्रह-बीस फुट ग़हरा खोद देता है तो वह अपने लिए वहाँ पानी का एक कुआं निकाल लेता है और यदि वह पन्द्रह-स्थानों पर एक-एक फुट मात्र खोदता है तो उससे उसका जल का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। तभी तो लोग कहते हैं कि जो काम करो, उसमें पूरी तरह से **लगकर** उसे पूरा करो।

यही बात हम शक्ति के बारे में भी कह सकते हैं। सूर्य की शक्ति को जब किसी वृकोदार लैन्स (Convex Lens) द्वारा एक स्थान पर एकाग्र किया जाता है तो उसमें जलाने की शक्ति आ जाती है। आज वैज्ञानिक सूर्य के ताप को एकत्रित कर उसे विद्युत में बदलकर घर में प्रकाश देने तथा भोजन बनाने के लिए प्रयोग करने के यन्त्र बनाते हैं कि जिन द्वारा वे प्रकाश की किरणों को एकाग्र कर एक स्थान पर डालते हैं तो उस शक्तिशाली किरण से वे लोहे की मोटी चादर में भी छेद कर सकते हैं और जहाँ चाहें वहाँ आग भी लगा सकते हैं। इन्हें वे लेसर रेज़ (Laser Rays) कहते हैं।

उपरोक्त से स्पष्ट है कि मन, जो कि प्रयत्न और शक्ति को भी वश में करने वाला है, को एकाग्र करने से क्या सिद्धि नहीं हो सकती होगी। जब प्रकृति के किसी कार्य पर मन एकाग्र करने से मनुष्य बड़े-बड़े साधन बना लेता है तो **सर्वशक्तिमान्** परमात्मा पर एकाग्र करने से कौन-सी सिद्धि प्राप्त करना अयोग्य होगा?

5. अवधि

यदि कोई कार्य रुक-रुक कर होता है तो उसमें वह खूबी नहीं आती जो उसे **एकतानता** से करने में आती है। किसी भी कार्य को **धारावाहिक रीति** से करने से जो रस पैदा होता है, वह उसे बीच-बीच में छोड़ने से नहीं होता। एक बात सुनने के बाद यदि काफ़ी समय पड़ जाता है, तो मनुष्य को वह बात भी भूल जाती है; अत: अध्यापक वर्ग अपने शिष्यों को थोड़े-थोड़े समय के बाद उनका पाठ दोहरा दिया करते हैं। मनुष्य किसी कार्य को थोड़ा सीख लेने के बाद यदि काफ़ी अवधि के बाद उसे करता है तो उसे इतनी सिद्धि अथवा सफ़लता प्राप्त नहीं होती जितनी कि निरन्तर करने से; यही कारण है कि हम लोगों को यह कहते हुए सुनते हैं — "मैं

उस कार्य को इतना अच्छी रीति से नहीं कर पाया क्योंकि मैंने कुछ समय से इसे छोड़ रखा है''* इसलिए **निरन्तर अभ्यास** का महत्व है। जब एक कार्य बार-बार, ताँता लगाकर किया जाता है तो उससे उच्च कोटि की सिद्धि होती है, वर्ना सिद्धि हम से छिप जाती है। उदाहरण के तौर पर यदि मनुष्य कहीं विद्या लेने जाता है और फिर वह वहाँ तीन मास तक नहीं जाता, फिर जाकर एक सप्ताह तक गायब हो जाता है तो उसे भी प्रयत्न में अवधि पड़ जाने के कारण विद्या की सिद्धि नहीं होती। एक मनुष्य टाइप या शार्टहैण्ड सीखना शुरू करता है; छः या आठ दिन सीखकर वह उसे एक साल छोड़ देता और फिर दस दिन सीखने चला जाता तो उससे उतनी सिद्धि प्राप्त नहीं होती जितनी कि लगातार अठारह दिन सीखने से होती।

इसी प्रकार, यदि कोई मनुष्य प्रातःकाल (अमृतवेला) योग का अभ्यास करता है और फिर दिन-भर की अवधि में वह अभ्यास छोड़े रहता है तो दूसरे दिन उसके अभ्यास की गहराई अथवा ऊंचाई वैसी नहीं होती जैसी कि निरन्तर अभ्यास करने वाले अथवा थोड़ी-थोड़ी अवधि के बाद अभ्यास करने वाले व्यक्ति की होती है। हम प्रायः यह भी देखते हैं कि यदि कोई व्यक्ति प्रतिदिन ज्ञान-स्नान नहीं करता तो उसकी मनोदशा का दिव्यीकरण सुचारू रूप से नहीं होता; उसकी प्रगति में निरन्तर वढ़ावा (Momentum) नहीं होता और उसकी स्थिति दिनोंदिन तीव्रता से; उत्तरोत्तर उच्च कोटि अथवा उच्च भूमिका को प्राप्त नहीं होती। इसकी बजाय जो व्यक्ति घण्टों लगातार योगाभ्यास करता है, वह उच्च, श्रेष्ठ श्रेणी के अनुभव पाता है, नई-नई स्थिति का रस लेता है और योग के अनमोल रहस्यों को जान लेता है। वह आगे वढ़ने से रोकने वाली कई प्रकार की बाधाओं के चक्रव्यूह का भेदन करके योग के अन्तर्तम और श्रेष्ठतम रहस्यों तक पहुँच जाता है। इसके विपरीत जो **अखण्ड** अभ्यास के बीच बड़ी-बड़ी अवधियां डाल देता है, उसे योग की एक भूमिका से दूसरी तक जाने में वर्षों लग जाते हैं। एक अभ्यास और दूसरे अभ्यास में जितना बड़ा समयान्तर हो, प्रायः वैसा ही अवस्थान्तर हो जाता है।

पुनश्च, किसी भी कार्य को एक बार करके अधूरा छोड़ देने से, फिर थोड़ा करके फिर छोड़ देने से मनुष्य का मन भी उस कार्य से उचाट-सा हो जाता है। वह स्वयं को उस कार्य में उतना नहीं लगा पाता और मन का लगना अथवा मग्न होना तो सिद्धि की प्राप्ति के लिए आवश्यक ही है। अतः सफ़लता या सिद्धि की प्राप्ति के लिए निरन्तर, लगातार, अखण्ड अथवा एक-रस पुरुषार्थ करने की ज़रुरत है। स्वयं रुक जाने से सिद्धि भी रुक जाती है।

* I am out of touch with this.

6. आत्म-विश्वास

किसी भी बड़े कार्य को सम्पन्न करने के लिए मनुष्य में आत्म-विश्वास की बड़ी आवश्यकता है। आत्म-विश्वास के तीन पहलू हैं और वे तीनों ही सफ़लता के तीन आधार स्तम्भ हैं। यदि उनमें से एक भी स्तम्भ हिल जाता है तो मनुष्य की सफ़लता का टिकना कठिन हो जाता है। उन आधार स्तम्भों का उल्लेख निम्नलिखित है –

(क) स्वयं में निश्चय – जब कोई मनुष्य यह सोचकर कार्य करता है कि मुझ में कुछ सामर्थ्य अथवा योग्यता है और कि यदि मैं उसका सही प्रयोग करूँ तथा उसे विकसित करूँ तो कोई महान् कार्य कर सकता हूँ, तभी वह जीवन में कुछ विशेष विभूति अथवा वरदान प्राप्त करने में सफ़ल होता है। इसके विपरीत, यदि वह सोचता रहे कि 'मैं तो किसी भी काम का आदमी नहीं हूँ, मेरा तो भाग्य ही अच्छा नहीं है', 'मैं तो इस काम को कर ही नहीं पाऊंगा', 'अमुक कड़े संस्कार को मिटा ही नहीं सकूँगा', 'विकारों को जीत ही नहीं सकूँगा'......... तो वह ऐसे हीन विचारों द्वारा पहले ही अपनी शक्ति को क्षीण बना लेता है। वह लड़ाई लड़ने से पहले ही हार मान जाता है। परीक्षा के लिए उद्यम करने से पूर्व ही फेल होने का निश्चय करके निष्फलता का आह्वान करता है। इसकी बजाय, निश्चयात्मा ही विजय को प्राप्त करता है। उत्साह वाला ही उद्यम कर लक्ष्य तक पहुँचता है और हताश व्यक्ति मानो सदा हताहत स्थिति में ही रहता है। अत: आत्म-विश्वास सिद्धि के लिए मूलमन्त्र है, क्योंकि इसी से मनुष्य का उत्साह बना रहता है और उत्साह द्वारा उद्यम करने से ही सफ़लता मनुष्य के कदम चूमती है।

(ख) अपने किये हुए निर्णय पर विश्वास – जों व्यक्ति बार-बार दूसरों की बातों में आकर स्वयं द्वारा समझी हुई बात को ग़लत मानने लगता है, उसे 'अक्ल का कच्चा' कहा जाता है। कच्चे घड़े की तरह उसका मन्तव्य जल्दी ही टूट जाता है; थोड़ा-कुछ दूसरे के द्वारा सुनने से उसका निश्चय काँच की चूड़ियों की तरह टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। आज वह एक बात मानता है और उसमें बड़ी आस्था प्रदर्शित करता है तो कल बे-पेंदे के लोटे की तरह थोड़ा-सा हिलाये जाने पर भी अपने विश्वास के पेंदे के टिकाव को खोकर पूरा ही लुढ़क जाता है और अपने भीतर की सब-चीज़ गँवा बैठता है। अत: मनुष्य को चाहिये कि अपनी आस्था की नींव सुदृढ़ बनाये रखे और पहले से ही बात को अच्छी तरह से समझ जाये। तो ज़िससे रोज़-रोज दूसरों के बहकावे में आकर उसका निश्चय न डोले। वरना जो मनुष्य स्वयं में ही निश्चय नहीं कर सकता वह दूसरों में क्या निश्चय करेगा और जिसमें निश्चय

ही नहीं है, उस चंचल बुद्धि, अस्थिर मन और कमज़ोर मस्तिष्क वाले व्यक्ति का क्या ठिकाना; वह जमकर पुरुषार्थ ही नहीं कर सकता, अपनी स्थिति में भी नहीं टिक सकता, न ही कोई टिकाऊ सफ़लता प्राप्त कर सकता है।

(ग) मनुष्य का आत्मा में विश्वास हो – आत्म-विश्वास का महत्वपूर्ण पहलू यह है कि मनुष्य का आत्मा में विश्वास हो अर्थात् वह देह-अभिमानी की बजाय आत्मा निश्चय बुद्धि बना रहे। जो मनुष्य आत्मा के अस्तित्व में विश्वास रखता है, वह केवल इस जीवन के लिए नहीं, बल्कि भविष्य के लिए भी और इस लोक के लिये नहीं बल्कि परलोक के लिए भी पुरुषार्थ करता है। अत: उसके पुरुषार्थ की तीव्रता अथवा दायरा बढ़ जाता है। पुनश्च, उसका यह विश्वास होता है कि आत्मा अभी नहीं तो बाद में अपने कर्मों और बुरे संस्कारों से बचकर रहती है। इस प्रकार, उसका पुरुषार्थ प्रबल हो और जो बुरे कर्मों से बचकर ही रहे, उसे सिद्धियों का प्राप्त होना स्वाभाविक ही है। जो देह में न रहकर आत्मा में रहता है, वह सन्देह में नहीं, बल्कि आत्म-विश्वास में टिकता है और जो आत्म-निश्चय बुद्धि (Soul-conscious) है, वह निश्चय ही विकार से बचा रहता है और जो विकार से बचता है उसका सब कार्य सहज ही सिद्ध हो जाता है।

7. दृढ़ता

जहाँ दृढ़ता न हो, वहाँ स्थिरता नहीं होती और जहाँ स्थिरता न हो, वहाँ मनुष्य डट कर काम नहीं कर सकता। हरेक कार्य करते समय मनुष्य के सामने कुछ परीक्षाएं, बाधाएं, समस्याएं, उलझनें और आलोचनाएं आ उपस्थित होती हैं। यदि मनुष्य में दृढ़ता न हो तो लड़ाई के मैदान से भाग जाने वाले कायर की तरह वह भी काम को छोड़ देता है। वह धनुष और बाण को छोड़कर अर्जुन की तरह हीले, हुज्जत और बहाने बनाता है। जैसे किसी मकान के लिए सुदृढ़ नींव का होना ज़रूरी है वैसे ही हर कार्य में सफ़लता प्राप्त करने के लिए दृढ़ संकल्प का होना ज़रूरी है और आध्यात्मिक साधना के लिए ध्रुव मन की अथवा अचल भूमिका की भी आवश्यकता है। जिसका पांव अंगद के समान दृढ़ है, वही जमकर रावण को ललकार सकता है। जिसका मन चलायमान हो जाता है, बुद्धि लड़खड़ा जाती है, जो लक्ष्य पर दृढ़ता से दृष्टि जमाकर पुरुषार्थ रूपी लक्ष्य-भेदी बाण नहीं छोड़ता, वह ध्रुव पद नहीं पा सकता और स्वयंवर में अर्थात् स्वयं को श्रेष्ठ (वर) बनाने के र्य में सफ़लता रूपी जयमाला प्राप्त करने का अधिकारी नहीं होता।

संकल्प को दृढ़ बनाने से मनुष्य का मनोबल (Will Power) कई गुणा हो जाता है और मनोबल के बढ़ जाने से मनुष्य ऐसे-ऐसे कार्य कर डालता है जिनको

दुनिया असम्भव मानती है — इसी मनोबल की शक्ति से नेपोलियन ने अपनी भारी-भारी तोपें पहाड़ की उस ऊंचाई पर चढ़वा दी थीं जिस पर पहुँचने के कार्य को उसके जरनेल पहले असम्भव मानते थे। इसी मनोबल रूपी शस्त्र द्वारा अंग्रेज़ों के 600 घुड़सवार सैनिकों ने फ्रॉसीसियों के बड़े सेना दल की तोपों के मुँह मोड़कर उन्हें आशंकित पराजय दी थी। इतिहास ऐसी अनेक गाथाओं से भरा पड़ा है जो हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाते हैं कि दृढ़ता सिद्धि को समीप लाती है और सफ़लता को सुनिश्चित करती है।

भारत में ब्राह्मणों द्वारा जो संकल्प लिए जाने की प्रथा है, जलांन्जलि लेकर अथवा आचमन करके प्रतिज्ञा करने का जो रिवाज़ है अथवा किसी कार्य के लिए व्रत लेने की जो प्रथा है, मनुष्य उसे किये बिना टलता नहीं और जो अटल रहता है वही 'अटल बिहारी' (श्री कृष्ण) बनता है। और, फिर, यदि किसी अच्छे कार्य के लिए, पवित्र रहते हुए मनुष्य अपनी प्रतिज्ञा का पालन करता है तो उसे निश्चय ही निधि और सिद्धि की प्राप्ति होती है।

8. उपयुक्त मनोदशा

मन के ठीक होने से ही तो सब काम ठीक हाते हैं यदि मनुष्य का 'मूड' (Mood) ही 'आफ' (Off) हो जाये तो वह क्या कार्य करेगा? वह तो अपनी ही उधेड़-बुन में लगा रहेगा। क्या हम प्राय: कुछ लोगों को यह कहते नहीं सुनते — "छोड़ो भाई, अब मैं कुछ भी नहीं करूँगा, अब मेरा मूड ठीक नहीं हैं।" ऐसा व्यक्ति जिसका मूड बिगड़ गया, उस द्वारा कोई काम होने की बात तो एक ओर रही, उसका मूड ठीक करने के लिए तो दूसरे लोगों को भी अपना काम छोड़ देना पड़ता है। वह अगर कोई काम करे भी, तो उसका उल्टा ही परिणाम निकलता है। जो व्यक्ति परेशान हो, वह भला कोई शानदार कार्य कैसे कर सकता है? जिसकी स्थिति ही ठीक न हो, उसे सिद्धि भला कैसे प्राप्त होगी? जो बार-बार रूठता हो, तंग होता हो, उदास होता हो, निराश होता हो, थका हुआ-सा महसूस करता है या अनिर्णय की स्थिति में होता है उसकी प्रगति अविच्छिन्न नहीं होती। वह अपनी संचय की हुई मानसिक शक्ति, खुशी अथवा स्फूर्ति को गँवा बैठता है। इसके विपरीत, जिसका मन समस्या में उलझा हुआ नहीं रहता है अथवा हर्षोल्लास की स्थिति में स्थित होता है उसकी कार्यक्षमता बढ़ जाती है, उसके लिए एकाग्रता सहज होती है और वह विचारों के उस अनुकूल बहाव में तीव्र गति से अपने लक्ष्य तक पहुँच जाता है। अत: मनोदशा का स्वास्थ्य, सुदृढ़ता, सुव्यवस्था से गहरा सम्बन्ध है। तभी तो लोग जब अपने मित्रों को पत्र लिखते हैं तो वे उसका प्रारम्भ इस प्रकार

के वाक्यों से करते हैं – "आशा है कि आप राजी खुशी होंगे।" यह किसी से उसकी अच्छी मनोदशा की कामना प्रगट करने का शिष्ट तरीका ही तो है। अंग्रेजी भाषा में भी लोग लिखते हैं – "I hope you are in good health and spirits" अर्थात् मुझे आशा है कि आप स्वस्थ होंगे और मौज में होंगे। इसमें भी सिद्धि प्राप्त करने के लिए मानसिक स्थिति के हरेक मनोदशा का मुदित, सन्तुलित एवं अनुकूल होना ज़रूरी है।

9. त्याग और तपस्या

जब हम किसी चीज़ के पीछे भागते हैं तो वह हमसे आगे-आगे भागती है परन्तु जब हम अनासक्त और उपराम चित्त हो जाते हैं और सेवा भाव तथा त्याग की वृत्ति को अपना लेते हैं तो वही वस्तु हमारे सेवक की तरह हमारी सेवा में उपस्थित हो जाती है। त्याग और वैराग्य मनुष्य का ऊंचा सौभाग्य बनाते हैं। इसी प्रकार तपस्या भी मनुष्य को वरदान प्राप्त करने के योग्य बनाती है। किसी भी कार्य के लिए अथक परिश्रम करना, उसके लिए आलोचना, निन्दा, सर्दी-गर्मी इत्यादि सहन करना, अथक होकर उसे किये जाना, उसे कितना ही समय लग जाये, उसमें कितने भी विघ्न पड़े, उन सबकी परवाह न करते हुए अपना ध्यान अपने लक्ष्य में लगाए रखना, अपने मन में एक ही धुन बनाए रखना, किसी भी प्रलोभन को स्वीकार न कर पुरुषार्थ में लगे रहना यही तपस्या है। जहाँ मनुष्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सर्वस्व न्योछावर करने को तैयार हो, उसके लिए सर्वस्व त्याग करने को उद्यत हो, यहाँ तक कि वह अपने तन, धन को भी भुला डाले और उसके लिए ऐसा जमकर यत्न करे कि किसी कीमत पर भी वह अपने साध्य की साधना को न छोड़े तो बताइये उसे सिद्धि प्राप्त होगी या नहीं?

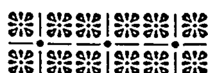
10. भाग्य

नि:सन्देह यत्न, बुद्धि, शक्ति, एकाग्रता, आत्म-विश्वास, दृढ़ता इत्यादि जिनका हमने ऊपर उल्लेख किया है, सिद्धि और सफ़लता को देने वाले हैं। परन्तु भाग्य का भी मनुष्य की सफ़लता में अपना स्थान है। हमारे इस कथन का यह भाव नहीं कि मनुष्य भाग्यवादी दृष्टिकोण अपना कर हाथ पर हाथ धर कर बैठ जाए, बल्कि हमारा कथन यह है कि उपरोक्त सब साधन प्रयोग करने पर भी यदि सफ़लता और सिद्धि प्राप्त नहीं होती तो हमें यह समझना चाहिये कि भाग्य ही फल परिणाम का कारण बना है और यह सोचकर अपनी मनोदशा को ठीक हुए पुरुषार्थ को और अधिक तीव्र कर सफ़लता की ओर कदम बढ़ाने चाहियें। भाग्य क्या है? वह भी तो हमारे अपने ही पूर्व कर्मों के परिणाम अर्थात् फल

का नाम है। अत: न केवल हम वर्तमान में अपने पुरुषार्थ को ऊंचा करके उस परिणाम को हल्का कर सकते हैं बल्कि वर्तमान के कर्मों से भविष्य के भाग्य का निर्माण भी तो कर सकते हैं। ऊंचा भाग्य ही ऊंची सिद्धि है जिसको बनाने की विधि हमारे अपने ही पास है।

अलौकिक सिद्धि

हमने इस लेख में सिद्धि तक पहुँचाने के 10 सूत्र (Factors) बतायें हैं। सरसरी तौर से विचार किया जाय तो ये अलग-अलग मालूम होते हैं, परन्तु योगाभ्यास अथवा योगी जीवन में ये सभी एक-साथ शामिल हैं। योग एक सर्वश्रेष्ठ अलौकिक **प्रयत्न**[1] है ज़िसमें **बुद्धि**[2] को दिव्य गुणों द्वारा दिव्य करते हुए उसे परमात्मा से जोड़ना होता है। इसमें **विचार शक्ति**[3] का प्रयोग करते हुए, सर्वशक्तिमान् परमात्मा से शक्तियों को अर्जित किया जाता है। इसमें एकाग्रता का तो इतना महत्वपूर्ण स्थान है कि कई लोग **एकाग्रता**[4] (Concentration) को ही योग मानते हैं। फिर, योगी को **निरन्तर**[5] अभ्यास तो करना ही होता है। योगी आत्मा, आत्मा के स्वरूप में तो स्थित होता ही है अर्थात् **आत्म-विश्वास**[6] तो उसके पुरुषार्थ की नींव ही है वह **दृढ़ता पूर्वक**[7] अपनी लग्न में मग्न भी हुए रहता है और अपने साध्य के लिए **त्याग** तथा **तपस्या**[8] भी करता ही है यहाँ तक कि 'योगी' शब्द त्यागी और तपस्वी का पर्याय माना जाता है। फिर **भाग्य**[10] की क्या कहें? योगी को तो स्वयं भाग्य-विधाता परमात्मा का सहयोग तथा मार्ग प्रदर्शना प्राप्त होती है। तभी तो लोग अपना भाग्य बनाने के लिए उसके पास जाते हैं। इसके अतिरिक्त वह योगी ही क्या हुआ जो स्थित प्रज्ञ, शान्त चित्त, खुश मिज़ाज और सन्तुलित मन वाला न हो। अर्थात् जिसकी **मनोदशा शान्त** एवं **आनन्दपूर्ण**[9] न हो। अत: इन सब बातों को सामने रखते हुए आप स्वयं ही निर्णय कीजिए कि योग कितनी बड़ी-बड़ी सिद्धियों को प्राप्त करने का साधन होता होगा जबकि लोग योग को विशेष रूप से 'साधना' ही मान लेते हैं और जबकि सिद्धि शब्द का प्रयोग योग ही की उपलब्धियों के लिए पर्याय के रूप में किया जाता है। जब कि योगी यम, नियम को अपना कर प्रयत्न, बुद्धि, विचार-शक्ति आदि-आदि को दिव्य बनाकर उनका प्रयोग करता है तो इस **संयम** द्वारा सर्व सिद्धियों का अथवा दिव्य उपलब्धियों का होना स्वाभाविक ही है।



भ्रष्टाचार कैसे मिटे?

आजकल समाचार-पत्रों में भ्रष्टाचार की खूब चर्चा है। पिछले कई महीनों से बोफोर्स के समाचारों ने तो बोर ही कर दिया है। बोफोर्स मामला तो इतना तूल पकड़ता जा रहा है इसका कहीं अन्त ही नज़र नहीं आता। संसद में भी इसकी काफी चर्चा रही। विपक्ष ने सरकारी-पक्ष पर खूब आरोप लगाए। यहाँ तक कि भारत के प्रधानमंत्री राजीव गांधी जी को भी अपने और अपने परिवार के बारे में सफाई पेश करनी पड़ी। इसी प्रकार कुछ समय पूर्व अंतुले जी के कारनामे समाचार-पत्रों का विषय था। कई अनियमित्ताओं के कारण उसे मुख्यमंत्री पद छोड़ना पड़ा। कभी आन्ध्र के मुख्यमंत्री पर आरोप लगाए जाते है तो कभी संचार मंत्री अर्जुन सिंह जी का नाम भ्रष्ट तरीके अपनाने में लिया जाता है। मतलब आजकल ऐसे समाचारों का बाज़ार गर्म है। यह भ्रष्टाचार की विकट समस्या है। इसका हल क्या है? परन्तु किसी समस्या को हल करने से पूर्व पहले उसे जान लेना ज़रूरी है।

भ्रष्टाचार के कई प्रकार हैं। आजकल लोग प्राय: रिश्वत लेने वाले अथवा अपने अधिकारों का ग़लत प्रयोग करके धन कमाने वाले व्यक्ति को ही भ्रष्टाचारी कहते हैं। इस कारण समाचार-पत्रों में तो थोड़े-से प्रमुख ही व्यक्तियों के नाम इस प्रसंग में छपते हैं। परन्तु वास्तव में यह भ्रष्टाचार का अत्यंत सीमित अर्थ है। खाने-पीने की वस्तुओं में मिलावट करने वाले क्या कम भ्रष्टाचारी हैं? भ्रष्टाचार के तो अनेक प्रकार हैं। वर्तमान समय तो घर-घर में भ्रष्टाचार फैला हुआ है। तभी तो मंदिरों में जाकर लोग कहते हैं कि "मैं कामी, कपटी, दास और नीच हूँ।" इसका अर्थ यही तो निकलता है कि "भ्रष्टाचारी" हूँ।

भ्रष्टाचार का मूल कारण

सरसरी दृष्टि से देखा जाए तो ग़लत तरीके से धन कमाने का मूल कारण भी लोभ है। परन्तु वास्तव में लोभ के पीछे भी मोह, आसक्ति और देह-अभिमान है। बाल-बच्चों अथवा स्त्री और परिवार में मोह के कारण अथवा वस्तुओं में आसक्ति के कारण अथवा अपने अभिमान के कारण, अपनी (Position) को बनाये रखने के विचार से ही मनुष्य प्राय: रिश्वत लेता है अथवा ग़लत तरीकों से धन कमाता है और कामनाओं के वशीभूत होकर ही तो मनुष्य भ्रष्टाचार करता है।

स्पष्ट है कि देखने में तो भ्रष्टाचार एक है, लेकिन इसके पीछे कितने ही विकार हैं। इसलिए जब तक इन विकारों का अन्त न किया जाएगा तब तक भ्रष्टाचार समाप्त नहीं होगा। बिजली से आग लग रही हो तो मुख्य स्विच (Main Switch) बन्द करना आवश्यक है। यदि हम पानी डालते हैं पर स्विच बन्द नहीं करते तो आग बढ़ती जाएगी। इस प्रकार देह-अभिमान को समाप्त किए बिना लोभादि विकारों की आग भी धधकती रहेगी और भ्रष्टाचार भी बढ़ता रहेगा क्योंकि यही देह-अभिमान ही भ्रष्टाचार का मेन स्विच (Main Switch) है। भ्रष्टाचार की उत्पत्ति लोभादि विकारों से और विकारों की उत्पत्ति होती ही देह-अभिमान से है। इसलिए यदि मनुष्य को याद रहे कि – "मैं तो परम-पवित्र परमात्मा की सन्तान, अविनाशी आत्मा हूँ, मेरा आचरण तो श्रेष्ठ होना चाहिए" तो भ्रष्टाचार के स्थान पर श्रेष्ठाचार का दौर शुरू हो सकता है। लेकिन, आज अगर यह सहज युक्ति सरकार अथवा जनता को बताई जाती है तो वह कहते है कि, "छोड़ो इन धार्मिक बातों को, आत्मा-वात्मा क्या है? इन बातों से पेट थोड़े ही भरता है?" आप किसी को भी देह-अभिमान छोड़ आत्म-निश्चय करने की बात सुनाएं तो वह तुरन्त कहेगा, हमारे घर में भूख है और आप आत्म-निश्चय की बात कह रहे हैं। किसी तरह से धन की कमी दूर हो सकती हो तो वह बात बताओ।

भ्रष्टाचार का कारण कमी है,. परन्तु कमी का कारण क्या है?

अब देखिए, भ्रष्टाचार तभी होता है जब किसी के घर में या देश में किसी-न-किसी प्रकार की कमी होती है। अगर किसी के पास अखुट धन हो तो फिर उसको रिश्वत लेने की क्या परवाह (चिन्ता) होगी? अखुट धन वाला व्यक्ति तो 'बेपरवाह बादशाह' (चिन्ता-रहित सम्राट) है। उदाहरण के तौर पर जब किसी व्यक्ति को सीमेन्ट की कमी होती है तो उसे प्राप्त करने के लिए वह रिश्वत देता है या चोर बाज़ार से ले आता है। सीमेन्ट बेचने वाले के पास धन की कमी है तभी तो वह रिश्वत लेता है। इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य राशन (Ration) की दुकान खोलना चाहता है तो उसे लाइसेन्स (Licence) की आवश्यकता होती है। वह सोचता है कि चलो पहले कुछ रिश्वत देने में भले ही कुछ खर्च हो जाए परन्तु बाद में तो मैं काफ़ी पैसा बटोर लूँगा। सिद्ध है कि लाइसेन्स (Licence) देने वाले जो व्यक्ति रिश्वत लेते हैं उनके पास भी कमी

है और जो रिश्वत देता है उसके पास भी धन की कमी है।

अब सवाल उठता है कि कमी क्यों होती है? जब मनुष्य के कर्म खोटे होते हैं या जब पुण्य खुट जाते हैं। जब पुण्य खुट जाते हैं तो वस्तुएं भी खुट जाती हैं। इस बारे में एक प्रसिद्ध पद इस प्रकार है – ''सकल पदारथ है जग माहीं, भाग्यहीन नर पावत नाहीं।'' एक मनुष्य ने अपने मित्र को कहा कि यदि समय पर ऑक्सीजन (Oxygen) मिल जाती तो मेरी माताजी बच जाती। परन्तु बात यह है कि जब किसी के भाग्य खत्म हो जाते हैं अथवा पुण्य समाप्त हो जाते हैं तो उसका कोई कुछ नहीं कर सकता। इसका यह अर्थ नहीं कि पुरुषार्थ नहीं करना चाहिए। बल्कि यह भाव है कि प्रालब्ध भी पुरुषार्थ के रास्ते में बाधक या सहायक बन जाया करती है। सिद्ध हुआ कि कमी को पूरा करने के लिए कर्म को सुधारने की आवश्यकता है अथवा कमी भी कर्म सुधारने से पूरी होगी। अगर कर्म में कमी है तो भाग्य में अवश्य कमी होगी। और जब तक कमी रहेगी तब तक भ्रष्टाचार ज़रूर होगा। और भ्रष्टाचार होगा तो कमी रहेगी। दोनों बातें ओत-प्रोत हैं। दोनों बातें तभी ठीक होंगी जब ज्ञान और योग होगा।

ज्ञान और योग के बिना भ्रष्टाचार का अन्त नहीं हो सकता

कमी मिटाने के लिए ज्ञान और योग ज़रूरी है। जैसे पेट्रोल के बिना मोटर नहीं चल सकती और कोयले-डीजल-बिजली के बिना रेलगाड़ी नहीं चल सकती और खाने के बिना मनुष्य का जीवन नहीं चल सकता वैसे ही ज्ञान और योग के बिना मनुष्य के कर्म भी नहीं चल सकते। इसलिए उक्ति प्रसिद्ध है कि ज्ञान के बिना मनुष्य की गति नहीं होती अर्थात् इनके विना मनुष्य का जीवन सुखपूर्वक और शान्तिपूर्वक नहीं चल सकता। तो फिर बात यहाँ आकर ठहरती है कि ज्ञान और योग के बिना सुधार नहीं है।

जैसे कई बार डॉक्टर कहते हैं कि ''अगर यह दवाई ले आओ तो रोगी बच जाएगा वर्ना रोगी की स्थिति निराशाजनक (Hopeless) है।'' यदि कोई व्यक्ति हम से पूछे कि, ''क्या भ्रष्टाचार के सुधार की आशा है तो हम भी कहेंगे कि, ''है भी और नहीं भी है।'' हम भी यह कहेंगे कि आज दुनिया की दशा बहुत निराशाजनक है। आज सृष्टि रूपी रोगी अपने प्राणों से नहीं जी रहा बल्कि कृत्रिम (Artificial) प्राणों से इसका श्वास चल रहा है। इसलिए परमात्मा, जो ही भ्रष्टाचार रूप रोग का निवारण करने वाले वैद्य हैं वह कहते हैं कि, ''ज्ञान और योग के विना इस रोगी सृष्टि का बचना असम्भव है। धर्म-ग्लानि और कर्म-ग्लानि इतनी हो गई है कि स्थिति संकटमय है (The case is critical)। दुनिया आख़िरी श्वास ले रही है। इसके बचाव का केवल एक ही तरीका है।

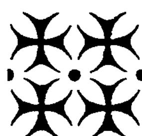
वह है ज्ञान और योग रूपी औषधि का सेवन।

रोग नहीं मर रहा, रोगी मर रहा है!

प्रसिद्ध बात है कि जब किसी रोगी का अन्तिम समय आता है तो रोगी मुँह बन्द कर लेता है और दवाई नहीं लेता। यही हालत आज भ्रष्टाचार से पीड़ित सृष्टि की है। वह भी ज्ञान और योग रूपी औषधि नहीं लेती। अत: स्थिति को देखते हुए यही कहना पड़ेगा कि मृत्यु निकट है। परम वैद्य परमात्मा कहते हैं कि मेरे पास ज्ञान-रूपी संजीवनी बूटी है। मैं इस सृष्टि की काया पलट सकता हूँ, मेरे पास अमृत है जिससे इस सृष्टि का बचाव हो सकता है। मेरे बारे में लोग कहते भी हैं कि परमात्मा 'मुर्दे को जिन्दा' करने वाला है। लेकिन मेरी यह औषधि लेते नहीं तो यह 'जिन्दा' कैसे होंगे? ज्ञान-रूपी औषधि के बिना तो गति नहीं है।

अब आप देखिए कि नेता लोग भ्रष्टाचार के रोग को तो जानते नहीं हैं और न ही उसकी औषधि जानते हैं परन्तु चले हैं इसका इलाज करने। आप ही सोचिए कि इसका परिणाम क्या होगा! कहते हैं कि एक डॉक्टर था। उसने कुछ इश्तिहार छपाकर बँटवाए। उनमें यह सूचना थी कि अमुक-अमुक रोग को ठीक करने का उसे विशेष ज्ञान है। वह इश्तिहार पढ़कर एक माता उसके पास गई। डॉक्टर ने उसे कुछ औषधि खाने को दी। बस उस माता ने ज्यों ही दवा खाई तो वह मर गई। यानी **रोग तो नहीं मरा परन्तु रोगी मर गया। इसी प्रकार आज भी नेताओं द्वारा जो इलाज हो रहा है, भ्रष्टाचार तो मर नहीं रहा, लोग ही भ्रष्टाचार और अन्य संकटों से मरते जा रहे हैं।**

वे इलाज क्या कर रहे हैं, संसार के विनाश की तैयारी कर रहे हैं। जब कि नेता लोग स्वयं ही भ्रष्टाचारी हैं तो वह भ्रष्टाचार को दूर कैसे कर सकते हैं? आज तो "यथा राजा (अधिकारीगण) तथा प्रजा" सभी पतित हैं। पतित को पतित भला कैसे पावन कर सकता है?



सन्तोष के तुल्य गुण नहीं, गुण के तुल्य संग...

प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्व-विद्यालय ने जो सोलह-सूत्री कार्यक्रम निश्चित किया है, उसके अन्तर्गत एक धारणा सूत्र में यह कहा गया है कि हम स्वयं में भी सन्तुष्ट रहेंगे और दूसरों को भी सन्तुष्ट करेंगे। निःसन्देह, सन्तुष्टता एक बहुत ही महान् और महत्वपूर्ण गुण है और योगी के लिए तो यह परमावश्यक ही है क्योंकि यदि योगाभ्यासी स्वयं से सन्तुष्ट नहीं होगा या वह मन में सोचता होगा कि दूसरे उससे सन्तुष्ट न होकर रुष्ट हैं या उससे किसी को कष्ट हुआ है तो उसका योग में भी स्थायित्व तथा अभ्यास में एकाग्रता ही नहीं हो पायेगी और वह 'आनन्द' के उत्कृष्ट अनुभव से वंचित ही रह जाएगा। इसके अतिरिक्त शिव बाबा ने यह भी तो कहा है कि 'मन-पसन्द', 'लोक पसन्द' और 'प्रभु-पसन्द' — इन तीन योग्यताओं में सफल होना परम सौभाग्यपद प्राप्त करने के लिए ज़रूरी है। इन तीनों में उत्तीर्ण होना भी उसी अर्थ को प्रगट करता है जिसको 'सन्तुष्टता' शब्द व्यक्त करता है। अतः जबकि सन्तुष्टता ही महानता भी है और हमारी सफ़लता का प्रमाण भी, तो प्रश्न उठता है कि इस अनमोल गुण को कैसे धारण करके सन्तोष किया जाय?

दुनिया तो खटराग-भरी है!

वात यह भी है कि आज की तो दुनिया ही खटराग-भरी है। इसमें पहला राग तो यह है कि अपने मन में ही कोई-न-कोई इच्छा लगी रहती है। एक सांसारिक व्यक्ति के मन में तो इच्छाओं का तांता ही लगा रहता है परन्तु ज्ञानवान मनुष्य को भी सेवाकार्य में सफ़लता या वृद्धि की कामना या ज्ञानवान लोगों के बीच मान्यता या प्रगति की इच्छा यत्किंचित — थोड़ी-बहुत — होती ही है। तो जब तक शुभ या अशुभ — किसी भी प्रकार की इच्छा मनुष्य के मन को घेरे रहेगी तब तक सन्तुष्टता मन में कहाँ स्थान पायेगी?

दूसरी वात यह है कि इस कलिकाल में हम जिन लोगों के सम्पर्क में आते हैं, उनमें से कई तो 'झंझटी राम' और 'झमेली' देवियाँ होती ही हैं। उनके साथ रहकर स्वयं भी सन्तुष्ट होना और उन्हें भी सन्तुष्ट करना ऐसा लगता है जैसे आकाश को

पाबन्द लगाना।

तीसरे, हम देखते हैं कि आज की दुनिया में प्राय: घटनाएं दुर्घटनाओं ही के रूप में घटित होती हैं, परिवर्तन अपने साथ नित्य नई समस्याएं लाते हैं और प्रकृति परेशानियों को पैदा करने में लगी रहती है।

तो जबकि दुनिया ही ऐसी है तब यह श्रेष्ठ गुण कैसे धारण किया जाय?

धारणा के लिए युक्तियाँ

महाभारत में एक प्रसंग आया है जिसमें बताया गया है कि दुर्योधन और अर्जुन दोनों से जब पूछा गया कि उन्हें क्या चाहिए। तो दुर्योधन ने भगवान से सर्व सेना माँग ली परन्तु अर्जुन ने कहा – "मुझे आपके सिवा कुछ भी नहीं चाहिए। आप मेरा मार्गदर्शन करें, मेरा साथ दें, मुझे छत्रछाया दें तो मैं मानूंगा कि मुझे सब-कुछ मिल गया।" इस रोचक आख्यान से भी यही अर्थ-बोध होता है कि प्रभु-प्राप्ति हो जाय तो इच्छाओं का अन्त हो सकता है, वरना तो उम्मीद (आशा) का सितारा नभ-मण्डल में जितने तारे हैं, उतनों को साथ लेकर बना ही रहेगा। सूर्य प्रगट होता है तो तारे छिप जाते हैं। अत: यदि हम यह सोचें कि हमें शिवबाबा मिल गए तो गोया सभी-कुछ मिल गया, तो हमारी इच्छाएं और चिन्ताएं एक-साथ ही मिट जायेंगी, क्योंकि भगवान तो सभी ख़ज़ानों के शाश्वत एवं अतुल भण्डार हैं और भोले वरदानी हैं। यदि हम ऐसा मानते हैं तब फिर इच्छा कैसी? वे तो सभी भण्डारे स्वत: ही भरपूर करने वाले हैं। कृष्ण और सुदामा की कथा में बताया गया है कि सुदामा को तो मालूम ही नहीं था कि उसके लिए महल बनवा दिया गया है। अत: हमें जब ज्ञान मिला है, पहचान मिली है, शिव बाबा का हाथ और उनकी छत्र-छाया प्राप्त हुई है तो इच्छा करना ही अविद्या है और अविद्या में पड़ना तो स्वयं को घाटे में डालना है।

अन्यश्च, जहाँ तक आज के लोगों की बात है, वह तो हमें ज्ञान मिल ही चुका है कि यह दुनिया कैसी है। तभी तो बाबा ने उसे ठीक करने की सेवा हमें दी है। हम तो विश्व के परिवर्तक हैं और झमेले को ईश्वरीय मेले में और झंझट को झूले में बदलने वाले हैं। हमें तो बाबा ने विघ्न-विनाशक की उपाधि दी है और 'विजयी रत्न' कहकर पुकारा है। अत: स्व-परिवर्तन द्वारा हमें विश्व-परिवर्तन का कार्य करना है। दूसरों की सेवा करके उनका आशीर्वाद लेना है। उन्हें शान्ति की राह दिखाकर

स्वयं में भी सन्तुष्ट होना है।

जहाँ तक परिस्थितियों और समस्याओं का प्रश्न है, उसके बारे में तो बाबा ने बताया ही है कि उन्हें स्व-स्थिति से ठीक करना है अथवा अपने पूर्व-कर्मों का फल मानकर सहन करना है और उनमें अचल रहकर 'अंगद' का टाइटल प्राप्त करना है।

सन्तुष्टता का सम्बन्ध अन्य गुणों से है

वास्तव में बात यह है कि सन्तुष्टता रूपी गुण अकेला कभी धारण नहीं हो सकता। इच्छाओं के अन्त के लिए 'त्याग' और 'वैराग्य' रूपी गुण धारण करना ज़रूरी है। भाँति-भाँति के लोगों और भिन्न-भिन्न संस्कारों तथा विचारों वाले व्यक्तियों के बीच रहने के लिए **'सहनशीलता'**,**'नम्रता'**, **'सेवा'**, **'सहयोग'**, **'स्नेह'** और **'मधुरता'** रूपी गुण धारण करने की ज़रूरत है। इसी प्रकार, विकट परिस्थितियों को पार किरने के लिए 'आत्म-विश्वास', 'ईश्वरीय-निश्चय' और 'धैर्य' की धारणा ज़रूरी है। इन सभी गुणों को साथ-साथ धारण करने की कोशिश किये बिना सन्तुष्टता को धारण नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि सन्तोष या सन्तुष्टता को एक मुकुट से उपमा दी गयी है जिसे प्राप्त करने के लिए सारी प्रजा को जीतना होता है। सोचने की बात है कि कर्मेन्द्रियों को वश किये बिना तथा मन के व्यर्थ संकल्पों को मिटाये बिना सन्तुष्टता भला कैसे आ सकती है? पुनश्च नम्रता, मधुरता, त्याग, सेवा और सहयोग के बिना दूसरों को कैसे सन्तुष्ट किया जा सकता है? फिर दूसरों को सेवा और स्नेह से सन्तुष्ट किये बिना हम प्रभु-पसन्द भला कैसे बन सकते हैं। और, प्रभु-पसन्द तथा लोक-पसन्द बने बिना हम मन-पसन्द अथवा स्वयं में सन्तुष्ट कैसे हो सकते हैं? अत: इस प्रकार सोचने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सन्तुष्ट होना और दूसरों को सन्तुष्ट करना गोया विश्व के चक्रवर्ती राज्य-पद को प्राप्त करने के तुल्य है और उसके लिए अपने ऊपर पूरा अधिकार (Control) प्राप्त करना ज़रूरी है। तभी हम सतयुगी विश्व के अटल एवं अखण्ड राज्य को प्राप्त कर सकते हैं।



पुरुषार्थ में तीव्रता का अन्तिम अवसर

आध्यात्मिक जन-सेवा के कार्य में अनेक प्रकार के लोगों से हमारा सम्पर्क होता है। उनमें कुछ दर्शक जो हमारी आध्यात्मिक प्रदर्शनियों अथवा संग्रहालयों में पहले भी पधार चुके हैं, हम से पूछते हैं – "क्यों जी, आपके ये जो विश्व-घड़ी के चित्र हैं, जिन्हें आप 'सृष्टि-चक्र' भी कहते हैं, उनमें संगमयुग की सूइयाँ वहाँ की वहाँ ही क्यों खड़ी हैं? ये आगे क्यों नहीं बढ़ती?" स्पष्टत: ऐसे लोगों को यह मालूम नहीं है कि ये सूइयाँ चालू वर्ष से आने वाले महाविनाश तक के समय को अंकित नहीं करतीं, बल्कि जैसे इस चित्र की अन्य रेखाएं सतयुग, त्रेता इत्यादि को सूचित करती हैं, वैसे ही सूइयाँ भी संगमयुग की कुल आयु प्रदर्शित करती हैं; अत: अन्य युगों को अंकित करने वाली रेखाओं की तरह इन सुइयों के भी आगे बढ़ने का प्रश्न नहीं उठता। इसके अतिरिक्त, यदि हर बार सृष्टि-चक्र का नया चित्र बनाते समय संगम की सूई को आगे कर दिया जाय तब पहले बने हुए और बाद में हर वर्ष नये बने हुए अनेकानेक चित्रों को विभिन्न प्रदर्शनियों तथा संग्रहालयों में देखकर तो लोग वैसे ही उलझन में पड़ जायेंगे जैसे कि किसी घड़ी-साज़ (Watch-Maker) की दुकान पर विभिन्न घड़ियों में विभिन्न समय देखकर मनुष्य इस सोच में पड़ जाता है कि आखिर सही समय कौनसा है।

पुरुषार्थ की सूइयाँ कहाँ हैं?

खैर, संगम की सूई चित्रों में भले ही किसी प्रयोजन से वहीं खड़ी हैं जहाँ शुरू में हम इन्हें दिखाते चले आते हैं परन्तु हमें देखना तो यह है कि हमारे आध्यात्मिक पुरुषार्थ की सूई आगे बढ़ रही है या नहीं। जबकि हम जानते हैं कि सम्पूर्णता का समय, अर्थात् कल्पान्त काल, समीप आता जा रहा है हमारी सम्पूर्ण अवस्था भी तो समीप आती जानी चाहिये। पहले ऐसा भी समय था जब शिव बाबा साकार ब्रह्मा बाबा द्वारा कहा करते थे कि – "वत्सो, अभी आप वत्सों की माला स्थिर (Final) नहीं की जा सकती, क्योंकि आज जो पुरुषार्थ में आगे है, कल हम देखते हैं कि वह पीछे हो जाता है और पीछे आने वाले उससे आगे निकल जाते हैं; गोया अभी तक किसी की भी अवस्था पूर्णत: स्थिर नहीं है; अभी तो दिव्यता की दौड़ चल रही है।" परन्तु अब तो हम स्वयं देख रहे हैं कि फाइनल (Final) माला बननी शुरू हो गयी है। हमारे सामने ही दो मणके तो प्रत्यक्ष रूप में स्थिर हो ही चुके हैं। अत: अपनी अवस्था को हम भी इसी अन्तिम दौर में जितना उच्च और

परिपक्व बना लेंगे, माला में उतना ही हमारा स्थान उच्च निश्चित हो जायगा। साकार बाबा के अव्यक्त होने के बाद अब तो ज्ञान की दुहराई (Revision Course) होते हुए भी 26 वर्ष से अधिक हो चले हैं। विदेशों में विहंग मार्ग से बढ़ता हुआ ईश्वरीय सेवा-कार्य तथा भारत एवं विश्व में तीव्रतम गति से बदलते हुए हालात भी हमें यही चेतावनी दे रहे हैं कि अब पुरुषार्थ को तेज़ किया जाय वर्ना हम पिछड़ ही जायेंगे और बाद में पश्चाताप के सिवाय कुछ नहीं हो सकेगा।

सर्वतोमुखी पुरुषार्थ

आध्यात्मिक पुरुषार्थ के पथ पर पुरुषार्थी अनेक प्रकार की अवस्थाओं में से गुज़रते हैं। कुछेक पुरुषार्थी ऐसा अनुभव करते हैं कि उनकी अवस्था में कोई विघ्न उपस्थित नहीं होते हैं, अर्थात् काम, क्रोधादि विकारों के संकल्प-विकल्प से उनका मन अब उद्वेलित नहीं होता। इसी से वे आत्म-तुष्ट (Complacent) होकर चलते रहते हैं। वे कहते हैं - "हम कोई विकर्म तो करते नहीं हैं, ईश्वरीय ज्ञान के सभी नियमों का भी हम पालन कर रहे हैं, अतः हम तो ठीक हैं। बाबा जानते हैं कि हमारी अवस्था अच्छी है।" परन्तु उन्हें मालूम होना चाहिये कि स्वयं शिव बाबा ने ही समझाया है कि – "यदि विघ्न न हों परन्तु पुरुषार्थ श्रेष्ठ न हो तो यह भी आलस्य की निशानी है।" हमारा पुरुषार्थ तो ज्ञान, योग, दिव्यता तथा सेवा – इन चारों पक्षों में उच्च होना चाहिये, केवल एक-दो पक्षों में नहीं। अतः हमें अपनी अवस्था के साथ-साथ यह भी देखना है कि हम सतयुगी, पवित्र सृष्टि की पुनः स्थापना के कार्य में, अर्थात् सेवा-पक्ष में, सहयोगी कहाँ तक बने हैं। यदि हम उमंग और उल्लास से पूरी तरह सहयोगी नहीं हैं तो भी हम माला के समीपवर्ती मणके नहीं बन सकते। इस बात को अच्छी तरह समझकर हमें मिथ्या तोष (Complacence) से निकल कर अब खूब मेहनत करनी है। केवल सेवाधारी ही नहीं बने रहना है, न केवल वाचक ज्ञानी बनना है, बल्कि अब अपनी कमियों को दूर कर धारणा के शिखर पर पहुँचना है और साथ-साथ ज्ञान, योग और दिव्य गुणों का उदारता से दान करना है। हरेक को कुछ आत्माओं को माया के कीचड़ से निकालने का व्रत लेना है और स्वयं की कमज़ोरियों को मिटाने का भी समय निश्चित कर [illegible]स कार्य में उमंग और उत्साह से लग जाना है। हमें अपने लिये योगी, दैवी [illegible]वा. के लिये सहयोगी तथा जनता के लिये उपयोगी बनना है। अभी आपतका- [illegible] परिस्थिति (Emergency) चल रही है। इसमें यदि अन्य किसी प्रकार जनता

की ज्ञान-सेवा नहीं हो सकती तो साहित्य द्वारा ही उन्हें ईश्वरीय सन्देश पहुँचाया जाये।

बहुत बार यह भी देखा गया है कि कई ब्रह्मा-वत्स अच्छी प्रकार से सहयोगी तो हैं परन्तु वे उसी प्रकार के योगी नहीं हैं अथवा योगी तो हैं परन्तु सहयोगी नहीं हैं। शिव बाबा ने हमें इस बारे में भी सावधान किया है कि हमें योगी और सहयोगी – दोनों बनना है। दोनों को बैलेन्स (Balance; सन्तुलन) रखने से ही जीवन में ब्लिस (Bliss;आनन्द) बना रहेगा, वरना केवल सहयोगी बने रहने से आत्मा में पूरी शक्ति नहीं भरेगी और केवल योगी बने रहने से सर्व के सम्बन्ध में नहीं आयेंगे और सेवा के गुण आत्मा में नहीं भरेंगे। अब जब कि हमने शिव बाबा को जान लिया है, पहचान लिया है और मान लिया है तो हमें उनसे पूरी तरह सम्बन्ध जोड़कर उनसे पूरी तरह सभी वरदान ले लेने चाहियें।

गति भंग

कुछ पुरुषार्थी ऐसे भी होते हैं कि जिनके जीवन में एक बार विशेष परिवर्तन होने के बाद आगे प्रगति रुक जाती है। ऐसी अवस्था को देखकर वे हत-प्रभ हुए-हुए-से ईश्वरीय चिन्तन में लगने की बजाय अपने जीवन में आई इस जड़ता से चिन्तित हो जाते हैं। परन्तु, शिव बाबा ने तो हमें सभी अवस्थाओं के बारे में बता ही दिया है कि इनके कारण क्या हैं और इन्हें कैसे पार करना है – हम शिव बाबा द्वारा बताई उन अनमोल युक्तियों को आचरण में ही न लायें तो वह बात दूसरी है। जीवन में परिवर्तन और प्रगति तो सहज है, परन्तु हमारे पग भी तो प्रगति के पथ पर बढ़ते चलें, तभी तो हम पुरुषार्थ की पराकाष्ठा अथवा परिपक्वता की प्राप्ति कर सकते हैं। जबकि प्रकृति में भी परिवर्तन सहज ही आ जाता है – वह गर्म या नर्म हो सकती है, फैल भी सकती है सिकुड़ भी सकती है – तो पुरुष (आत्मा) में दिव्य गुणों का प्रादुर्भाव, रूप परिवर्तन होना कठिन क्यों? अत: देखा जाये तो श्रेष्ठ परिवर्तन न होने का कारण यह होता है कि पुरुषार्थी जब सम्पूर्ण स्वरूप की स्मृति की बजाय वर्तमान कमियों के चिन्तन में समय नष्ट करने की टेव डाल लेता है, अथवा दूसरों की कमज़ोरियों को देखकर कमज़ोर बने रहने में मिथ्या सन्तोष मान लेता है। अब हमें यह सोचना चाहिये कि अपनी इस अवगुणी अवस्था का चिन्तन भी 'पर-चिन्तन' है क्योंकि हम स्वयं तो वास्तविक स्वरूप में शुद्ध, दिव्य एवं सर्वगुण सम्पन्न हैं जब कि अवगुण तो माया-जनित हैं अर्थात् पराये हैं। अत: अब हमें इस विकृति के कल्मष को धोकर शुद्ध स्वरूप में आना चाहिये क्योंकि शिव

बाबा कहते हैं कि हम में परिवर्तन न होने के कारण ही विश्व का परिवर्तन रुका हुआ है। हम ने ही तो बदलकर, पवित्र बनकर दूसरों को बदलना है।

बदलना तो हमें है ही वरना क्या साधारण जीवन हमें अच्छा लगता है? नहीं। अलौकिक जन्म लेकर भी यदि हम लौकिक ही बने रहे तो क्या लाभ हुआ? अत: हमें ध्यान इस बात पर देना है कि हमारे हरेक कार्य-कलाप में अलौकिकता आये। तभी हम संगमयुग का अलौकिक, अतीन्द्रिय सुख ले सकेंगे जो सुख सारे कल्प में एक ही बार, इसी पुरुषोत्तम संगमयुग में ही मिलता है।

बाबा द्वारा मिले वरदानों का प्रयोग

अपने इस पुरुषार्थ को तीव्र करने के लिये अथवा इस विकारी जीवन को बदल कर श्रेष्ठ बनाने के लिये शिव बाबा ने हमें तीन अनमोल वरदान दिये हैं – लाईट (Light;ज्ञान), माईट (Might;योग-शक्ति) और डिवाइन इन्साईट (Divine Insight;दिव्य-दृष्टि)। यदि हम इन तीनों को प्राप्त करते हुए, इन के प्रयोग की विधि जानकर पुरुषार्थ के पथ पर चलते चलेंगे तो निश्चय ही हमारी सन्तोष-जनक उन्नति होगी। देखा गया है कि वर्तमान समय उन्नति में मुख्य रूप से तीन ही रुकावटें हैं। एक तो व्यर्थ संकल्प, जिन बातों से हमारा सम्बन्ध नहीं, उनका यदि हम वर्णन अथवा चिन्तन करते हैं तो गोया हम समय, संकल्प और श्वासों के खजानों को व्यर्थ गँवाते हैं। इसके लिये शिव बाबा ने हमें यह उपाय बताया है कि संकल्पों के बारे में यह ध्यान रखो कि हमारे मन में जो संकल्प उठ रहा है, क्या वह ऐसा है कि जिसे हम शिव बाबा पर बलिहार कर सकें?

जैसे हम भोजन में केवल उन्हीं चीज़ों को लेते हैं जिनका शिव बाबा को (अथवा वास्तव में यों कहें कि देवी-देवताओं को) भोग लगाया जा सकता है, वैसे ही हमारे संकल्प भी ऐसे ही होने चाहियें कि जो शिव बाबा पर बलिहार किये जा सकें। यदि हम इस बात का ध्यान रखेंगे तो हमारी स्थिति अच्छी रहेगी।

दूसरी बात यह है कि हमें अब किसी भी प्रकार की कामना नहीं रहनी चाहिये। शिव बाबा ने बताया है कि कामना करने से परिणाम 'कामन' (Common; साधारण) हो जाता है। साधारण परिणाम तो हम चाहते नहीं हैं; अत: हमें कामना छोड़ देनी चाहिये। शिव बाबा ने यह भी समझाया है कि फल की कामना रखना ... कर्म-फल को खाना है। अत: अब हमें इन कामनाओं से भी ऊंचा उठकर ...र्थ को तीव्र बनाना है ताकि यह अन्तिम अवसर कहीं हाथ से निकल न जाय।



हम बदलेंगे तो जग भी बदलेगा

जो भी लोग आध्यात्मिक मार्ग पर चलना प्रारम्भ करते हैं, वह यह सोचकर चलते हैं कि जीवन में सद्‌गुण अपनाने हैं और दुर्गुण छोड़ने हैं। धार्मिक क्षेत्र में अतीत में हुए उच्च लोगों के महान् वृत्तांतों को सुनकर या पढ़कर ही तो उन्हें प्रेरणा मिलती है कि वे स्वयं भी अब महान् बनेंगे। जब कोई चरित्रवान व्यक्ति उन्हें समझाता है कि खोटे कर्मों को छोड़ना चाहिये और अपने व्यवहार को श्रेष्ठ बनाना चाहिये तो उनके मन को यह बात ठीक लगती है, तभी तो वे महान् बनने की चेष्टा करते हैं। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि महान् बनने की कामना होने पर भी प्रारम्भ में कई दुर्गुण शीघ्रता से छोड़ने पर भी, आगे चलकर बहुत लोगों के मनो-परिवर्तन एवं संस्कार-परिवर्तन की गति मन्द पड़ जाती है। कुछ दुर्गुण या अशुभ लक्षण जिन्हें वे छोड़ चुके थे, वे भी कई बार फिर उन्हें आ घेरते हैं। अन्य कई आदतें, जिन्हें अब भी वे स्वयं अच्छा नहीं मानते, वे अब छोड़ने में या तो स्वयं को असमर्थ अनुभव करते हैं या अब वे उन्हें छोड़ना नहीं चाहते। परिणाम यह होता है कि उन्नति की इच्छा होने पर भी अब आगे उनकी प्रगति नहीं होती। सोचने की बात है कि ऐसा क्यों होता है और ऐसी स्थिति होने पर क्या करना चाहिए?

पर-दर्शन ही आत्म-दर्शन में रुकावट

जब हम ऐसे लोगों की बात सुनते हैं जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है तो हम देखते हैं कि वे स्वयं बताते हैं कि वे खुश नहीं हैं, सन्तुष्ट नहीं हैं, बल्कि अशान्त हैं। उन्हीं द्वारा उनकी बातचीत सुनने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे अन्य जिन व्यक्तियों के सम्पर्क में आते हैं, उन्हीं से कोई संघर्ष होने के कारण आगे नहीं बढ़ते। जब कोई अन्य व्यक्ति, चाहे वह 'ज्ञानवान' कहलाता हो, उनसे ठीक व्यवहार नहीं करता तो वे भी अपने व्यवहार को सुधारने की क्रिया रोक लेते हैं। उस व्यक्ति का सामना करने के लिए, उसको "सीधा करने" के लिये या दूसरों की दृष्टि में उसे अपमानित करने के लिये वे भी अपने व्यवहार में ऐसी कलुषित भावनाओं अथवा ऐसे अशिष्ट एवं अभद्र हावभाव का समावेश कर देते हैं जिन्हें उनका अपना अन्तर्मन भी ठीक नहीं मानता। ऐसी स्थिति में जव उन्हें कोई समझाता है कि वे ठीक आचरण नहीं कर रहे तो वे उत्तर में कहते हैं कि इस संसार में ऐसा ही करना पड़ता है। वे कहते हैं — "हम वहुत दबकर और भलमन्साई से चलते रहे हैं, परन्तु उससे दूसरा व्यक्ति सिर पर ही चढ़ गया है, वह आगे वढ़ता ही जाता

है, वह और अधिक 'शेर' बनता जा रहा है; इसलिये अब हम उसे छोड़ेंगे नहीं। हम उसे ठीक करेंगे, बाद में हम बदलेंगे।''

वाह! यह भी क्या अजीब तर्क है!! पहले अपने निकृष्ट व्यवहार से उसे ''ठीक'' करेंगे? गोया उसे ''ठीक'' करने के लिये हम पहले निकृष्ट बनेंगे!! ऐसे व्यक्ति को जब कोई समझाता है कि – ''यह क्या कह रहे हो? सोचो तो सही, ऐसे भी कोई ठीक होता है? आप स्वयं की स्थिति को तो सम्भालो, दूसरे को ठीक करने से पहले स्वयं तो ठीक हो जाओ...।'' तब ऐसा व्यक्ति कहता है – ''मैं तो ठीक हूँ। उसे ठीक करो तो मैं ठीक हो जाऊंगा। उसने ही मुझे खराब किया है। उस पर मुझे गुस्सा आता है। वह कर्म ही ऐसे करता है कि मुझ से सहन नहीं होता.....।''

यह भी क्या खूब कही – ''उसे ठीक करो तो मैं ठीक हो ज़ाऊंगा।'' यह भी अजीब होड़ है इसका अर्थ तो यह हुआ कि अगर वह धर्मराज के डंडे खाएगा तो मैं भी ज़रूर खाऊंगा; वह फांसी पर लटकेगा तो मैं भी अवश्य लटकूंगा? यह नई प्रकार की दोस्ती है, नई प्रकार की दुश्मनी है या नये प्रकार का मुकाबला है!

ऐसे समय में तर्कशील मनुष्य को भी यह मालूम नहीं पड़ता कि वह तर्क नहीं कुतर्क कर रहा है। उसे अपने तर्क में कोई ग़लती दिखाई नहीं देती। बुद्धि पर पर्दा आ जाने से वह अपने हितैषियों की भी बात नहीं मानता। अशान्त बना रहने का भी निर्णय कर लेता है। ज्ञान एवं योग के श्रेष्ठ मार्ग को भी छोड़ने के लिये तैयार हो जाता है। अपनी उन्नति के रुक जाने में भी राज़ी है। वह दूसरे को यह मनवाने के लिये तुला हुआ है कि वह दोषी है परन्तु स्वयं अपना दोष मानने के लिये तैयार नहीं है। यह कैसी परिहासजनक परिस्थिति है!

इसी को ही ''जिद और सिद्ध'' की स्थिति कहते हैं। वह न बदलने के लिये जिद करता है, शुभचिन्तकों की तथा वरिष्ठ जनों की बात भी न मानने की जिद करता है और स्वयं को ठीक तथा दूसरे को ग़लत सिद्ध करने पर तुला हुआ है। वह आत्मा या परमात्मा विषयक किसी सत्य को सिद्ध करने पर नहीं तुला हुआ बल्कि अपने को दूसरों से अधिक अच्छा सिद्ध करने पर तुला हुआ है। गोया वह इसी 'सिद्धि' को प्राप्त करना चाहता है। सिद्ध करने की शक्ति को, सारे तर्क शास्त्र को उसने दाँव पर लगा दिया है। वह चाहता है कि अन्य मनुष्य फैसला करें, स्वयं वह नहीं कर सकता कि उसे अपना जीवन कैसा बनाना है? जब तक दूसरा गलत सिद्ध न हो जाता तब तक आत्मा और परमात्मा की सत्यता को सिद्ध करने

तथा स्वयं दिव्य सिद्धि प्राप्त करने की बात को भी उसने एक ओर रख छोड़ा है। गोया उसकी जिद यह है कि मैं दिव्य सिद्धि प्राप्त नहीं करूँगा। क्या कमाल है? कैसा तर्क है? वह दूसरे को हराना चाहता है परन्तु हार में ही उसका अपना समय निकलता जा रहा है। अपने मन को जीतने की बजाय किसी मनुष्य को जीतने को उसने लक्ष्य ले लिया है। भगवान् को भूलकर भी वह उसी मनुष्य को याद करता है। वह आत्म-दर्शन और परमात्म-दर्शन की बात छोड़कर पर-दर्शन को ही अपना जीवन-दर्शन बना बैठा है। किसी ने सच कहा है — ''आये थे हरिभजन को, ओटने लागे कपास।''

अत: अब परमपिता शिव ने कहा, साक्षात् भगवान् ने कहा है कि महसूसता की शक्ति धारण करो। अभी भी अपनी ग़लती महसूस न की तो हानि किसकी होगी? दोषी कौन होगा? ग़लत कौन सिद्ध होगा? अब जब प्रत्यक्षता का पर्दा खुलने लग गया है तो हमारी प्रत्यक्षता क्या होगी? यही कि हम जिद और सिद्ध करने में लगे रहे। हम दूसरे को दोषी सिद्ध करने का दोष करते रहे। हम दूसरे किसी को हार मनवाने के लिये माया से हार खाये बैठे रहे। उस व्यक्ति से यह सर्टीफिकेट (प्रमाणपत्र) लेने के लिये कि हम ठीक हैं हमने परमात्मा से सर्टीफिकेट लेने का पुरुषार्थ भी छोड़ दिया। हमने आत्म-दर्शन और परमात्म-दर्शन की चर्चा छोड़कर पर-दर्शन को अपना लिया।

ऐसे तर्क में क्या रखा है? अच्छा दूसरा ही ठीक है, हम ग़लत हैं, अगर इतनी-सी बात से हमारा पल्ला छूटता है तो इसी में भलाई है। आगे फैसला तो अभी होना है। यहाँ पेशियाँ भुगतने से क्या फायदा? भगवान ही साक्षी हैं। वहाँ तो गवाहों की, तर्क की, कानून की धारा बताने की ज़रूरत ही नहीं। अब समय ही बाकी कितना रह गया है। भागो, अब तो मंजिल पर पहुँचना है। मन को मगरमच्छ से छुड़ाकर मुक्ति पाओ इन माया-जालों से।

बाबा ने कहा है — ''बच्चे आप आधारमूर्त्त हो। आप ही उद्धारमूर्त्त हो। आप निमित्त हो विश्व-परिवर्तन के लिये। आप बदलोगे तो यह विश्व बदलेगा। आप ग़हरी महसूसता करके स्वयं बदलो। मेरी ओर देखो, दूसरी ओर न देखो। बच्चे आपके कारण ही पर्दा खुलना रुक जाता है। अत: हमें तो रुकावट का दोषी नहीं बनना चाहिए।'' सुखदायी संसार बनाने के लिये अब हमें यही याद रखना चाहिये कि — ''हम बदलेंगे तो जग बदलेगा। अब हम अवश्य बदलेंगे और जग भी बदलेगा।''



एक अनोखी दास्तान प्रेम की



मैं अध्यात्म के सिद्धान्त पक्ष और साधना पक्ष पर जितना अधिक विचार करता हूँ उतना अधिक निश्चयात्मक रीति से इसी निष्कर्ष पर पहुंचता हूँ कि 'प्रेम' ही इस सारे संसार-चक्र अथवा युग-चक्र की धुरी है। सतयुग और त्रेतायुग की मूलभूत विशेषता यही थी कि उस काल में प्रेम पवित्र एवं आध्यात्मिक रूप में व्यवहृत होता था। इन दो युगों के बारे में लोकोक्तियों में यह जो कहा गया है कि 'तब शेर और गाय एक घाट पर पानी पीते थे' और 'घी तथा दूध की नदियाँ बहती थीं,' प्रेम ही के प्रताप की गाथा हैं क्योंकि प्रेम के बिना एक घर में दो मनुष्य भी इक्ट्ठे रह कर पानी पीने को तैयार नहीं होते और दूध की नदियों की बजाय वे रक्त की नदियाँ बहाने को उद्यत हो जाते हैं। उस प्रथम कल्पार्द्ध में राजा द्वारा प्रजा का शोषण न होना और प्रजा में भी आर्थिक संघर्ष का अव्याप्त होना भी इसी प्रेम के ही सुफल हैं। तब दिव्य प्रेम के कारण ही एकता थी और राज्य की अखण्डता थी। प्रेम के प्रभाव से ही सभी लोग परिवार के सदस्यों की न्यायीं तरह रहते थे। **अत: उस काल में तराजू या गज-मीटर के द्वारा तोल-माप की खींचातानी की आवश्यकता नहीं थी, न ही वस्तुओं के मूल्य चुकाये जाते थे। जब हीरे-मोती ही भवनों की दीवारों में लगे रहते थे और उन्हें देखकर सभी खुश थे; और किसी के मन में ईर्ष्या या स्तेय का भाव नहीं था, तब अन्य वस्तुओं की दलाली, परचून क्रय-विक्रय, या टेक्स और 'कर' की क्या बात हो सकती थी? तब तो विस्तृत एवं व्यापक प्रेम के कारण उदारता ही का व्यवहार और व्यापार था जिसमें देने की भावना अधिक और लेने की इच्छा कम थी। तब मुद्रा का प्रयोग कम और उपहार का प्रचलन अधिक था। तब न तो बनियों के जैसी व्यापार-पद्धति थी, न कामरेड़ों की तरह बटवारे एवं वितरण की कश्मकश। वस्तुओं को देने-लेने की प्रथा अधिक थी।** तब जो सर्व गुणों की तथा मर्यादा की विद्यमानता थी उसका बीज भी वहाँ पारस्परिक प्रेम ही में छिपा था क्योंकि जहाँ शुद्ध प्रेम है वहाँ सन्तुष्टता, मधुरता, सरलता और हर्षितमुखता आदि स्वत: ही होंगे। जब प्रेम होगा तो कोई कटु व्यवहार क्यों करेगा, असन्तुष्ट कैसे होगा और निंदा क्यों करेगा? अत: प्रेम शुद्ध हो तो यही संसार स्वर्ग है और प्रकृति भी प्रेम के प्रभाव से पूर्णत: विकसित होकर वैसी ही भूमिका अदा करती है।

प्रेम की विकृति

द्वापर युग और कलियुग में प्रेम विकृत होकर काम, लोभ, मोह, आसक्ति और स्वार्थ का रूप धारण कर लेता है, वह संकीर्ण हो जाता है और परिवार, वंश, देश

और जाति आदि की सीमाओं में बंन्ध जाता है। इस प्रकार प्रेम के बंटवारे से राज, सम्पत्ति और वफादारी का भी बंटवार हो जाता है और यह झगड़ों की जड़ बनाता है। तव विकृत प्रेम के निकट परिणाम से पीड़ित होकर किसी का प्रेम भक्ति में, किसी का पूजा में, किसी का माला सिमरण में, किसी का प्रभु में, और किसी का शास्त्र में सहारा ढूंढता है। इस प्रकार, भक्ति मार्ग में भी प्रेम ही की किसी-न-किसी प्रकार की भूमिका लिए हुए हैं। कोई पति रूप के प्रेम में प्रभु को पाना चाहता है तो कोई स्वामी-सेवक के प्रेम-परिवेश में। तुलसीदास की तरह कोई पत्नी से प्रेम के प्रस्ताव के ठुकराये जाने पर राम से प्रेम करने लगता है तो कोई सूरदास की तरह प्रेम की विकृति से पीड़ित होकर अपनी आंखों को सुआ-सलाई मार कर 'बाल गोपाल' से प्रेम करने लगता है। कोई स्वयं को गिरधर के लिए मीरा की तरह 'री मैं तो प्रेम दीवानी, मेरा दर्द न जाने कोय' के स्वरलाप में मस्त हो उठता है तो कोई जायसी की तरह उसे प्रेमिका के रूप में पाए जाने पर काव्य रच डालता है।

प्रेम ही परिवर्तन का मूल और पुरुषार्थ का प्रेरक तथा प्रगति कारक

फिर, संगमयुग में परमपिता परमात्मा आकर आत्माओं को 'प्यारे बच्चे, 'सिकीलधे बच्चे,' 'नूरे चशम' आदि प्रेम-सूचक शब्दों से सम्बोधित करते हैं और आत्माएं भी उन्हें परमप्रिय कहकर उनसे सर्व सम्बन्धों का प्रेम जोड़ती हैं। आत्माएं ईश्वरीय ज्ञान इसीलिए प्राप्त करती हैं कि उन्हें मालूम हो कि प्रेम देह या प्रकृति के पदार्थों से न करके परमपुरुष परमात्मा से करना है। जिसका अमुक परिचय है। फिर इसी प्रेम से प्लावित होकर अपने प्रियतम की स्मृति में मन को लीन कर देना ही योग है। प्रेम के बिना योग (चाहे उसमें प्राणायाम या आसन क्यों न हो।) तो हठ-क्रिया ही है। अपने प्रियतम प्रभु के प्रेम में सब कुछ न्योछावर करना ही त्याग है, उसके प्रेम में अनन्य-भाव ही ब्रह्मचर्य है, उस प्रेमी को प्रसन्न करने के लिए चांद और तारे भी तोड़ कर लाने को तैयार होना ही उसकी आज्ञाओं का सहर्ष पालन करना है। इसी प्रकार, ईश्वर-प्रेम दिव्य गुणों के विकास की भी सही चाबी है। पुनश्च, जिससे प्रेम हो उसके अनुसार सेवा तो की ही जाती है। प्रभु-प्रेम के कारण ही संगमयुग के जीवन में समूचा मनोपरिवर्तन होता है। जिसमें शिव बाबा के लिए जितना प्रेम है, उतना ही वह लग्न में मग्न है, उतना ही वह वफादार और फर्मानबरदार भी है। प्रभु-प्रेम वाले को ही नशा रहता है और वही नष्टोमोहा: भी होता है। जिसका प्रकृति से प्रेम है, वह भोगी है और जिसका प्रभु से प्रेम है, वही

योगी है।

इस प्रकार, सारे पुरुषार्थ का पारखी प्रेम ही है। प्रभु-प्रेम करने वाली आत्मा पर से ही माया का जंग उतरता है और जो ईश्वर रूप शमा पर परवानों की तरह फिदा होता है वही प्रभु का प्रेम-पात्र होता है। प्रभु के प्रेम की भी सात भूमिकाएं हैं जिनका स्थान-अभाव के कारण हम वर्णन नहीं कर रहे। परन्तु यह निश्चित है कि जिसका शिव बाबा से प्रेम है, उसे तो उसकी याद सदा आयेगी ही। प्रेम के बिना तो निरंतर योगी बनना असम्भव ही है। जिसे परमपिता से प्रेम है, वह उन पर तन-मन-धन से कुर्बान भी जायेगा क्योंकि प्रेमी तो अपने प्रेम-पात्र के लिए सब-कुछ लुटा देता है। उसे न लोक-लाज रहती है न वह सितम सहन करने से घबराता है। प्रेम ही मनुष्य को निद्राजीत बनाता है और प्रेम ही 'मैं' और 'मेरे' के भाव को मिटाता है। अतः प्रेम के बिना योग का रसास्वादन करने की इच्छा करना रेत में से घी प्राप्त करने की व्यर्थ कामना करना है।

संक्षेप में कहें तो पांचों युगों की कहानी पर विचार करने से यही मालूम होता है कि वास्तव में यह सारा विश्व-नाटक ही एक लम्बी प्रेम-कहानी है। जो प्रभु से प्यार करता है, वह देवता बनता है और स्वर्ग का सुख पाता है। और जो प्रभु-प्यार की अवहेलना कर प्रकृति के पाश को प्रेम मानता है, वह असुर बन नरकगामी होता है। इस रहस्य को जानना ही सच्चे प्रेम का पथिक बनना है।



कठिनाई इनकी और कठिनाई उनकी

यह बात तो सर्व-मान्य है कि जीवन जीने के अनेक स्तर (Levels of existence) हैं। एक व्यक्ति तो ऐसा है कि वह घोर आसुरीयता के तल पर टिका है और दूसरा ऐसा है कि कुछ भक्ति भी करता है परन्तु विषय-विकार नहीं छोड़ता, और इस प्रकार, आसुरीयता की घोरता से कुछ ऊंचा उठा है। तीसरा ऐसा है कि उसमें कुछ वैराग्य भावना है और विकारों की भी उसमें हल्की मात्रा है, और चौथा ऐसा कि जो पवित्रता की मस्ती में रमा हुआ है। इस प्रकार के स्तर स्वभाविक हैं क्योंकि इस संसार में भाँति-भाँति के लोग हैं; उनकी भिन्न-भिन्न दृष्टि, वृत्ति स्मृति और स्थिति है।

हम देखते हैं कि हरेक की निद्रा की स्थिति भी अलग-अलग है। एक व्यक्ति तो ऐसी घोर निद्रा में सोता है कि यदि गर्मी के मौसम में छाँव में सोने पर धीरे-धीरे उस पर कड़ाके की धूप आ जाए और उसकी हम टाँग हिलाएं तो भी वह नहीं जागता; दूसरा व्यक्ति अलार्म (Alarm) लगाकर सो जाता है ताकि वह अमुक समय पर उठ जाए परन्तु जब अलार्म बजता है तो वह उसे बन्द करके निद्रा की दूसरी शिफ्ट (Shift) शुरू करता है और आवाज़ लगाए जाने पर चूँ-चराँ करके उठ जाता है। तीसरा व्यक्ति बिना किसी के उठाए स्वत: ही उठ जाता है और चौथे व्यक्ति की निद्रा में एक प्रकार की सात्विकता का समावेश होता है कि जिससे उसकी चेतना तमोगुण से पूर्णत: आच्छादित नहीं होती — गोया उसकी निद्रा में भी एक प्रकार की जागृति बनी रहती है।

योगी का जीवन-स्तर न्यारा होने से उसका व्यवहार भी न्यारा होता है

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि योगी का भी अपना ही एक जीवन-स्तर होता है। उसकी चेतना देह और देह के विषयों की ओर उन्मुख अथवा उनमें विलीन नहीं होती। भोगी को जिन भोगों में रुचि होती है, उसे वे भद्दे मालूम होते हैं; उनसे उसका मन हट चुका होता है जैसे कोई घोड़ा प्यासा न होने पर पानी के निकट होने पर भी पानी नहीं पीता, वैसे ही उसको भी उन विषय-वासनाओं की तृष्णा नहीं होती। जैसे कई लोग अपने भोजन में मिर्च-मसाले नहीं मिलाते अथवा माँस-मदिरा को सम्मिलित नहीं करते वैसे ही काम-वासना का भोग भी उसके जीवन-[illegible] में शामिल नहीं होता। जैसे किसी सच्चे वैष्णव को माँसाहार या म्लेच्छ के [illegible]

लगता है अथवा किसी नियमी ब्राह्मण को स्नान किये बिना भोजन करने का प्रस्ताव अस्वीकार्य होता है, वैसे ही एक सच्चे योगी को 'काम' विकार एक पागलपन महसूस होता है। और यदि इसके लिए उससे कोई ज़िद करता है तो उसे ऐसा महसूस होता है जैसे उसे कोई अमेरीका की सबसे ऊंची 120 मंज़िला इमारत की उच्चतम अट्टालिका से धक्का देकर नीचे धराशायी करना चाहता है। यदि लोग इस बात को सामने रखें कि योगी और भोगी के स्तर में ज़मीन-आसमान का अन्तर है तो योगी की वह बातें जो उन्हें अटपटी लगती हैं, वैसी अजीब नहीं लगेंगी।

अब मान लीजिए कि कुछ भक्ति मार्गीय लोग किसी उच्च योगी से कहते हैं कि – "भाई, आप शादी कर लो", और वह आनन्द-निमग्न एवं आत्म-स्थित योगी उत्तर देता है कि – "काम विकार तो नर्क का द्वार है", तो इस उत्तर की ओर भिन्न-भिन्न लोगों की भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया होगी। निम्नतम स्तर के लोग तो उस पर अट्टहास करेंगे और विवाह करने के लिए उस पर दबाव डालेंगे। भक्त श्रेणी के कुछ लोग कहेंगे कि..."निस्सन्देह, काम विकार है तो नर्क का द्वार ही परन्तु यह संसार ही ऐसा बना हुआ है कि इसमें थोड़ी-बहुत मात्रा में 'काम' वासना का भोग करना वर्जित नहीं है, बल्कि इसे 'गृहस्थाश्रम' कहा गया है।" उनमें से कई लोग तो यह भी कह देंगे कि 'पुत्र बिना तो मनुष्य की गति नहीं होती।' तीसरी श्रेणी के कुछ लोग ऐसे भी मिलेंगे जो यह कहेंगे कि "इस योगी के वचन तो सत्य हैं परन्तु इस संसार में पवित्र रह पाना हमारे लिए कठिन है।" चौथी कोटि के गिने-चुने और अल्पतम मात्रा में ही ऐसे लोग होंगे जो कहेंगे कि .... "यह तो श्रेष्ठतम बात कह रहा है और अगर यह इस स्थिति को प्राप्त कर लेता है तो यह महान् सौभाग्यशाली है; हमारा इसको नमस्कार है।"

इस प्रकार, भिन्न-भिन्न स्थिति होने के कारण लोगों की भिन्न-भिन्न आलोचना होगी। अट्टहास, विरोध और अचम्भे के रूप में ही अधिकतम लोगों की प्रतिक्रिया होगी, क्योंकि इस कलिकाल में वासनाभोग की ओर अधिकतम लोगों का झुकाव होता है। जिन पुराणादि ग्रन्थों को ये लोग मानते हैं, स्वयं उनमें ही लिखा हुआ है कि जब घोर कलियुग होगा तो बच्चा, बूढ़ा आदि... सभी गृहस्थाश्रम ही के होंगे और एक शूद्र वर्ण ही शेष रह जाएगा। इस कथन का भाव यही तो है कि ब्रह्मचारी भी दृष्टि, वृत्ति आदि से वासना-भोगी होंगे और वानप्रस्थियों तथा संन्यासियों का भी संस्कार नहीं मिटा होगा। ऐसी स्थिति में लोगों को योगी का वह उत्तर या तो आश्चर्य की न्यायी प्रतीत होगा और या अखरेगा ही।

जो व्यक्ति जैसा हो वह दूसरों को भी वैसा ही बनाने का यत्न करता है

संसार की यह रीति है कि जो व्यक्ति जैसा हो वह वैसा ही दूसरों को भी बनाने का प्रयत्न करता है। किसी को सिनेमा देखने का शौक हो तो वह दूसरों से भी कहता है... ''चलो आज फिल्म देखकर आयें।'' किसी को आम प्रिय हों तो वह दूसरों को भी कहेगा कि....... ''आम तो खा लो, फिर तो यह ऋतु चली ही जाएगी।'' इसी प्रकार भोगी लोगों का सारे का सारा जमघट बेचारे मासूम योगी पर टूट पड़ता है और उसे कहता है कि – ''तुम्हारी शादी करने की आयु हो गई है; तुम शादी करो।''

अपनी मत मनवाने के लिये लोगों के विभिन्न पैंतरे

फिर लोगों का यह भी तो स्वभाव है कि वे अपनी बात को मनवाने के लिए सारे पैंतरे अख्तियार करते हैं। अपनी बात मनवाने के लिए कई तो रूठ जाते हैं, कई अपनी नाराज़गी प्रगट करने के लिए बात-चीत करना छोड़ देते हैं; अन्य अपना रोष प्रकट करने के लिए रो पड़ते हैं या चिल्लाते हैं या भोजन ही नहीं करते और कुछेक तो ऐसे भी हैं कि सभी सम्बन्धियों को इकट्ठा करके घेराव डाल देते, पूरी छावनी लगाते और सभी प्रकार के शब्द-शस्त्रों से प्रहार करते हैं और स्वयं को मार डालने की धमकियाँ देते और हाथापाई पर भी उतर आते हैं। अफ़सोस है कि माया के ये मुरीद किसी के द्वारा पवित्रता का व्रत लेने पर अत्याचार तक से नहीं चूकते। सभी ऐसे लोगों के साथ मिल जाते हैं और योगी स्वयं को अकेला पाता है। वे एक-दूसरे से कहते.... ''यह बावरा हो गया है; इसे किसी ने वहका दिया है; या तो इस पर जादू कर दिया है। अभी तो यह कच्ची उम्र का है और भोला-भाला है और दूसरों की बातों में आकर शायद सारी उम्र संन्यासी बनने की यातना करने को मान बैठा है....।''

इस प्रकार ''अपनी-अपनी डफली, अपना-अपना राग'' के अनुसार अथवा ''जैसा-जैसा जीवन-स्तर, वैसा-वैसा प्रश्न-उत्तर'' – इस सूक्ति के अनुसार हरेक व्यवहार करता है। हाय-हाय, किसी को इतनी भी दया नहीं आती कि यह स्वर्ग की ओर जाता है तो हम इसे नर्क की ओर न धकेलें! इसे कामाग्नि पर न जलाएं। यह विष का प्याला नहीं पीना चाहता तो हम इसकी हत्या करने के निमित्त न बनें। बल्कि होता यह है कि रीति-रिवाज़ तथा कथित [illegible] दुहाई देकर वे उसे भी विषय-वैतरणी में घसीट ले जाने का पूरा यत्न करते हैं [illegible] महावीर, धीर, योगारूढ़ व्यक्ति ही उनकी चोटों और उनके प्रहारों को [illegible]

हुआ बढ़ा चलता है और किसी भी मूल्य पर अपने महान् लक्ष्य से विमुख होने के प्रस्तावों को नकार देता है।

सम्बन्ध पवित्र भी और अपवित्र भी; दैहिक भी और आध्यात्मिक भी

भोगी लोग कहते हैं — "पति और पत्नी का सम्बन्ध तो सृष्टि के आदि काल से चला आया है; तब यह योगी इस नियम की अवहेलना किस आधार पर करता है? वे अपने जीवन-स्तर के अनुसार ठीक ही सोचते हैं और ठीक ही यह प्रश्न करते हैं, परन्तु उन्हें यह मालूम ही नहीं कि सतयुग में दाम्पत्य जीवन **पति** और **पत्नी** के सम्बन्ध पर नहीं, बल्कि **धर्मपति** और **धर्मपत्नी** के सम्बन्ध पर था अथवा पति देव तथा **देव-पत्नी** के सम्बन्ध पर टिका था और उसमें भोग-बल की ज़रा भी बू न थी, बल्कि वह स्वच्छता, पवित्र स्नेह और कर्मातीत पद्धति के अनुसार था जिसका अति संक्षिप्त विवरण अभी भी अनेक धार्मिक ग्रन्थों में बिखरे मोतियों की तरह मिलता है।'

इस विषय में समझने की एक बात और भी है, वह यह कि सम्बन्ध भी दो प्रकार के हैं — एक **दैहिक** और दूसरे **आत्मिक**। उदाहरण के रूप में हम परमात्म को 'माता-पिता' आत्मा ही के नाते से तो कहते हैं। जो व्यक्ति बिल्कुल ही सांसारिक अथवा भोगी है, उसके लिए तो 'माता-पिता' जैसा कोई सम्बन्ध परमात्म के साथ है ही नहीं, बल्कि जो दैहिक माता-पिता हैं केवल वही उसके लिये माता पिता हैं। परन्तु जो व्यक्ति कुछ भक्ति-भावना वाला है, उसके लिए दैहिक माता पिता के अतिरिक्त 'धर्मपिता' (धर्म स्थापक) और **'परमपिता'** (परमात्मा) से भ सम्बन्ध मान्य है, बल्कि उसका तो यह प्रयत्न रहता है कि देहिक माता-पिता के सा उसका जो सम्बन्ध है, वह भी 'धर्मपिता' की शास्त्र-वर्णित मर्यादा के अनुसार हो ठीक इसी प्रकार, योगी का सम्बन्ध परमात्मा के साथ होता है जो ही उसकी आत के 'माता-पिता' हैं और कल्याणकारी भी हैं; इसलिए वह परमात्मा की आज्ञा क किसी भी हालत में टालना नहीं चाहता और परमात्मा की आज्ञा तो यही है कि दै गुणों को धारण करो और विकारों का त्याग करो।

वास्तविक सम्बन्ध का ज्ञान होने पर दृष्टिकोण में अन्तर

सम्बन्ध के बारे में एक बात और भी है। मान लीजिए कि कोई प्राकृतिक प्रको होने पर किसी मजबूरीवश, देश पर आक्रमण होने के कारण या देश का बंटवा से एक घर के सदस्य अथवा एक बाप के बच्चे बाप से तथा आपस में बिछु थे। बड़े होने पर वे अलग-अलग स्थान पर जैसे-तैसे टिक गये। किन्हीं मित्रों ने

दोनों के बीच बातचीत करा कर उनकी सगाई और उनका विवाह करने का प्रयत्न जारी किया और उन दोनों की बातचीत तय होने की नौबत भी आ पहुँची। दोनों ने इस सम्बन्ध के लिए 'हाँ' भी कह दी। परन्तु जब दोनों के माता-पिता का और जन्म-स्थान का अथवा आदि निवास का परिचय होने पर उन्हें यह मालूम होता है कि वे एक ही माता-पिता की सन्तान हैं जिनसे वे बाल्यकाल से बिछुड़ गये थे और इस प्रकार वे तो परस्पर बहन-भाई हैं, तब उनको सगाई या विवाह की बात झटके से ही भूल जाती है और पहले स्वीकारी हुई बात को भी अब वे क्रियान्वित करने से बिल्कुल इन्कार कर देते हैं। क्या तब उनका इन्कार करना ग़लत है? सभी विचारवान लोग कहेंगे – "नहीं।" परन्तु इस थोड़े-से समय में अन्तर क्या पड़ा? 'हाँ' से 'ना' क्यों हो गई? जो पति-पत्नी बनने जा रहे थे, वे भाई-बहन क्यों बन गये? जो लोग उनका विवाह करने जा रहे थे उन्होंने वह बात छोड़ क्यों दी? इसीलिये ही कि उन्हें उनके माता-पिता का परिचय मिल गया और उन्हें स्वयं में भाई-बहन का सम्बन्ध मालूम हो गया। इस पर भी कोई मतवाले; नास्तिक और आचार-भ्रष्ट लोग आग्रह भी कर सकते हैं कि...."कोई बात नहीं, शादी तो कर ही लो।"अब आप सोचिये कि दोनों में मस्तिष्क किसका ठीक है और बात किसकी सही है?

ठीक इसी प्रकार, कुछ लोग ऐसे हैं जो अपने गाँव की हर कन्या को 'बहन' मानते हैं। कुछ और हैं जो अपने गुरु की हर शिष्या को अथवा गुरु की कन्या को अपनी 'बहन' मानते हैं। अन्य लोग केवल एक अपनी पत्नी को छोड़कर हर नारी को अपनी 'बहन' मानते हैं। यह बात हरेक के अपने-अपने जीवन-स्तर पर आश्रित है। मीरा का जीवन-स्तर ऐसा था कि उसे गिरधर के अतिरिक्त दूसरा कोई भी पुरुष 'पुरुष' ही नहीं प्रतीत होता था। उसका भक्ति का स्तर ही ऐसा था। सूरदास जी के स्थूल चक्षु बन्द हो जाने के बावज़ूद भी उनके मानस चक्षु के सामने 'बाल-गोपाल' ही घुंघरू बांधकर नाचते रहते थे। अब उन हरेक के जीवन-व्यवहार को तभी समझा जा सकता है जब उनके जीवन-स्तर को समझा जाए।

भाई-बहन तो सभी हैं ही, बनाने की बात नहीं है

ठीक इसी प्रकार, जिस योगी को अपने पिता (परमात्मा) का परिचय मिल गया और यह भी मालूम हो गया कि अन्य सभी के भी वे ही पिता हैं और वास्तव में वे सब 'भाई-भाई', 'भाई-वहन' अथवा 'बहन-वहन' हैं तो क्या वह वासनात्मक शादी करके अपनी बुद्धि की बरवादी करेगा? कदापि नहीं। वास्तव में जो लोग यह आरोप लगाते हैं कि अमुक संस्था पति-पत्नी को भाई-बहन बनाती है, उन्हें कहना तो यह चाहिए कि वो संस्था सबको **'योग-युक्त'** बनाती है और उन्हें वास्तविक सम्बन्ध बताती है, परन्तु खेद है कि संस्था

सत्य

सत्य की खोज करना चिर-प्राचीनकाल से मनुष्य का एक पुरुषार्थ रहा है। कुछ लोग तो भौतिक जगत के कार्यकलापों, क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं और इसकी विविधताओं तथा इसमें की अनेक शक्तियों से सम्बद्ध सत्य सिद्धान्तों की खोज में लगे रहे और अन्य कई इस परिवर्तन शील जगत के पीछे अथवा परे छिपे हुए सत्य को जानने के लिए साधना करते रहे। इसलिए संसार में दो प्रकार की विद्याओं का विकास हुआ। एक **अपरा विद्या** और दूसरी **परा विद्या।**

सत्य की परिभाषा

सत्य की चर्चा करने से पहले हमें सत्य की इस परिभाषा पर सहमत हो जाना चाहिए कि **''जो चीज जैसी है उसे वैसा ही जानना, मानना और बतलाना तथा व्यवहार में लाना ही सत्य है।''**

इस परिभाषा के साथ-साथ यहाँ हम यह बता देना आवश्यक समझते हैं कि **जानने** के साथ-साथ **मानना** भी ज़रूरी है क्योंकि यदि सत्य का ज्ञान होने पर भी हम उसे वैसा मानते नहीं हैं तो इससे विदित होता है कि उसके विषय में अभी भी हमारे मन में कुछ संशय, संदेह अथवा शंकाएँ हैं। अत: इन शंकायुक्त प्रश्नों के रहे होने के कारण सत्य के विषय में हमारा ज्ञान या विज्ञान निश्चयात्मक नहीं है। यदि ऐसा है तो फिर वह ज्ञान अथवा सत्य हमारे मन अथवा चरित्र को पूरी शक्ति अथवा पूरा बल प्रदान नहीं करेगा बल्कि हमारे मन में अथवा समाज में द्वंद पैदा करने वाला और अवस्था को डावांडोल बनाने वाला होगा। संशययुक्त ज्ञान हमें कई बार किंकर्तव्यविमूढ़ स्थिति में भी ले जाता है और 'क्या करूँ और क्या न करूँ' तथा 'करूँ या न करूँ' तथा 'पता नहीं क्या होगा'— इस प्रकार के प्रश्न उत्पन्न करके मन में संघर्ष भी पैदा करता है और मन के मैदान में इन दो प्रश्नों की आपसी मुठभेड़ से संग्राम एवं संघर्ष ही उत्पन्न हुआ रहता है। इसलिए **जानने** (knowledge) के साथ **मानना** (Belief) अथवा **पहचानना** (Cognition or Conviction) भी ज़रूरी है। यही कारण है कि लोग प्राय: सत्य कथन की जब शपथ (Oath) लेते हैं तो कहते हैं कि — ''जहाँ तक मैं जानता और मानता हूँ'' अथवा ''जहाँ तक मेरा 'ज्ञान और विश्वास'(to the best of my knowledge & belief) है, उसके अनुसार मेरा यह कथन है कि.. इस प्रकार वे जानने के साथ-साथ मानने की

बात भी व्यक्त करते हैं।

सत्य को जानने और मानने के अतिरिक्त सत्य बतलाना भी आवश्यक है वर्ना यदि हम सत्य जानते और मानते तो हैं परंतु बतलाते नहीं हैं तो यह स्थिति इस बात की सूचक है कि अभी हमारे निश्चय या विश्वास में कमी है और, इसलिए हमारे मन में कमज़ोरी है या इसलिए ही हम डरते हैं कि लोग कहीं हमारी हंसी न उड़ाएं, हमें बेवकूफ़ न समझें या हमारा साथ न छोड़ दें। इसका तो यह अर्थ होता है कि हम उस सत्य के लाभ को और मूल्य को नहीं जानते और हम ऐसा भी महसूस नहीं करते कि यह तो लोगों को ज़रूर बताना चाहिए क्योंकि इसमें ही तो उनका भला है, बल्कि हम शायद ऐसा महसूस करते है कि यह बताने से लोग बुरा मान जायेंगे और हमें सत्य बताने में लोक-लाज महसूस होती है। यदि हम सत्य के मूल्य को, उसकी कल्याण करने की सामर्थ्य को तथा लोगों को उसे बताए जाने की आवश्यकता को नहीं जानते तब तो हम सत्य को भी यथार्थ रीति से या गहराई से नहीं जानते। सत्य तो निस्संदेह – उच्छेदक, संशय-निवारक, शंका-संहारक, संतोषकारक या शक्तिदायक होता है। उसके होते भय कहाँ?

सत्य को जानने, मानने और बतलाने के अतिरिक्त सत्य को **आचरण** अथवा **व्यवहार** में लाना भी आवश्यक है वर्ना किसी बात को जानने और मानने के बाद व्यवहार में न लाना तो बुद्धि का विलास मात्र है, आडंबर है और सत्य के लाभ से स्वयं को वंचित करना है। जानकर और मानकर भी उस सत्य पर आचरण न करना तो जानबूझकर सत्य का विरोध करना तथा लोगों को सत्य के प्रति निश्चेष्ट या निरूत्साहित करना है। इस प्रकार सत्य की अवहेलना करना, उसका उल्लंघन करना और एक प्रकार से उसका विरोधी बनना – यह तो वैसे ही है जैसे कानून को जानने के बाद उसे कोई तोड़ता है। यह तो बड़ा अपराध है और इसके लिए तो बड़ा दण्ड है।

हाँ, हम आगे चलकर यह बताएंगे कि **अपवाद के रूप में** कभी-कभी ऐसी परिस्थिति भी आ जाती है कि जब सत्य को व्यवहार में नहीं लाया जा सकता परंतु उसे आचरण में लाया जा सकता है। ऐसी परिस्थिति भी आ जाती है कि जब सत्य को आचरण व व्यवहार में तत्काल अथवा तुरंत नहीं लाया जा सकता बल्कि लोक-कल्याणार्थ उसकी अभिव्यक्ति को स्थगित (Postpone) कर दिया जाता है और

फिर कभी उसे आचरण में लाया जाता है।

झूठ क्यों नहीं?

पूर्व इसके कि हम इस विषय को आगे बढ़ाएं, हमें तनिक इस बात को भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि सत्य हमारा कल्याणकारी और झूठ अकल्याणकारी कैसे है?

पहले हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि झूठ कोई तभी बोलता है जब वह चोरी करता है या अन्य कोई अपराध करने के कारण भयभीत होता है या किसी को धोखा देकर स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है, या बेईमानी (Dishonesty) पर उतर आता है, या किसी को पता दिये बिना उसे हानि पहुंचाना चाहता है और या वर्गलाकर काम निकालना चाहता है। मनुष्य यह सब तभी करता है जब वह दूसरों का अहित करने पर तुला हो और यह व्यवहार वह उनके साथ करता है जिनसे हानि पहुँचने की आशंका हो या जिनसे वह प्यार न करता हो। जिनको यह अपना मित्र समझता है, जिनसे किसी भी प्रकार का उसे भय न हो तथा जिनसे कल्याण होने का उसे पूरा विश्वास हो, उनसे तो वह कभी भी झूठ नहीं बोलता। इसका अर्थ यह हुआ कि झूठ के साथ भय, अपराध बेगानापन या शत्रुता, स्वार्थ-सिद्धि की भावना आदि कई दुर्गुण जुड़े हुए हैं। इन दुर्गुणों के अधीन आत्मा को शान्ति कहाँ? ऐसे दुर्गुणों के कारण तो आत्मा का पतन ही हुआ है। और होता चला जाता है। झूठ से तो अपने भी बेगाने बन जाते हैं, जिन्हें हम पर विश्वास हो वे कभी हमारे सत्य बोलने पर भी हम में अविश्वास करने लगते हैं और लोगों में हमारी प्रतिष्ठा या साख समाप्त हो जाती है। लोग झूठ वाले व्यक्ति का दोहरा चेहरा, मक्कार मन तथा व्यापार को धोखाधड़ी या ठगी मानने लगते हैं।

इस प्रकार, झूठ से न केवल मनुष्य 'दोगला' (Double faced) बन जाता है बल्कि वह समाज में कुरीति, शठनीति तथा दुराचार फैलाने का निमित्त बनता है। कलियुग लाने का निमित्त झूठ ही तो है। सबसे पहला झूठ तो स्वयं को 'आत्मा' मानने की बजाय 'शरीर' मानना है परंतु होते-होते झूठ पर झूठ सवार होकर झूठ का इतना बड़ा ढेर हो जाता है कि वह आसमान को जाकर छूता है और समुद्र की सतह तक जाकर पहुंचता है। कायाकला सब झूठ के परिणामस्वरूप चट हो जाती है। जब झूठ का बाज़ार गर्म होता है तो लोग झूठ को ही सत्य मानने लगते हैं और

सत्य को झूठ समझते हैं क्योंकि झूठ को लोग सदा सजा और संवारकर बड़े जोरदार तर्क के साथ उसकी खूब पब्लिसिटी करके पेश करता है। वे यह तो भूल ही जाते हैं कि काठ की हांडी ज़्यादा देर तक आग पर नहीं रह सकती और कागज़ के फूलों की सुगंध नहीं आती।

फिर झूठ का परिणाम भी झूठा ही होता है। झूठा व्यक्ति सुख के झूठे स्वप्न ही देखता रह जाता है, सच्चा सुख उसके हाथ नहीं आता। वह झूठ और धोखे के साधन इकट्ठा करने में ही जीवन लगा देता है और भय तथा चिंता की अग्नि में स्वयं को जलाता रहता है और फिर भी अपने झूठे मन से मानता है कि मैं सुख-मौज में हूँ। जैसे अंधे के मुँह पर लानत मारने से भी वह समझता है कि यह मुझसे प्यार कर रहा है वैसे ही झूठ से अंधी बुद्धि वाला व्यक्ति यह मान लेता है कि संसार में छह रसों के अतिरिक्त, सबसे अच्छा रस झूठ में है। वह पान को चबाने की तरह झूठ को अपने मुँह में डाले रखता है और झूठे सोने के जेवरों की तरह झूठ का श्रृंगार किये रखता है। और कई तो खालिस झूठ का थोक व्यापार करते हैं, उनके व्यवहार में सत्य की रत्ती भी नहीं होती। वे झूठ के झांसे, दिलासे और पताशे देकर जीवन रूपी व्यापार चलाते हैं। अन्य कई सत्य मिश्रित झूठ का प्रयोग करते हैं।

इसका परिणाम यह होता है कि ऐसा व्यक्ति या तो उसके मन में झूठ और सत्य का परस्पर संग्राम चलता है और उन दोनों सिंहों की दहाड़ से वह परेशान रहता है और या सत्य का बल क्षीण हो जाने से झूठ ही उस पर सवार होकर उसे चित्त किये रहता है। इस प्रकार उसके मन में चैन नहीं होता। जैसे कचड़े के ढेर पर मक्खी-मच्छर; चूहे-चमगादड़ या जाला-झंकार आते हैं, वैसे ही उसके मन में भी निकम्मे विचार और बेकार ख्याल आते रहते हैं। इससे उसका दोहरा चरित्र तो होता है परंतु द्वैत के कारण, अनेक मुखौटों के कारण तथा अन्तर्मन में सत्य-असत्य की मुठभेड़ (Boxing) के कारण वह परेशान ही बना रहता है। अत: ऐसे व्यक्ति के मन में सच्ची शांति भी नहीं हो सकती बल्कि झूठी ही शांति होती है।

हमने पहले भी कहा है कि जहाँ प्रेम और मैत्री का अभाव हो, वहीं व्यक्ति झूठ बोलता है। परंतु प्रेम और मैत्री तो शांति के जनक और जननी हैं। अत: झूठे के मन में शांति की हत्या हो जाती है अथवा मित्रता का घात हो जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सत्य ही उजाला अथवा प्रकाश है। सत्य का मार्ग ही शांति और प्रेम का मार्ग है। सत्य ही मनुष्यात्मा को भय और दुर्गुणों से छुड़ाने वाला होने से कल्याणकारी भी है। झूठ तो मनुष्यात्मा का शत्रु और पाप का प्रेरक है।

नीति-निपुण और युक्तियुक्त

हम पहले कह आए हैं कि कई परिस्थितियाँ अपवाद रूप में (as exceptions) ऐसी भी होती हैं कि उनमें सत्य को कुछ क्षण के लिए मौन धारण करना पड़ता है अथवा नीति से जुड़ना पड़ता है। उन परिस्थितियों में यदि सीधे शब्दों में अथवा तत्काल ही सत्य कह दिया जाए तो वह किसी के लिए कठिनाई या हानि भी ला सकता है। उदाहरण के तौर पर कभी-कभी डॉक्टर के लिए यह ज़रूरी हो जाता है कि वह रोगी की मानसिक दुर्बलता को सामने रखते हुए उसे तुरंत ही यह सत्य न बताए कि वह रोगी शीघ्र ही मृत्यु का शिकार होने वाला है। इसी प्रकार, छोटे बच्चों को कई बार उसके प्रश्नों का उत्तर पूर्ण सत्य के रूप में नहीं दिया जा सकता क्योंकि वह अल्प बुद्धि है। इसी प्रकार, हमें देखना यह होता है कि सत्य का उद्देश्य तो कल्याण करना ही है, अत: यदि इस उद्देश्य की पूर्ति सत्य को तुरंत प्रकाशित करने से नहीं होती तो सत्य को सरलतापूर्वक बाद में बताने के लिए फिलहाल स्थगित भी करना पड़ता है।

अन्यश्च, हमने यह जो कहा है कि कई बार सत्य को मान्यता देने पर भी उसे व्यवहार में नहीं लिया जा सकता, उसका एक उदाहरण पृथ्वी के आकार से सम्बंधित है। वह यह है कि पृथ्वी तो गोल है परंतु जब हम किसी मकान का नक्शा बनाते हैं या उसका निर्माण करते हैं तब हम पृथ्वी को गोल मानकर भवन-निर्माण नहीं करते बल्कि चपटा (Flat) मानकर ही करते हैं। ऐसे ही जीवन में कई ऐसे अवसर आते हैं जब कल्याण को सामने रखते हुए अल्पकाल के लिए सत्य-कथन को स्थगित करना पड़ता है।

इसी प्रकार, कभी ऐसा भी होता है कि सत्य को सीधे शब्दों में बताने से परिस्थिति बिगड़ भी सकती है, झगड़ा बढ़ भी सकता है, अकल्याण होने की दशा भी पैदा हो सकती है। ऐसी हालत में सत्य को गोल-मटोल शब्दों में भी बताना पड़ता है जिससे सत्य कह भी दिया जाए और बात भी न बिगड़े। यह **नीति** है अथवा **युक्ति** है। परंतु इस नीति का प्रयोग किसी के अकल्याण के लिए नहीं बल्कि

कल्याण ही के लिए किया जाता है। और इसका अभिप्राय झूठ बोलना या इसका अर्थ डरना नहीं बल्कि सफ़लतापूर्वक सत्य कहना या कल्याण करना ही होता है।

लेख के कलेवर की सीमा को सामने रखते हुए यहाँ हम एक दो बातें और कहकर समाप्त करेंगे। एक तो यह कि सभी बातों के सत्य को जानना सदा कल्याणकारी नहीं होता। कई बातों को न पूछना, उनकी गहराई में न जाना या उनके रहस्य के पीछे न पड़ना ही बुद्धिमानी है। इसलिए ही कहा गया है कि जहाँ अनभिज्ञ रहना ही अधिक आनंदकर हो, वहाँ जानकारी प्राप्त करना गलती है। (Where ignorance is bliss,it is folly to be wise) किन्हीं बातों के सत्य की जानकारी हानिकर होती है। हम सिगरेट पीकर ही उससे होने वाली हानियों को जानें और पता करें कि सत्य क्या है— यह तरीका गलत है। इसी प्रकार, आणविक अस्त्रो-शस्त्रो का निर्माण कैसे होता है, हम इनके सत्य को खोजने लगें – यह भी गलत है क्योंकि इसकी हमें आवश्यकता ही क्या है?

परंतु कुछ बातें ऐसी हैं कि उनके बारे में सत्य को न जानना बहुत हानिकर है। उदाहरण के तौर पर अपने स्वरूप के विषय में तथा कर्म-अकर्म-विकर्म की गति के बारे में सत्य-ज्ञान प्राप्त करना अत्यंत आवश्यक है। यदि हम इन सत्यों को जाने बिना कोई विकर्म करते हैं तो हम यह तर्क नहीं दे सकते कि हमें इस नियम का पता ही नहीं था। जैसे सरकारी कानूनों की जानकारी के विषय में कहा गया है कि कानून के विषय में अजानता बताना कोई ठीक तर्क नहीं है (Ignorance of law is no excuse), वैसे ही ईश्वरीय मर्यादाओं, नियमों या सत्य को न जानना भी हमारे बचाव का उपाय नहीं है। आत्मा, परमात्मा, जगत्, कर्म-गति, आवागमन इत्यादि के विषय में निश्चयात्मक सत्य को जानने, मानने, बतलाने तथा उसे आचरण में लाने में ही हमारा कल्याण है।



दिल और दिमाग

यह दिल और दिमाग जीवन के दो पहलू हैं अथवा व्यक्तित्व की दो प्रकार की विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। दिल प्राय: भाव पक्ष (Emotions) और दिमाग प्राय: विचार, विवेक, तर्क अथवा निर्णय पक्ष के प्रतीक माने गये हैं।

एक बहुत दीर्घकाल तक लोग यह मानते रहे हैं कि आत्मा का निवास दिल अथवा हृदय में है। उसका कारण शायद यह था कि मनुष्य की भावनाओं का प्रभाव हृदय पर स्पष्ट और जल्दी पड़ता है और हृदयगति के रुकने से शरीर की भी मृत्यु होती मालूम पड़ती है। परन्तु अब शरीर विज्ञान, मनोविज्ञान, स्नायु मण्डल विज्ञान और मस्तिष्क विज्ञान (Brain Sciences) से आध्यात्मवादियों के सामने यह बात स्पष्ट है कि आत्मा का निवास स्थान हृदय नहीं बल्कि मस्तिष्क ही है। भावनाओं (Emotions) की अभिव्यक्ति का केन्द्र स्थान भी मस्तिष्क ही में है। हाँ, उनका प्रभाव हृदय की गति पर पड़ता है और इसलिए हृदय में वह प्रभाव सहज ही अनुभव होता है। परन्तु उसके उद्‌गम और नियंत्रण का स्थान मस्तिष्क ही में है। हृदय की गति रुकने के बाद भी मनुष्य की तुरन्त मृत्यु नहीं होती। जब तक मस्तिष्क के जीव-कोष मृत न हो जाएं तब तक हृदय की गति को फिर से किसी उपाय द्वारा चालू करने से मनुष्य जीवित हो जाता है इसीलिये ही तो डॉक्टरों को वह विधि-विधान भी बताये जाते हैं जिनसे कि हृदय की गति को फिर से चालू किया जा सके। हमें यह मालूम होना चाहिए कि हृदय को गति देनेवाली आत्मा नहीं है बल्कि हृदय की मांसपेशियों (Muscles) में ही एक ऐसा गुण है जिसके कारण वह सिकुड़ते और फिर वापस अपनी पहली वाली अवस्था में आ जाते हैं। डॉक्टरों ने देखा है कि अगर किसी जीवित प्राणी के हृदय की मांसपेशियों का थोड़ा-सा भी अंश काटकर अलग कर दिया जाय तो भी वह कुछ समय तक सिकुड़ता और वापस आता, फिर सिकुड़ता और वापस आता — इस प्रकार की गति करता रहता है जिससे यह प्रमाणित होता है कि हृदय की गति आत्मा के वहाँ निवास करने के कारण नहीं है।

हम ऊपर यह बता आये हैं कि मनुष्य की भावनाओं का केन्द्र-स्थान भी मस्तिष्क ही में है। उसे लिम्बिक सिस्टम (Limbic System) कहते हैं। उस

स्थान को बिजली के द्वारा कृत्रिम रूप से भावावेश में लाया जा सकता है यद्यपि उन भावों की अनुभूति उस मस्तिष्क भाग को न होकर आत्मा ही को होती है।

इस प्रकार हमें यह समझना चाहिए कि विवेक और भाव – दोनों प्रकार की चेतन अभिव्यक्तियों का स्रोत तो आत्मा ही है परन्तु विचार, विवेक, निर्णय, मस्तिष्क द्वारा ही अभिव्यक्त होते हैं परन्तु वे सीधे (Direct) ही हृदय को प्रभावित नहीं करते। विचारों अथवा भावों का प्रभाव हृदय पर (Sympathetic Nervous System) और (Medulla) इत्यादि के द्वारा पड़ता है और हृदय के कुछ रोग इन्हीं के कारण से होते हैं।

हृदय विशेषज्ञों का कहना है कि व्यक्तित्व की दृष्टि से दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं। एक वे जिन्हें 'ए-टाइप' (A-type) कहा जाता है और दूसरे वे जिन्हें 'बी-टाईप'(B-type) की संज्ञा दी जाती है। इन्हें कोई और नाम भी दिया जा सकता है परन्तु मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण विज्ञान (Psycho Analysis), मानसिक चिकित्सा विज्ञान (Psychiatry) और हृदय रोग विज्ञान (Heart Sciences) में इन्हें 'ए-टाइप' (A-type) और 'बी-टाइप' (B-type) कहा गया है। ए-टाइप व्यक्ति जो होते हैं वो स्वभाव ही से काम को जल्दी-जल्दी करना चाहते हैं, औरों से आगे निकल जाना चाहते हैं, बात को पकड़ कर उसका चिन्तन करते रहते हैं। किसी बात की ज्यादा चिन्ता करते हैं अर्थात बात को भुलाने में कम क्षमता वाले होते हैं। ऐसे व्यक्तियों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे किन्हीं विशेष प्रकार के हृदय रोगों की ओर अभिमुख होते हैं। इनके मानसिक तनाव, चिन्ता, क्रोध, उग्रता, जल्दबाजी आदि संस्कार उनकी हृदय की गति पर और उनकी रक्त वाहिकाओं (धमनियाँ;Arteries) पर अधिक दबाव डालते हैं जिससे उनके हृदय स्थान, छाती या कंधों में भी दर्द महसूस होता है और आगे चलकर यह हृदय के लिए घातक सिद्ध होता है।

हृदय रोग विशेषज्ञ इसके लिए अनेक प्रकार की औषधियाँ देते और परहेज़ भी बताते हैं परन्तु इसके लिए वे कोई ऐसी औषधि नहीं बता पाते जिससे मनुष्य का संस्कार परिवर्तन, स्वभाव-परिवर्तन, जीवन-विधि परिवर्तन हो जाय। सहज राजयोग का अभ्यास और उसके अन्तर्गत जो जीवन-दर्शन है, उससे मनुष्य का दृष्टिकोण और उसकी मनोवृत्तियाँ तथा विचार और भावना परिवर्तित हो जाती हैं जिससे

मानसिक तनाव और उससे होनेवाला उच्च रक्त-चाप (High Blood Pressure) शान्त हो जाता है। इस प्रकार राजयोग और उससे सम्बन्धित जीवन-दर्शन मुफ्त ही में दवाई से भी अधिक महत्वपूर्ण लाभ देते हैं और स्वास्थ्यवर्द्धक हैं तथा रोग नाशक क्षमता (Immunity) को भी अच्छी तरह बनाए रखते हैं – उनसे जो अन्य सामाजिक, व्यवहारिक, मानसिक और आध्यात्मिक लाभ होते हैं सो अलग। नीचे हम कुछ उदाहरण दे रहे हैं जिनसे यह थोड़ा स्पष्ट हो जायेगा कि राजयोग के जीवन-दर्शन से तनाव-मुक्ति कैसे होती है?

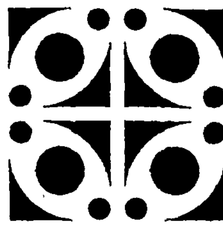
ऊपर हमने 'ए-टाइप' व्यक्तित्व का जो उल्लेख किया है, उसमें हमने बताया है कि ऐसे व्यक्तित्व वाला व्यक्ति बहुत जल्दी-जल्दी कार्य करता है ताकि समय की रेखा (Dead line) के अन्दर ही काम हो जाय और वह दूसरों से मुकाबला भी करता है ताकि उनसे आगे निकल जाय। और कोई भी बात हो, उसको अधिक सोचता है और मन को लगा लेता है या **चिन्ता** करता है। उसे अपने मन में सूक्ष्म रूप से यह भीड़ लगी रहती है कि कहीं ऐसा न हो कि काम रह जाय या मैं पीछे रह जाऊं या उचित सफ़लता न मिले। अत: अब ऐसे व्यक्तित्व को परिवर्तित करने का अर्थ यह है कि उसमें जल्दी के स्थान पर **धीरज**, मुकाबले और परचिंतन की बजाय **आत्मचिंतन**, स्नेह तथा **सहयोग** की भावना, चिन्ता की बजाय **निश्चिन्तता** और भय की बजाय **अभय** नामक गुण लाना। राजयोग-दर्शन ये गुण निम्नविधि से लाता है।

राजयोग-दर्शन कर्म सिद्धान्त पर बल देता है और सद्गुणों को भी महत्व देता है। इसके अनुसार मनुष्य जैसा करता है, उसका वैसा ही फल पाता है। यह दर्शन परमात्मा से योग-युक्त होकर कर्म करने की प्रबल प्रेरणा देता है और परमात्मा के गुप्त अथवा प्रत्यक्ष सहयोग में, दूसरे लोगों के शुभाशीष अथवा शुभ भावना में और अपनी उच्च स्थिति से परिस्थिति को पार करने की नीति में आस्था पैदा करता है। अत: एक राजयोगी जो कि एक साथ कर्मयोगी भी होता है, यह सोचता है कि -- "कर्म का फल अटल है।" इस नियम के अनुसार मुझे नैतिकता और सदाचार-युक्त कर्म करते चले जाना चाहिए। इसमें चिन्ता का तो कोई स्थान ही नहीं है क्योंकि भले का अन्त निस्सन्देह भला ही होगा। फिर परमात्मा भी भलाई का सहयोगी है। उसकी बताई गई आज्ञाओं और विधि के अनुसार यदि मैं कर्म करूँगा

तो विजय निश्चित है, सफ़लता का हार मेरे गले में पड़ा ही हुआ है। साक्षी होकर कर्म करने से परमात्मा मेरा साथी होगा। जल्दी और उतावलेपन की ज़रूरत ही क्या है? निस्सन्देह, आलस्य दुर्गुण है परन्तु चिन्ता से पीड़ित होकर जल्दबाजी भी सतोप्रधान कर्म नहीं है बल्कि रजोप्रधान ही है। काम धीरे नहीं करना परन्तु काम धीरज से तो करना है।

इस प्रकार, राजयोग मार्ग चिन्ता करने के बजाय प्रभु-चिन्तन और आत्म-चिन्तन (Soul-consciousnesss) का मार्ग प्रशस्त करता है। जो मनुष्य परमात्मा को अपना साथी निश्चय करता हो, उसे भय और चिन्ता कहाँ? जिसका सभी से स्नेह हो, वह सबकी शुभकामनाओं को साथ ले निश्चिन्त, निर्भय और निश्चय-बुद्धि तो हो ही जाता है।

पुनश्च, यदि पिछले किन्हीं कर्मों के फलस्वरूप कोई कर्म-भोग सामने आ भी जाता है तो उसे भी वह उपराम चित्त होकर और ईश्वर-विश्वासी बनकर "सूली से कांटा" तो कर ही लेता है। वह उसे इस सृष्टि रूपी नाटक की अटल-भावी मानकर अविचल रीति से सामना करता है। हर हालत में खुश रहते हुए वह हर परिस्थिति को स्वभाव और स्व-स्थिति में रह पार कर लेता है। प्रभु से मुहब्बत होने के कारण वह व्यर्थ की मेहनत से बच जाता है। "सच्चे दिल पर साहिब राज़ी है" और मेरा दिल ईश्वर के पास है – "ऐसी भावना से चलते हुए वह स्वयं को बहुत हल्का अनुभव करता है। इससे उसका दिमाग, विवेक, निर्णय और विचार भी ठीक रहता है और दिल-भाव भी ठीक बना रहता है। दिल और दिमाग का, प्रेम (Love) और नियम Law) का, तर्क (Reason) और त्याग (Renunciation) का सन्तुलन होने से वह व्यस्त (Busy) और सहज-सन्तुष्ट (Easy) रहता है और जीवन को महान् बना लेता है।"



एक धारणा के तीन पहलू

काव्यमयी भाषा में एक नीति-वचन है – 'निंदा हमारी जो करे मित्र हमारा सो'। इसमें एक आध्यात्मिक पुरुषार्थी को यह बताया गया है कि किसी निन्दक के प्रति उसका क्या दृष्टिकोण होना चाहिए। इस उक्ति की शब्द-रचना ही ऐसी है कि इसके केवल इसी पहलू पर ध्यान जाता है कि जो हमारी निन्दा करता है, हम उसे अपना मित्र समझें; इससे निन्दक सम्बन्धी अन्य दो पहलुओं पर प्रायः ध्यान नहीं जाता यद्यपि उन दोनों पहलुओं पर भी ध्यान रखना पुरुषार्थ की सफलता के लिए ज़रूरी है।

विचार करने पर आप मानेंगे कि निंदा के कर्म का सम्बन्ध कम-से-कम तीन व्यक्तियों से तो सदा हुआ ही करता है – एक वह जिसकी निंदा की जा रही हो, दूसरे वह जो निंदा कर रहा हो, तीसरे वह जो निंदा सुन रहा हो। अतः परिवार नियोजन (Family Planning) वालों के लाल तिकोने (Red Tringle) की तरह निंदा के कर्म की भी एक तिकोन बन जाती है यद्यपि यह तिकोन उससे उल्टी तिकोन होती है। अतः इस विषय के तीनों ही पहलुओं को समझना ज़रूरी है।

प्रथम पहलू

अब जहाँ तक निंदित व्यक्ति का सम्बन्ध है उसके लिए तो यह श्रेयस्कर है कि वह निंदक को अपना मित्र ही माने क्योंकि ऐसा दृष्टिकोण अपनाने से उसके अपने मन में उद्वेग, घृणा, वैर, शत्रुता, प्रतिशोध इत्यादि दुर्भावनायें जागृत नहीं होंगी और इससे उसका मन रूपी मानसरोवर भी शीतल और शान्त रहेगा और वह उसमें से ज्ञान और गुण रूपी मोती चुगने वाला हंस ही बना रहेगा। इसके अतिरिक्त बात यह भी है कि हम **'मित्र'** उसे ही तो कहते हैं जो हमारा हित करता हो और हमें सहायता देता हो; अब चूँकि निंदक भी पुरुषार्थी का ध्यान उसके दोषों की ओर खींचता है, इसलिए वह भी बिन-मांगे सहायता देने के कारण एक प्रकार से उसका 'मित्र' ही तो है। यदि निंदित व्यक्ति कमियों को भरने और अपनी कमज़ोरियों को मिटाने में लग जाये और इसके लिए अधिकाधिक सदा-सम्पूर्ण परमपिता परमात्मा में मन समाहित करने रूप योगाभ्यास में जुट जाए तो इससे उसका भला ही तो होगा। अतः निंदक के शब्द उसके लिए सचेतक ही तो सिद्ध होंगे।

फिर यदि नीति की दृष्टि से देखा जाए तो भी निंदक को 'मित्र' मानना ही ठीक

है क्योंकि उसे शत्रु मानकर उसका सामना करने से तो वह और ही ज़्यादा भड़केगा और निंदा करने लगेगा तथा अपनी बात को सत्य सिद्ध करने का भरसक यत्न करेगा। ऐसी प्रतिक्रिया से तो पुरुषार्थी का समय और भी ज्यादा व्यर्थ जाएगा और वातावरण भी बुरे प्रकम्पनों (Vibrations) के कारण बिगड़ेगा। अत: निन्दक द्वारा तिरसकारात्मक शब्दों को सहन कर लेना ही सब प्रकार से हितकर है क्योंकि इससे सहनशीलता की परीक्षा पार करके हमारी दिव्यता का उत्कर्ष ही होगा और यदि हमारे पिछले किन्हीं कर्मों के कारण ऐसा ही हिसाब रहा होगा तो वह भी चुकता ही होगा और सम्भव है कि समयान्तर में हमें श्रोताओं की और स्वयं निन्दक की भी सहानुभूति ही प्राप्त होगी। इस प्रकार आज जो निंदनीय है, कल वह अपने सर्वोत्तम पुरुषार्थ से वन्दनीय बन जायेगा।

दूसरा पहलू

ऊपर हमने प्रथम पहलू के बारे में जो कुछ कहा है, उस पर तो तीव्र पुरुषार्थियों का प्राय: ध्यान रहता ही है परन्तु जहाँ तक निन्दक का सम्बन्ध है उसके विषय में भी हमें थोड़ा सोचना चाहिए। निन्दापूर्ण वचन कहकर वह तो विकर्म ही का भागी बनता है। जैसे कौआ गन्दगी के ढेर पर बैठकर किचड़े को बिखेरता और चुराता है वैसा ही कर्म तो निन्दक भी करता है। अत: यदि हम उसे मित्र मानकर उससे अपनी निंदा सुनते रहें तो भले ही इससे हमें अपनी कमज़ोरियों का बोध तो हो जायेगा परन्तु निंदक का समय तो पाप-कर्म में ही जायेगा। अत: यदि वह एक अर्थ में, परोक्ष रूप से, हमारा मित्र है तो दूसरे दृष्टिकोण से वह स्वयं तो अपना शत्रु ही है। अत: हमें यह चाहिए कि हम उसे इस कर्म में प्रोत्साहन देने के निमित्त भी न बनें, वरना वह निंदक के साथ-साथ ढीठ और निर्लज्ज भी बन जाएगा और हर आए दिन हममें या किसी अन्य में कोई-न-कोई नुक्स निकालते रहने की आदत ही बना लेगा जिससे उस पर पापों का बोझ और भी अधिक होता जाएगा। इसलिए हमें पहली कोशिश तो यही करनी चाहिए कि हम लोक-संग्रह को सामने रख कर कर्म करें और अपने जीवन को सम्पूर्णता की ओर बढ़ाने का यत्न करें, परन्तु फिर भी यदि निंदा करने वाला अपनी आदत से मजबूर होकर अवगुण-दर्शन में ही लगा रहता है तो हमें उसकी बातों में अपना अधिक समय भी व्यर्थ नहीं गंवाना चाहिए। हमें स्वयं का सुधार अवश्य करना चाहिए और मान-अपमान में समान तथा सहनशील भी होना चाहिए परन्तु निंदा को दास्तान अथवा पुराण बनाने में भी

सहयोगी नहीं बनना चाहिए।

तीसरा पहलू

अब जो व्यक्ति निंदा सुनता है, उसे वास्तव में अपने ऊपर विशेष ध्यान देना चाहिए। आध्यात्मिक पुरुषार्थी के लिए तो यह शिक्षा है कि बुरा मत सुनो, बुरा मत बोलो और बुरा मत देखो। अत: निष्प्रयोजन ही दूसरे की बुराई सुनने में अपना समय देना स्वयं को एक प्रकार से कचड़े का डिब्बा (Dustbin) अथवा रद्दी की टोकरी (Waste Paper Basket) बनाना है। दूसरे की निंदा सुनते-सुनते श्रोता का, आज नहीं तो कल, उसके बारे में वैसा दृष्टिकोण बन जाना भी सम्भव है और उसके प्रति स्नेह, सम्मान और सैहार्द की दृष्टि न रहने से अपनी वृत्ति का भी दूषित होना सम्भव है, और यह सब तो निश्चय ही पतन की ओर ले जाने वाली बातें हैं।

हमें मालूम होना चाहिए कि निंदा एक प्रकार का ज़हर है और हरेक व्यक्ति यह हलाहल ज़हर नहीं पी सकता। निंदा एक ऐसी कैंची है जो दूसरे से हमारे स्नेह और सम्मान के सम्बन्ध का विच्छेद करती है। निंदा सुनने की आदत तो मनुष्य को बाह्यमुख बनाती है और परमात्म-चिन्तन की बजाय दोष-चिंतन या आसुरीय-चिंतन में लगाती है। अन्य की निंदा सुनने में दिलचस्पी लेना गोया दोष-दर्शन और अवगुण-ग्रहण करने की आदत को धारण करना है। इस आदत से तो पतन निश्चित ही है। पुनश्च, दूसरों की निंदा सुनना इस बात को भी सिद्ध करता है कि निंदित व्यक्ति के प्रति हमारा स्नेह नहीं है अथवा उसमें हमारे निश्चय की कमी है अथवा उससे हमें ईर्ष्या है। अत: निंदा-श्रवण मे समय देना गोया इन सब बुराइयों को भी अपने में पनपाना है।

फिर, हमें यह भी सोचना चाहिए कि निंदक द्वारा की गई निंदा यदि मिथ्या है तो उसकी हाँ-में-हाँ मिलाकर अथवा मौन रहते हुए उसे सुनकर हम उसे भी प्रोत्साहन दे रहे हैं; इससे आगे के लिए फिर हमारे पास आकर दूसरों की निंदा करने का हम उसका स्थान बना रहे हैं। अत: कोयलों की इस दलाली में हम अपने भी हाथ तो काले कर ही रहे हैं और शायद अपने कपड़े भी काले कर रहे हैं क्योंकि अन्य सभी भी हमें देखते हैं कि हम इसी धंधे में लगे रहते हैं अथवा निंदा की चौपाल हमारे यहाँ है।

इसके अतिरिक्त, यह भी सोचने की बात है कि निंदा करने वाले का प्रयोजन क्या है? अवश्य ही उसका या तो कोई स्वार्थ अटका होगा या उसके मन में कोई

ईर्ष्या होगी या उसकी अपनी आदत ही ऐसी होगी वरना दूसरे को बदनाम करने की उसे आवश्यकता ही क्या है? तब ऐसे व्यक्ति के इस निकृष्ट प्रयोजन की सिद्धि के लिए काले कारनामों में हम क्यों उसके भागीदार बनें? अपराधी के साथ मिल जाना तो स्वयं भी अपराधी बनना है। लौकिक रूप में शान्ति भंग (Breach of Peace) करने वाले अपराधी ठहराए जाते हैं। अत: इस प्रकार से वातावरण में अशान्ति फैलाना अथवा वातावरण को दूषित करना ईश्वरीय सरकार के नियमानुसार भी एक अपराध ही तो है।

इन सबसे भी बड़ी बात तो यह है कि निंदा सुनते रहने वाले का आज नहीं तो कल पतन अवश्य होता है। उसकी अवस्था में ज़रूर अन्तर पड़ता है। मान लीजिए कि एक निंदक किसी प्रमुख पुरुषार्थी के बारे में कहता है कि वह क्रोधी है अथवा अन्य विकार से ग्रसित है। इस बात को सुनते-सुनते श्रोता के मन में आज नहीं तो कल यह भाव पैदा होगा कि 'यदि प्रमुख लोग भी ऐसी धारणा वाले हैं तो फिर यदि हमने भी कोई भूल कर ली तो क्या फर्क पड़ता है।' ऐसा सोचकर उसका अपना पुरुषार्थ भी ढीला हो जाएगा। इस प्रकार निंदा उसे गिराने की निमित्त बनेगी।

इसका उपाय

अतः अच्छा यह है कि यदि कोई हमसे किसी की निंदा करता भी है तो हम उसे कहें कि "हमसे यह कहने का आपका प्रयोजन क्या है? हम तो स्वयं भी अभी पुरुषार्थी हैं। इस प्रकार तो आप हमारी भी निंदा करेंगे। ऐसा तो संसार में कोई भी मनुष्य नहीं जो हर दृष्टिकोण से सम्पूर्ण हो। अत: आप इस दलदल में फंसते ही क्यों हो? उस व्यक्ति की निंदा करके आपको क्या मिलेगा? यदि आप उसका भला चाहते हैं तो आपको यह बात उन्हीं लोगों से कहनी चाहिए जो उसे शिक्षा देकर अथवा समझाकर ठीक कर सकें और यदि आप उसका भला ही नहीं चाहते बल्कि केवल उसे बदनाम ही करना चाहते हैं तब तो स्वयं भी आप पुरुषार्थ और मर्यादा के विरूद्ध मार्ग अपना रहे हैं जिस पर हम तो जाना नहीं चाहते। इससे, उससे, सबसे इस प्रकार की चर्चा करने से तो यह सिद्ध होता है कि आप उस व्यक्ति को सबकी दृष्टि में गिराना चाहते हैं और यदि वह बुरा न भी हो तो उसे बदनाम कर-कर के बुराई के मार्ग पर धकेलना चाहते हैं। ऐसे कार्य में हमें सम्मिलित करने की तो आशा ही व्यर्थ है।" इस प्रकार न्याय-संगत बात कह कर, औचित्य और मर्यादा जतला कर, पुरुषार्थ का सही मार्गदर्शन कर हमें निंदक का भी मनोपरिवर्तन करना

चाहिए। उसे [illegible]

हमारा एक और कर्तव्य

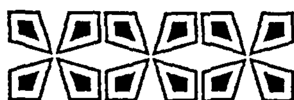
हमें यह [illegible] स्थान-स्थान पर [illegible] हुआ है क्योंकि [illegible] और योग भी [illegible] ही निंदक के [illegible] अथवा दुःख [illegible] बात आती है। [illegible] महाभारत से [illegible] भी निंदा [illegible] में रतयुन [illegible] की बात को [illegible] तो धन्या हो [illegible]

आप [illegible] मित्र' हो [illegible] किसी [illegible] प्रयत्न नहीं [illegible] है कि [illegible] माताओं के [illegible] पर अत्याचार [illegible] संस्था [illegible] रहा अतः [illegible] हाथ पर हाथ [illegible] और नैतिक [illegible] और [illegible] ईश्वरीय [illegible] को प्रभावशाली [illegible] सामना [illegible]

सेवा के साधन से हमें रचानात्मक तरीके से 'निंदा' नामक इस प्रदूषण के लिए उपाय भी करना ही पड़ता है। जैसे पौधा लगाने वाले माली को नाशकारी पक्षियों, कीटों तथा झाड़-झांकड़ (weeds) से उसकी रक्षा भी करनी होती है, वैसी ही रक्षा किसी सामाजिक किंवा धार्मिक संस्था रूप पौधे के लिए भी जरूरी होती है। 'निस्सन्देह' निंदा करने वाले व्यक्तियों के प्रति हमें शान्त भाव एवं भ्रातृत्व को नहीं छोड़ना परन्तु उनके सुधार एवं उनके मिथ्या प्रचार को बन्द करने के लिए भी योग-समस्त विधियों को अपनाना होता है। हमें गुण-ग्राहक बन कर हरेक से गुण तो लेना ही है परन्तु दूसरों के लिए भी गुण लेने का रास्ता साफ़ करना होता है। संसार में माया जो मानवी माध्यम लेकर ईश्वरीय संगठन का विरोध करती है उसके आक्रमण से स्वयं भी बचकर रहना होता है तथा अन्य प्रभु-प्रेमियों को भी सहयोग देना होता है। इसके लिए कई बार समाज द्वारा जुटाये गए वैधानिक उपायों का भी प्रयोग करना होता है ताकि संसार में अपराध न बढ़े और आसुरी दल का सामना करने के लिए दृढ़ता का प्रयोग करना होता है।

निंदा और मूल्यांकन में अन्तर

हमें यह भी समझना चाहिए कि निंदा और मूल्यांकन में बहुत अन्तर है। मूल्यांकन करने वाला व्यक्ति गुण-दोष सामने लाकर स्वयं भी गुण लेना चाहता है और दूसरे की उन्नति की शुभ कामना करतें हुए उसके कार्य के दोष उसके सामने रखता है। वह विध्वंसात्मक नीति-रीति को नहीं अपनाता और घृणा या उत्तेजना को बढ़ावा नहीं देता। परन्तु जिसका लक्ष्य निंदा हो, उसका सारा कार्य-कलाप ही इससे उलट होता है। हमें ऐसी नफरत फैलाने वाले, संहार तत्वों का अपने आत्म-बल से तथा सभी प्रकार की सात्विकता से और विधि-विधान से भी सामना करना होता है ताकि सभी सही अर्थ में ऐसे मित्र बन जायें जैसे सतयुग में होते हैं, विकर्म करके माया के वशीभूत होकर ही हमारे अनेक मित्र न हों। बल्कि भ्रातृत्व से सहयोग एवं सुझाव देने वाले मित्र हों। इसके लिए सभी को सद्बुद्धि मिले, हमें ऐसी शुभ कामना भी करनी चाहिए और उन्हें ईश्वरीय बुद्धि प्राप्त कराने का यथा-सम्भव प्रयत्न भी करना चाहिए और उसके बाद उनके अपने ही कर्मों के अनुरूप उनके भाग्य पर छोड़ देना चाहिए।



परन्तु हमारी बात तो यहाँ से शुरू हुई थी कि ज्ञान को मंथन से उपमा क्यों दी गई है और ज्ञान मंथन कैसे किया जाए? इसी भाव को सामने रखकर ही हमने मथने के सभी उपकरणों का वर्णन किया है। इसी के समानान्तर ही हमें ज्ञान-मंथन के लिए भी उपकरण चाहिए। बुद्धि रूपी मटका तो सभी के पास है ही। 'गम्भीरता' ही इसका ढकना है। जब तक मनुष्य गम्भीर न हो तब तक उसमें ऊपरी-ऊपरी ज्ञान छलकता है और उसमें मथने की क्रिया सहज रूप से नहीं हो सकती। ज्ञान-मंथन की प्रकिया में 'निश्चय' ही इस मथनी का डंडा अथवा मेरु-दण्ड है। निश्चय ही न हो तो मंथन की बात ही नहीं। इस दण्ड के नीचे का भाग, जो ही मंथन की क्रिया में विशेष सक्रिय होता है, वह तीन या चार दन्दानों से बना होता है, उसी के कारण ही तो उस डण्डे को 'मथनी' कहते हैं और सारी क्रिया का नाम भी मथन है। ज्ञान-मंथन के पुरुषार्थ में निम्नलिखित चार प्रश्न इस सूक्ष्म मथनी के दन्दाने हैं –

1. ज्ञान के इस सिद्धान्त अथवा इस मान्यता के क्या गुण हैं अर्थात् यह कैसे युक्ति-युक्त है?
2. यदि सिद्धान्त को ऐसा न मानकर और किसी तरह भी माना जाए तो उसमें क्या त्रुटी होगी अथवा वह कैसे अयुक्त होगा?
3. इस सिद्धान्त व मान्यता से हमें दिव्य गुणों की धारणा, योगाभ्यास और ईश्वरीय सेवा में क्या सहायता मिलेगी और क्या स्पष्टीकरण प्राप्त होता है?
4. इस मान्यता अथवा सिद्धान्त से विश्व में क्या परिवर्तन आ सकता है, यह कैसे अनेक समस्याओं को हल करता है, अनेक उलझनों को सुलझाता है, सर्व-कल्याणकारी, अत्यन्त चमत्कारी, क्रान्तिकारी अथवा अनमोल है?

ज्ञान का विस्तार और सार ही दो ऐसे धागे हैं जिनके सहयोग से मथनी की रस्सी बनी है। मथने की प्रक्रिया में रस्सी का एक सिरा अपनी ओर खींचा जाता है तो दूसरा सिरा हमारे हाथ को ही खींचता हुआ ले जाता है। अत: विस्तार और सार का प्रयोग करते हुए यह सोचना ज़रूरी होता है कि अब हमें क्या करना है और आगे चलकर क्या करना है अथवा इसे स्वयं पर कैसे लागू करना है और दूर-दूर तक दूसरों को इससे कैसे लाभान्वित करना है।

हमारे ज्ञान-मंथन की यह प्रक्रिया हमारे लिए संगीतात्मक होनी चाहिए अर्थात् हमें इसके शान्त होने में नुपूर की झन्कार, पायल की झन्कार अथवा ताल-जैसा आनन्द आना चाहिए। यदि ऐसा आनन्द नहीं आता तो यह क्रिया मनोरंजन की बजाय बोझिल और श्रमात्मक हो जाती है। हमें श्रीकृष्ण अथवा श्रीनारायण की बाल्यावस्था अर्थात सतोप्रधान अवस्था की प्राप्ति को सामने देखते हुए, इस जगत

की मैया के रूप में समस्त विश्व रूपी कुटुम्ब को इस नवनीत से लाभान्वित करने के लिए ही ज्ञान-मंथन करना चाहिए, तभी ज्ञान-मंथन का कार्य श्रेष्ठतापूर्वक होगा।

ज्ञान-मंथन की प्रक्रिया के बीच में हमें शान्ति और आनन्द रूपी शीतल जल द्वारा मंथन से प्राप्त हुए कणों को एकत्रित करते जाना चाहिए। यदि मंथन की क्रिया के बीच में 'आत्मिक शीतलता व गद्‌गद् भाव' का प्रयोग नहीं किया जाएगा तो ज्ञान के कण अथवा रत्न बिखर जायेंगे और मथने की क्रिया लम्बी और कम फलदायक सिद्ध होगी।

मक्खन को नवनीत, सार अथवा 'स्नेह' (स्निग्धता) भी कहा जाता है। अत: नव जीवन-दर्शन अथवा नव-नीती प्राप्ति के लिए अथवा ईश्वरीय स्नेह की पुष्टि के लिए यह ज्ञान-मंथन एक बहुत ही महत्वपूर्ण क्रिया है — ऐसा मानकर ही इस क्रिया को करना चाहिए।

अब हम एक-आध उदाहरण देकर स्पष्ट करेंगे कि मथनी के चार दन्दानों की तरह कैसे चार प्रश्नों का प्रयोग करके मंथन करना चाहिए।

शिव बाबा ने हमें बताया है कि — "मैं सर्वव्यापक नहीं हूँ, न ही हरेक आत्मा मेरा रूप है, बल्कि मैं ज्योतिस्वरूप, सूक्ष्मातिसूक्ष्म चेतन बिन्दु हूँ व परमधाम का वासी हूँ जो कि धर्म ग्लानि के समय अवतरित होकर सुख-शान्तिमय सतयुगी सृष्टि की पुन: स्थापना करता हूँ।"

अब हम इस पर मंथन करने के लिए पहला प्रश्न लेते हैं। इससे हमारा ज्ञान-मंथन इस प्रकार होगा — ``(i) यह बात बहुत ही युक्ति-युक्त है। यदि सभी आत्मायें परमात्मा का रूप होतीं तो चोर और कोतवाल में, कातिल और न्यायाधीश में, पापात्मा और महात्मा में अन्तर ही न होता। (ii) एक ओर आत्मा को परमात्मा का रूप मानना, दूसरी ओर परमात्मा को अलग मान उसे उपास्यदेव मानना अर्थात् उसकी भक्ति, पूजा तथा उससे योग-युक्त होने का अभ्यास करना, यह तो परस्पर विरोधी बातें हैं। (iii) परमात्मा को परमधाम का वासी मानने से ही तो उसे हम मात-पिता भी कह सकते हैं। (iv) यदि परमात्मा सर्वव्यापक हो तब तो उसके अवतरण का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु गीता में कहा है कि मैं धर्म-ग्लानि के समय अवतरित होता हूँ। अत: यह बात बिल्कुल युक्ति-युक्त और ठीक मालूम होती है। अन्य लोग एक ओर तो परमात्मा को यत्र-तत्र सर्वत्र माने बैठे हैं और दूसरी ओर उसके अवतरण के लिए आशा करते हैं। आश्चर्य है कि उन्हें यह विरोध भी महसूस नहीं होता। (v) यदि सृष्टि में परमात्मा सर्वत्र होते तो सर्वत्र ही शान्ति, आनन्द आदि ईश्वरीय गुण लक्षित होते। परन्तु इस संसार में तो दु:ख, अशान्ति, अन्याय और

अन्धकार है। अत: यहाँ तो परमात्मा है ही नहीं। यह ठीक ही कहा है कि मैं परमधाम का वासी हूँ, क्योंकि सभी लोग उसे याद करते समय ऊपर की ओर देखते हैं और कहते भी हैं कि ऊपर वाला जाने। वे दु:ख के समय पुकारते भी हैं कि हे प्रभु, आकाश सिंहासन छोड़कर इस पृथ्वी पर आ जाओ। सर्व शास्त्र शिरोमणि श्रीमद् भगवद्गीता में कहा भी गया है कि 'मैं सूर्य और तारागण के पार परमधाम का वासी हूँ।' अत: सब प्रकार से मुझे यह बात सौ प्रतिशत से भी अधिक सत्य मालूम होती है और स्वयं परमात्मा द्वारा ही कथित ज्ञात होती है। क्योंकि पहले भी भगवान् ने ही गीता में कहा है और कहने वाला सर्वव्यापी हो नहीं सकता।"

अब इसके बाद गद्‌गद् भाव अर्थात् यह विचार कि शिव बाबा ने यह तो बड़ी कमाल की बात बताई है।

1. "बाबा, धन्यवाद है आपका कि आपने मुझ अकिंचन को ऐसा रत्न देकर मालामाल कर दिया। मैं तो कई धार्मिक स्थानों पर भटकता रहा हूँ और कई पोथियाँ पुस्तकें पढ़ता रहा हूँ पर कहीं भी तो ऐसी स्पष्ट और युक्ति-युक्त बात नहीं मिली। आपने कितना अनमोल खज़ाना देकर निहाल कर दिया है। अपना परिचय आप ही देकर मानो मुझे अपना लिया है....." इस गद्‌गद् भाव रूपी शीतल जल से उपरोक्त ज्ञान-बिन्दुओं पर पुन: ध्यान देकर उन्हें बुद्धि में एकत्रित कर लेना चाहिए।

2. यदि हम परमात्मा को परमधाम का वासी न मानकर सब जगह मानें तब तो यह अयुक्त हो जाएगा, क्योंकि — (i) एक ओर यह मानना कि कुत्ता, बिल्ली, सर्प, मगरमच्छ, छिपकली, बाघ, गिद्ध, सूअर इत्यादि निकृष्ट योनियाँ हैं और दूसरी ओर प्रात: स्मरणीय, महात्माओं से भी महान्, शहंशाहों के भी शहंशाह, त्रिलोकीनाथ परमात्मा को इन अथवा पतंग (कीट) और कूकर शूकर योनियों में मानना तो विवेकभ्रष्टता ही का सूचक है। (ii) एक ओर परमात्मा को परमपिता कहना और परम सद्‌गुरु मानना तथा उसे परम पूज्य जानना और, दूसरी ओर उसे इन योनियों में मानना गोया अपने माननीय एवं परमप्रिय पिता का अपमान करना ही तो है। अत: अयुक्त है। ऐसा तो कभी सोचना भी नहीं चाहिए, कहने की तो बात ही दूर रही। ऐसा तो सोचना ही पापमय है। (iii) सब देहों में तो आत्मा है; 'परमात्मा' शब्द तो सर्वश्रेष्ठ आत्मा का सूचक है जिसके एक क्षण के दर्शन मात्र के लिए ही मनुष्य तरसते हैं; अत: उसे मिट्टी के कण-कण में मानना और दूसरी ओर उसे 'पार ब्रह्म परमेश्वर तुम सबके स्वामी' अथवा 'ऊंचे से ऊंचा भगवान्' अथवा 'अल्लाह हु अकबर' (अकबर महान्) अथवा 'हाइएस्ट ऑफ द हाई और होलीएस्ट ऑफ द होली' (Highest of the High and Holiest of the

Holy) मानना गोया दो परस्पर विपरीत सिद्धान्तों को मानना है। (iv) जैसे आत्मा शरीर में सर्व व्यापक नहीं है, वैसे परमात्मा भी इस विश्व में सर्वव्यापी नहीं है। और जैसे कमरे के कोने में बैठा हुआ व्यक्ति, सारे कमरे में व्यापक न होने पर भी उसके सब स्थानों को देख सकता है वैसे ही परमात्मा भी परमधाम का वासी होते हुए त्रिकालज्ञ होने के कारण सब-कुछ जानता है। (v) परमात्मा को सर्व व्यापक मानना त्रुटिपूर्ण है क्योंकि जैसे दूध में मिठास न होने पर चीनी को मिला हुआ मानना, कमरे में अन्धकार होने पर उसे प्रकाश से भरा हुआ मानना अथवा गर्मी वाले स्थान पर शीतलता को मानना अज्ञानता है वैसे ही आज इस संसार में प्रेम का अभाव, अज्ञानान्धकार, अन्यायतिमिर और अशान्ति एवं विकारों का ताप होने पर भी संसार में प्रेम के सागर, प्रकाश स्वरूप, दयानिधि, शान्ति के सागर परमात्मा को सर्वव्यापक मानना भी अज्ञान और अयुक्त है।

इस प्रकार मंथन करते हुए मन में गद्गद् भाव प्रगट होना चाहिए कि — "अच्छा हुआ कि अब मैं शिव बाबा को कण-कण में और निकृष्ट योनियों में मानने रूप पाप से बच जाऊंगा। यह कैसी अज़ीब बात है कि मैं पहले आत्मा को परमात्मा मानते हुए परमात्मा से विमुख था और स्वयं को आस्तिक समझते हुए भी वास्तव में नास्तिक था। शिव बाबा, आपको कोटि-कोटि धन्यवाद कि आपने मुझे 'विपरीत-बुद्धि' से 'प्रीत-बुद्धि' बनाया, मुझ सोये हुए को जगाया, ज्ञान चक्षु प्रदान किया, ज्ञान अंजन दिया, नैनहीन को राह दिखाई। न मैं अपने (आत्मिक) घर को जानता था न प्रियतम परमात्मा को पहचानता था और मिथ्या ज्ञान-अभिमानी और देहाभिमानी बना फिरता था और अर्थ समझे बिना गाया करता था कि 'जिधर देखता हूँ, उधर तू ही तू है', अथवा भगवान हाज़िर-नाज़िर है, परन्तु यह समझता ही नहीं था कि यदि मैं जो-कुछ मान रहा हूँ, यही सत्य है तो फिर मैं भूल-भुलैया में फंसा हुआ क्यों हूँ? सचमुच, आपने मुझे समझ दी, अज्ञान अन्धेरे का नाश किया, अब मैं सोझरे में आ गया हूँ। आ...हा... मैं पद्मापद्म भाग्यशाली हूँ कि मुझे शिव बाबा की सही पहचान मिल गई है जिसे भले ही ये आंखें नहीं देख सकतीं, परन्तु बुद्धि पहचानती है। अब पुरानी प्रीत जग गई है और मन का मीत मिल गया.....।"

3. परमात्मा को परमधाम का वासी मानने से ही उससे योग भी लगाया जा सकता है क्योंकि योग के लिए मन की एकाग्रता आवश्यक है और मन को अन्य सब ओर से हटाकर एक ज्योतिस्वरूप परमात्मा पर टिकाने का भाव ही है — उसे ज्योतिर्बिन्दु मानना। परमात्मा को सर्वव्यापी मानना तो सभी को भगवान् का रूप मानना है। सब ओर परमात्मा है तब तो मन को कहीं टिकाने की आवश्यकता —

नहीं रहती। (ii) यदि सब भगवान् के रूप हों तब तो कुसंग और सत्संग में अन्तर ही क्या रहा और तब सभी के गुण भगवान् के गुण हो जाने से आसुरी गुणों और दिव्य गुणों में अन्तर ही नहीं रह जाता और तब दिव्य गुणों की चर्चा ही व्यर्थ हो जाती है। (iii) परमात्मा का मनन-चिन्तन गोया उसके गुणों ही का तो मनन-चिन्तन है और यदि वह अलग नहीं हैं और विशेष गुणों वाला नहीं है तब तो उसकी चर्चा और उससे प्राप्ति की कामना निरर्थक हो जाती है और 'परमात्मा' (परम+आत्मा) शब्द का कोई अर्थ ही नहीं ठहरता। अत: निश्चित है कि परमात्मा को विशेष नाम, रूप, धाम, गुण, कर्त्तव्य, सम्बन्ध इत्यादि वाला मानने से ही मनुष्य उससे योग-युक्त होने की कामना करता है और योग लगाकर शान्ति, शक्ति, आनन्द इत्यादि से भरपूर हो जाता है और उसके विकर्म दग्ध होते हैं तथा उसमें दिव्य गुणों का उत्कर्ष होता है।

अब इस मंथन से इस प्रकार भाव-विभोर, प्रसन्नचित्त, मुदित अथवा गद्‌गद् हो जाना चाहिए – "मैं खुशनसीब हूँ कि मुझे योग के लिए लक्ष्य मिल गया, गुणानुवाद के लिए सर्वश्रेष्ठ गुणों वाले प्रभु का परिचय हो गया और आत्मा तथा परमात्मा का भेद मालूम हो जाने से किसके प्रति नष्टोमोहा और किसके प्रति स्मृर्तिलब्धा होना है, किसके स्वरूप में 'मन्मनाभव' की आज्ञा के अनुरूप मन को टिकाना है – ये सभी रहस्य ज्ञात हो गये। अब मेरी बुद्धि का ताला खुल गया है, योग की चाबी मेरे हाथ लग गई है और मन को कहाँ एकाग्र करना है, मेरी यह उलझी हुई समस्या आशातीत रीति से सुलझ गई है। जीवन में ही हल्कापन आ गया है और अब योग बहुत सहज, सरल, स्पष्ट मालूम होता है। शिव बाबा, आपने मुझे, भोगी से योगी बनने का वरदान दिया है और मानव से देवता बनने के लक्षण सुझाए हैं उसके लिए मैं अवर्णनीय रूप से कृतज्ञ हूँ। यह मेरे जीवन की स्वर्णिम घड़ी है कि अब मुझे आपका सहारा, साथ और स्नेह का अतुलनीय सौभाग्य मिला है ......"। इसी प्रकार चौथे प्रश्न को लेकर भी ज्ञान-मंथन करना चाहिए और कृत्य-कृत्य अनुभव करना चाहिए।



स्मृति, पुन: स्मृति और विस्मृति

ध्यान से देखा जाए तो यह संसार स्मृति और विस्मृति का एक अद्‌भुत खेल है। हरेक मनुष्यात्मा में ये दोनों प्रकार की योग्यताएं समाहित हैं। ये आत्मा से अभिन्न हैं। कोई भी क्रियाशील, कार्यरत अथवा चेतन प्राणी इस कर्म क्षेत्र पर किसी क्षण इनसे रहित नहीं होता बल्कि यदि यह कहा जाए कि मनुष्य के शिक्षण-प्रशिक्षण, उसकी धारणा-अवधारणा, उसके ज्ञान-विज्ञान और कर्म-विकर्म का ये मूल हैं तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। क्या कोई कर्म ऐसा है जिसे करते समय मनुष्य स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से या प्रगट व गुप्त रूप से किसी-न-किसी बात की, उद्देश्य की, घटना की अथवा व्यक्ति की स्मृति में न हो? माँ एक बजे खाना बनाते समय इस स्मृति में होती है कि बच्चा स्कूल से लौटने वाला होगा। मुसाफिर 18 नं. प्लेटफार्म पर अमुक समय पर इस स्मृति को लेकर ही तो पहुँचता है कि उस समय अहमदाबाद जो गाड़ी जाती है, उसमें उसे अमुक स्टेशन तक जाना है। ऐसे ही प्रात: उठने के समय से लेकर रात्रि के सोने के समय तक स्मृति की सुई एक ऑटोमेटिक घड़ी की तरह क्षण-क्षण चलती ही रहती है। यहाँ तक कि निद्रा रूपी विस्मृति की स्थिति में जाने की भी उसे स्मृति रहती है और निद्रा में भी अनेक बार स्वप्न रूप में उसके मन में कई प्रकार की स्मृतियाँ उभर आती हैं।

स्मृति के महत्व को समझते हुए कार्यान्वित

अत: जबकि स्मृति अटूट है, आत्मा से अभिन्न है और कर्म का मूल है और पाप-पुण्य, वर्तमान-भविष्य, विद्या-अविद्या सब इसी पर टिके हैं तो इस अद्‌भुत योग्यता, शक्ति अथवा गुण को समझना बहुत ज़रूरी है! आश्चर्य की बात है कि इस अनुपम योग्यता की ओर चिन्तकों का यथा-वान्छित ध्यान नहीं गया। शिव बाबा ने ही आकर ब्रह्मा बाबा के माध्यम से इस जादू-भरी शक्ति का सदुपयोग समझाया है और इसके ग़लत प्रयोग से होने वाले दुष्परिणामों से भी अवगत कराया है।

शिव बाबा ने सतयुग के आदि से लेकर कलियुग के अन्त तक के समूचे इतिहास की व्याख्या इसी एक दार्शनिक तत्व को लेकर समझाई है। उन्होंने उदाहरणों से इस रहस्य का उद्‌घाटन किया है कि मनुष्य की दृष्टि, वृत्ति, स्थिति और कृति का सम्बन्ध उसकी स्मृति से कैसे है और किस प्रकार आत्मिक तथा ईश्वरीय स्मृति के द्वारा वह नर से नारायण बन जाता है और इसी बात की विस्मृति के फलस्वरूप वह देव से मानव और मानव से दानव में बदल जाता है। उस सारे

दर्शन को समझने से लगता है कि ये एक स्मृति अल्लाहदीन के चिराग या अली बाबा के 'खुलजा सिम-सिम' से भी अधिक चमत्कारी और फलोत्पादक है।

वास्तव में देखा जाए तो विस्मृति का अपना कोई अलग अस्तित्व नहीं बल्कि आत्मा के इस स्वभाव के कारण कि वह एक समय में एक की स्मृति में रह सकती है, उसे दूसरी बातों की विस्मृति स्वत: ही हो जाती है। जैसे एक व्यक्ति एक कमरे में उपस्थित होने से दूसरे कमरों से स्वत: और स्वभावत: अनुपस्थित होता है, जब हम आत्मा हैं की स्मृति में स्थित होते हैं तब देह की विस्मृति स्वत: ही हो जाती है; उसके लिए हमें कोई अलग से पुरषार्थ नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार, जब कोई मनुष्य देह और देह के सम्बन्धियों की स्मृति में होता है तब वह आत्मिक विस्मृति में होता है।

ईश्वरीय ज्ञान हमें यही बताता है कि हम किस की स्मृति में स्थित हों

अत: जबकि किसी-न-किसी की स्मृति में हम स्वभावत: रहते ही हैं और स्मृति का ही हमारे हरेक कर्म से घनिष्ट सम्बन्ध है तो बुरे कर्मों से बचने के लिए और श्रेष्ठ धारणा के लिए यह जानना आवश्यक है कि किस स्मृति में रहें ताकि उसकी विरोधी बातें स्वत: ही विस्मृत हो जायें। वास्तव में इस जानकारी को ही 'ईश्वरीय ज्ञान' कहते हैं। **ईश्वरीय ज्ञान हमें यह समझाता है कि किस प्रकार स्वयं को देह मानने से विकर्म तथा आत्मा की स्मृति में रहने से सत्कर्म होते हैं, किस प्रकार स्वयं को सतयुग अथवा आदि काल में देवता मानने की स्मृति में स्थित करने से हममें पुन: दैवी गुणों का संचार होता है, किस प्रकार वानरों अथवा असभ्य लोगों को अपना पूर्वज मानने से मनुष्य नैतिक उत्थान के पुरुषार्थ में हतोत्साहित होता है, किस प्रकार सभी जीव-प्राणियों को परमात्मा का रूप मानने से मनुष्य का मन चंचल होता है और उसका आत्म-नियन्त्रण टूट जाता है और इसके विपरीत किस प्रकार एक ज्योतिर्बिन्दु स्वरूप परमात्मा को परमधाम का वासी परमपिता बनाने से तथा उसकी स्मृति से मनुष्य में सद्गुणों का उत्कर्ष होता है।**

स्मृति और पुन: स्मृति से ही संस्कार

स्मृति का एक महत्व और भी है। स्मृति से संस्कार निर्मित होता है और पुन: पुन: स्मृति से संस्कार दृढ़ होता है। स्मृति न होते रहने से अर्थात् विस्मृति से, संस्कार का विलय होता है, आदत धीमी होती है और मन की दूषित वृत्तियाँ ढीली होती हैं। अत: यदि हम आत्मिक स्मृति में स्थित होने का अभ्यास करें तो दैहिक

स्मृति का पुराना, पक्का संस्कार और उससे जुटे हुए संस्कार तथा मनोविकार ढीले होंगे। पहले दैहिक स्मृति और पुन: स्मृति से ही हमारे दूषित संस्कार पक्के हुए थे। अब उनके विरोधी तथा प्रतिरोधी अर्थात् आत्मिक तथा परमात्मिक स्मृति से ही हमारे देह-भान का अन्त होता है। इसी प्रकार, शान्ति रूपी स्वधर्म की स्मृति से अशान्ति रूप संस्कार का अन्त, आनन्द की स्मृति से खेद, चिन्ता अथवा वेदना का अन्त, प्रेम की स्मृति से घृणा का अन्त होता है। अत: परमपिता के इन गुणों की स्मृति से मनुष्यात्मा में इन सद्‌गुणों का विकास होता है और इनके विरोधी गुणों का अन्त होता है तथा इस प्रकार, परिवर्तन होता है।

स्मृति और पुनः पुनः स्मृति कैसे हो?

इस तरह जब हम परमपिता परमात्मा की स्मृति के महत्व को समझ लेते हैं तो प्रश्न उठता है कि हम इस स्मृति को ध्रुव कैसे बनायें? क्या उपाय करें कि आत्मिक विस्मृति न हो और परमपिता परमात्मा की स्मृति से भी हमारी बुद्धि न चूके?

इस विषय में हमें एक तो यह याद रखना चाहिए कि हमें तीव्रतम स्मृति उस ही की आती है जो हमारा प्रियतम हो। संसार में मनुष्य का सम्बन्ध तो कई व्यक्तियों से होता है और उनसे उसका स्नेह भी होता है परन्तु जिससे उसकी अधिक प्रीत हो तथा जिससे उसे अधिक प्राप्ति की आशा हो, उसकी स्मृति प्रयास किये बना ही उसके मन को आकृष्ट करती रहती है। अत: यदि परमपिता परमात्मा से हमारी अनन्य एवं अटूट प्रीति होगी तो उसके प्रति हमारी स्मृति भी निरन्तर और सबल तथा सवेग होगी। अत: प्रश्न यहाँ आ खड़ा होता है कि परमात्मा के प्रति हमारी प्रीति अत्यन्त वेगपूर्ण कैसे हो?

तुलनात्मक परिचय ज़रूरी

जीवन के अनुभव का विश्लेषण करने पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्रीति और प्राप्ति को बल देने के लिए हमें परमपिता परमात्मा के तुलनात्मक परिचय की आवश्यकता है। परमात्मा को केवल जान लेना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि अन्य आत्माओं — साधु-सन्तों, महात्माओं, गुरुओं, माता-पिता, शिक्षकों, दानियों, वैद्यों, आदि-आदि से तुलनात्मक रीति से कितना समुद्रतल और आकाश का भेद है — यह जानने की ज़रूरत है। यदि एक व्यक्ति हमें विष देता है और दूसरा उसकी तुलना में हमें अमृत पिलाता है, एक हमें डुबोता है और दूसरा उसकी बजाय हम डूबते हुओं को निकालता है, एक हमें उल्टा ज्ञान देकर नरक में धकेलता है और

दूसरा हमें नर्क की अग्नि से निकाल कर स्वर्ग ले जाता है, एक के मत पर चलने से हमने जन्म-जन्म मृत्युलोक में यम की फाँसी, रोग, शोक, चिन्ता, दु:ख, अशान्ति और झंझट तथा जंजाल ही पाया है और दूसरे ने उसकी तुलना में हमें स्थायी सुख, सदाकालीन शान्ति, विकारों से निवृत्ति, चिन्ताओं से मुक्ति, झंझटों से छुटकारा और शाश्वत आनन्द दिया है तो स्वाभाविक है कि उसकी ओर हमारा मन लपकेगा ही। मन हमें खींच कर उसकी ओर ले जाएगा, उसकी याद तो भुलाये नहीं भूलेगी। जिसने अपार सुख दिया और वह भी शाश्वत और वह भी मुफ़्त, उसके लिए हमारा स्मृति सागर कैसे नहीं ज्वार भाटे की तरह उभरेगा — जैसे पूर्णमासी की चाँदनी में सागर की लहरें संवेग उठती हैं? जिसने हमें प्रेम से सराबोर किया, उसके लिये क्या हमारे प्रेम का प्याला छलकेगा नहीं? जिसने हमारे आड़े समय में हम से मित्रता की, क्या उसकी स्मृति, पुन: स्मृति और पुन: पुन स्मृति से रहित हम रह सकेंगे? नहीं-नहीं। उस प्रीतम की याद तो हमारे आत्मन का न्युक्लियस अथवा नाभिक (Neucleus) बन जायेगी। हमारा मन उसकी याद में तो दीवाना हो जायगा। उस पर तो हम सब-कुछ वारने और न्योछावर करने के लिये तैयार हो जायेंगे। उसके प्रति समर्पण होने में ही हम अपनी सफ़लता मानेंगे। परन्तु इसके लिए ऐसा तो तुलनात्मक परिचय चाहिए कि जो एक धुंधले फोटो की तरह न हो बल्कि अति स्पष्ट (Vivid and Distinct) हो — ऐसा कि मन पर छप जाये।

अत: न केवल तुलनात्मक परिचय की ज़रूरत है बल्कि स्पष्ट, उज्वल, गहन परिचय की आवश्यकता है जिसमें कुछ असमंजस की, सन्देह की या धुंधलेपन की रंच भी बात न हो।

प्रसंग और चिह्न सहायक

अन्यश्च, हमें यह याद रखना चाहिए कि जिसका प्रसंग छिड़ा हो, उसकी सूरत तो सामने आ ही जाती है। अत: चर्चा, प्रसंग, वर्णन और आलाप भी हमें याद दिलाते हैं। गीत का रिकार्ड सुनकर याद आता है कि यह किसका रिकार्ड है; किसी का प्रसंग-वश वर्णन होने पर उसकी स्मृति उभर आती है; किसी का यशोगान होने पर उस ओर मन जाता ही है। अत: यदि हम परमपिता परमात्मा के केन्द्र पर जाएं, उनकी कर्त्तव्य भूमि पर जाएं, उनके वचनामृत रूप उनकी मुरली सुनें, उनके चरित्रों का श्रवण करें, उनकी कृपा से जो अनुभव किसी को हुआ अथवा जो संस्कार परिवर्तन किसी के जीवन में हुआ, उसे सुनें तो भी उसकी पुन:-पुन: स्मृति आयेगी और इस पुरानी दुनिया की बातें भूलेंगी। उनकी महिमा सुनते-सुनते मन उनकी यादों

में ही लीन हो जायेगा, चित्त गद्गद् हो उठेगा और स्मृति की चाश्नी चख कर मन तो वहाँ से हटना चाहेगा ही नहीं।

बाधाओं को हटाने की ज़रूरत

फिर स्मृति की उत्तरोत्तर बुद्धि में कोई बाधा न आये, उसका ख्याल रखना ज़रूरी है। स्मृति को मिटाने, धुंधला करने, ओझल करने, तोड़ने आदि का कारण बनती हैं देहाभिमान की बातें, निन्दा-द्वेष भरी चर्चा, विषय-विकारों से भरी फिल्में या पुस्तकें, स्थूल अथवा व्यर्थ चर्चा में मन को रंज करने वाले दोस्त, मन को स्मृति के प्रतिकूल बनाने वाले उकसाहट-दायक भोजन आदि। इनसे यदि हम बच कर रहें तो गोया हम अपने ही मार्ग को साफ़ करते हैं और अपने लिए आनन्द के प्रवाह को निर्विघ्न बनाते हैं।

इस प्रकार इन बातों को समझते हुए यदि हम बार-बार ईश्वरीय स्मृति का अभ्यास करेंगे तो निस्सन्देह हमारा संस्कार-परिवर्तन होगा, हमारे कर्म शुभ होंगे और हम नर से श्रीनारायण पद के अधिकारी बनेंगे।

जब कोई मनुष्य देह और देह के सम्बन्धियों की स्मृति में होता है तब वह आत्मिक विस्मृति में होता है। इसी प्रकार, जब 'मैं आत्मा हूँ' की स्मृति में स्थित होता है तब देह की विस्मृति स्वतः ही हो जाती है; उसके लिए हमें कोई अलग से पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता।

दु:ख देना बन्द, दु:ख लेना भी बन्द!

आज जब किसी व्यक्ति को अन्य कोई किसी प्रकार से भी दु:ख देता है अथवा उसके साथ अन्याय, अत्याचार या दुर्व्यवहार करता है तो वह व्यक्ति अपना रोष व्यक्त करने के लिये कोई-न-कोई विधि अपनाता है। हम घरों में दखते हैं कि बच्चे के साथ यदि लाड़-प्यार का व्यवहार न हो अथवा उसके अधिकारों से उसे वन्चित किया जाय तो वह यह विधि अपनाता है कि वह रूठ जाता है और खाना खाने से इन्कार कर देता है। अनशन करना अथवा रोने लग जाना — यह उसके हथियार हैं और वह कर ही क्या सकता है? उसका अभिप्राय यही होता है कि आस-पास के लोग उसका रोना सुनकर समझें कि उसके साथ अन्याय हुआ है और घर वाले भी ध्यान दें कि वह उनके व्यवहार से रुष्ट है तथा विरोध (प्रोटेस्ट;Protest) करता है।

बड़ी आयु वाले व्यक्ति यदि अपने किसी पड़ोसी या मित्र-सम्बन्धी के व्यवहार से असन्तुष्ट अथवा पीड़ित अनुभव करते हों तो वे यह विधि अपनाते हैं कि उस पड़ोसी अथवा सम्बन्धी से बोलना अथवा एक-दूसरे के यहाँ आना-जाना बन्द कर देते हैं, ताकि अन्य लोगों को यह मालूम हो कि वे उसके व्यवहार से खिन्न हैं। कई लोग तो विरोध में इतना ऊंचा बोलते हैं कि वे सारा मोहल्ला इकट्ठा कर लेते अथवा सिर पर उठा लेते हैं, और अन्य कई जो उग्र स्वभाव के व्यक्ति होते हैं, वे तो हाथापाई पर भी उतर आते हैं।

कई संस्थायें विशेषकर राजनीतिक संस्थायें, यदि समझें कि उन्हें अथवा उनके देश को किसी ने क्षति पहुँचायी है तो वे उसके विरोध में **जुलूस** निकालते, जन-सभा करते, **धरना** लगाते अथवा दुकानों की **हड़ताल** करते हैं।

अब हम इस छोटे लेख में केवल संस्थाओं, तथा राजनीतिक दलों आदि द्वारा अपनाये गये तरीकों पर ही विचार करेंगे कि क्या ये उचित, हितकर एवं युक्ति-युक्त हैं।

क्या हड़ताल कराने की विधि ठीक है!

आज प्राय: होता यही है कि यदि एक राजनीतिक दल ने कोई अनुचित, अन्यायपूर्ण अथवा अनीतिपूर्ण कार्य किया है तो वे नगर के व्यापारियों को दुकानें बन्द करने के लिये अथवा सरकारी कर्मचारियों को दफ्तर या काम बन्द करने के लिये कहते हैं। मिलों के मज़दूर अपनी कोई मांग मंगवाने के लिए मिल में हड़ताल

कर देते हैं। परन्तु आप जानते हैं कि इससे देश को करोड़ों रुपयों की हानि होती है और बाज़ार में कितने ही मज़दूर, रेड़ी वाले, झल्ली वाले, पटरी पर बैठने वाले तथा मध्यम श्रेणी के व्यापारी वर्गों को भी व्यक्तिगत रीति से हानि होती है। लोग अपना दिन चौपड़ और ताश खेलकर, सिनेमाघरों में जाकर तथा व्यर्थ बातों में गँवाते हैं। तो देखिये, कि सरकार की ग़लत रीति-नीति से देश को, किसी प्रान्त को या किसी वर्ग को जो नुकसान होता है उसके विरुद्ध विरोध प्रकट करने के लिये करोड़ों रुपया और खर्च कर दिया गया! बेचारे दुकानदार राजनीतिक दल वालों के दबाव के कारण दुकान बन्द तो कर दते हैं परन्तु मन-ही-मन वे इन बातों से दुःखी होते हैं और उनके जो कुटुम्बी-जन हैं, उनकी आय पर निर्भर करते हैं, उनके मुख से भी 'आह' अथवा प्रतिकार ही शब्द निकलते हैं। तो सरकार की नीतियों से दुःखी होकर अपना रोष प्रकट करने का यह क्या तरीका हुआ कि जिससे और भी करोड़ों लोगों को किसी-न-कसी भाँति दुःख पहुँचा! हम सरकार या किसी राजनीतिक दल के विरुद्ध इसलिये विरोध प्रकट करने चले हैं कि उन्होंने हमें या देश को दुःख दिया है और हमें यह भी नहीं दिखता कि हम भी किसी-न-किसी तरीके से लोगों को दुःख देने के निमित्त बन रहे हैं! पिछले दिनों दो व्यक्ति भारत के विमान का उपहरण (Hijack) करके उसे पाकिस्तान ले गये और वहाँ उन्होंने उसे आग लगा दी। इस घटना के प्रति रोष प्रगट करने के लिये भारत के लोगों ने यहाँ हड़ताल की और लोगों ने यहाँ उग्र प्रदर्शन भी किये जिन्हें अनुशासन में रखने के लिये देश-भर में कई लाख रुपया प्रतिदिन सुरक्षात्मक कार्यों पर सरकार को खर्च करना पड़ा और दोनों देशों में तोड़-फोड़ द्वारा काफ़ी सम्पत्ति नष्ट हुई, जन-शक्ति और समय व्यर्थ हुआ और दोनों देशों में तनाव बढ़ा। अब दोनों देश हवाई उड़ानों के मार्ग में परिवर्तन करने के कारण प्रतिदिन लाखों रुपयों की क्षति बर्दाश्त कर रहे हैं। गोया दो व्यक्तियों ने अपना रोष् प्रकट करते-करते दो देशों को दुःख दिया!

जुलूस

अब प्रश्न यह है कि यदि हड़ताल करना ठीक नहीं है, तब क्या जुलूस निकाल कर प्रदर्शन करना ठीक है? इसका भी परिणाम हमारे सामने है। इसमें सम्मिलित होने के लिये भी लोगों को कारोबार छोड़ना पड़ता है और फिर भी परिणाम से प्रायः देखा जाता है कि या तो पुलिस को अश्रु गैस चलानी पड़ती है या लाठी वरसानी पड़ती है या फ़ायरिंग (Firing) करनी पड़ती है। कई बार तो प्रदर्शनकारियों तथा पुलिस में आपस में ठन जाती है और पथराव होता है। वहुत वार दुकानें लूट ली जाती हैं या लोग सरकारी बसों अथवा दुकानों को भी आग लगा देते हैं। इस प्रकार

पुलिस का प्रबन्ध करने पर, ट्रैफ़िक को रोकने पर, प्रदर्शन की व्यवस्था आदि-आदि पर तथा अन्त में हिंसात्मक कार्यों द्वारा क्षति के कारण लाखों रुपया यों ही व्यर्थ चला जाता है, जबकि इस निर्धन देश में करोड़ों लोग बेरोज़गार हैं और उन्हें पेट-भर रोटी भी नहीं मिलती। क्या यह भी निर्दयता का व्यवहार अथवा दु:ख देने तथा दु:ख लेने का कर्म नहीं?

धरना, अनशन अथवा सत्याग्रह

कई लोग धरना मारकर या पिकेटिंग करके अपना दु:ख प्रकट करते या अन्याय का विरोध-प्रदर्शन करते हैं। वे समझते हैं कि इसमें तो कोई हिंसा की बात नहीं। परन्तु अनशन करना अर्थात् स्वयं को भूखा मारना, असुविधाजनक स्थान पर हठपूर्वक बैठे रहना, यों ही समय गँवा देना – यह भी तो अपनी शक्तियों तथा योग्यताओं को किसी निर्माणात्मक कार्य में न लगाकर भलाई का कार्य करने की बजाय नकारात्मक कार्यों में खपाना है। इस प्रकार यह भी दु:ख पाने और दु:ख देने का कार्य है।

आत्म-दाह (Self-Immolation)

आज कुछ लोग अपनी माँग पूरी न होने पर, न्याय न मिलने पर अथवा सरकार या किसी दल की नीति से कड़ा विरोध होने पर 'आत्म-दाह' करने की, अर्थात् स्वयं को जलाकर अपनी हत्या करनेकी धमकी देते हैं। इससे वे लाखों-करोड़ों मनुष्यों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करके उनके संकल्पों को चिन्ता, रोष, घृणा, क्रोध, आदि के पथ पर मोड़ते हैं तथा प्रभु से उनके मन को हटाकर अपने में लगाने के दोषी बनते हैं। यह भी एक प्रकार से न केवल अपने जीवन के मूल्य को न पहचानना है, बल्कि मृत्यु से पहले ही स्वयं को दु:खी करना, अपनी हत्या जैसे महापाप के लिये तैयार होना तथा देश में भी दु:ख की लहर फैलाना है। इसके परिणाम भी भयंकर निकलते हैं। ऐसी धमकी देने वाले लोग जनता को भड़काने का काम करते और दूसरों के मन पर अनुचित दबाव डालते तथा उन्हें मजबूरी के वश कोई काम करने के लिये तंग करते हैं; गोया उन्हें मानसिक अत्याचार (Mental Torture) जैसा अनुभव देते हैं। यह भी दु:ख देने तथा दु:ख लेने जैसा ही कार्य है।

सत्याग्रह

बहुत-से लोग कहते हैं कि हम तो गांधी जी के पद्-चिह्नों पर चलते हैं और हम कोई घृणा, हिंसा या असत्य का मार्ग नहीं अपनाते, बल्कि हम तो सत्याग्रह

करते हैं, ताकि असत्य अथवा कुपथ के मार्ग पर चलने वाली सरकार को या मिल-मालिकों को या राजनीतिक दलों को मालूम पड़े कि वे ग़लत रास्ते पर हैं और हमें तथा बाकी जनता को अपनी गति-विधियों से दु:खी कर रहे हैं।

परन्तु जो यह कहता है कि मैं सत्याग्रह अर्थात् सत्य का आग्रह कर रहा हूँ, क्या मालूम कि वास्तव में जिसे वह 'सत्य' माने हुए है वह असत्य हो। वह देश के लिये हितकर न हो। आखिर वह मनुष्य ही तो है और मनुष्य कभी स्थिति को समझने में, परिणाम का मूल्यांकन करने में, बात को तौलने में या बात का निर्णय करने में भूल भी तो कर सकता है। हम देखते भी हैं कि एक राजनीतिक दल का कोई वक्ता जब कभी किसी विषय को लेकर अनशन करता, आमरण व्रत रखता या सत्याग्रह करता है तो उसके विरोध में दूसरे दल का भी कोई वक्ता यही रीति-नीति अपनाकर घोषणा करता है कि मैंने भी सत्याग्रह एवं अनशन, भूख-हड़ताल या आमरण व्रत शुरू कर दिया है। पंजाब और हरियाणा के बीच चण्डीगढ़ के मामले को लेकर एक ओर जब-कभी सरदार फ़तेह सिंह जी अनशन करते तब योगीराज सूर्य देव भी ऐसा ही करते — इस वृत्तान्त से सभी परिचित हैं। अत: जबकि दोनों अपने को सत्य पर आग्रह करने वाला ही मानते हैं तो बताइये कि दो परस्पर-विरोधी बातों में से दोनों ही तो सत्य नहीं हो सकते, परन्तु दोनों पक्षों के नेता अपनी-अपनी बात को सत्य मानकर भी जान देने को तैयार हुएं वैठे हुए हैं! क्या ऐसा तनाव-पूर्ण वातावरण पैदा करके लाखों लोगों के मन को अपनी ओर आकृष्ट करना तथा उन पर दबाव डालना उचित है? यह भी तो जन-शक्ति एवं मन शक्ति का अपव्यय और समाचार-प्रसाधनों (New-Media) का दुरुपयोग ही है। वातावरण में तनाव (Tension), चिन्ता (Suspense) अथवा उत्तेजना पैदा करना — यह भी तो विशाल जन-समूह को मानसिक दु:ख की अनुभूति देना और उन्हें भी अग्निदाह जैसी पीड़ा देना है।

तब क्या किया जाय?

इन सभी पर विचार कर लेने पर अब प्रश्न उठता है कि यदि ये सभी तरीके दोष-पूर्ण हैं तव अन्याय, अत्याचार और अनीति के विरुद्ध अपनी नाराज़गी अथवा अपना खेद प्रकट करने के लिये किया क्या जाय? अन्याय अथवा अनीति के विरुद्ध हमें कुछ करना तो अवश्य होता है वर्ना कोई कैसे समझेगा कि वह सत्ता के मद में चूर होकर प्रजा पीड़न करने में अथवा लूट-खसूट करने में लगा हुआ है?

शिवरात्रि के अवसर पर इस समस्या के वारे में परमात्मा शिव, जो कि सम्पूर्ण विश्व के कल्याणकर्ता हैं, के मत की ओर ध्यान आकर्षित करना श्रेयस्कर होगा।

उन द्वारा मूल मन्त्र यह है कि अपने कर्मों के व्यापार में कोई भी ऐसा कर्म कदापि न करो जिससे आपको दुःख मिले या आप द्वारा दूसरों को दुःख मिले। इस मूल शिक्षा के प्रकाश में हम देखेंगे कि स्थिति के सुधार के लिए उपरोक्त विधियों से भिन्न अन्य कौन-सा तरीका हो सकता है?

इस महावाक्य, नीति वचन अथवा शुभाषितम् को ध्यान में रखते हुए ही हमें किसी विधि को अपनाना होगा।

दूसरे में बुराई देख स्वयं भी बुराई का हथियार लेना – यह विधि निषेध है

इस विधान को सामने रखते हुए पहले तो हमें यह समझ लेना चाहिये कि हम जो भी विधि अपनायें, वह दुःखित होकर न अपनायें। सरकार ने, किसी राजनीतिक दल ने अथवा किसी व्यक्ति ने कोई अयोग्य अथवा अनुचित कार्य किया, उसके कारण हमें अपने मन में दुःख नहीं लेना चाहिए। हमें अपने मन में शान्ति और आचार को धारण किये रहना चाहिये। दूसरे ने ग़लत अथवा बुरा काम किया तो क्या उसके कारण से हम भी ग़लती करने पर उतर आयें अथवा बुराई को ही हथियार बना लें? क्या बुराई से कभी बुराई मिटी भी है? **दूसरे की बुराई को देखते-देंखते अपने नेत्रों द्वारा हम अपने मन में भी बुराई को यदि प्रवेश होने दें, तब यह तो हमारी हार हुई। अतः दूसरे की बुराई को मिटाने का, उसे कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग पर लाने का तरीका यदि रोष, क्रोध, घृणा, ईर्ष्या या हिंसा से रंगा होगा तो वह यही रंग खिलायेगा। वह देश में श्रेष्ठाचार, शान्ति तथा सद्भावना को कभी भी नहीं बढ़ने देगा। अतः यदि हम अपने हितैषी हैं, देश के शुभ-चिन्तक हैं, मानव को सुख पहुँचाने के इच्छुक हैं, तो हमें अपने मन में कभी भी, किसी भी परिस्थिति में, दुःख लेना नहीं चाहिये वर्ना हमारे सभी कार्य हमारी अपनी अशान्ति के कारण नकारात्मक (Negative) विध्वंसात्मक (Destructive) और दुःखोत्पादक होंगे – यह निश्चित है क्योंकि अशान्त अथवा दुःखी अवस्था में मानसिक सन्तुलन, निष्पक्ष विचारधारा और स्पष्ट निर्णय नहीं रहते और इनके न रहने से क्लेश अवश्य पैदा होता है।**

अपने मन में शान्ति और सद्भावना बनाये रखना हमारा प्रथम कर्त्तव्य है और इसके बाद हमें याद रखना चाहिये हमें कानून को अपने हाथ में नहीं लेना है। हम यदि विधि-विधान को तोड़ेंगे, उपद्रव फैलायेंगे, विघटनकारी तत्वों को प्रोत्साहन देंगे तो हम दूसरों को इससे रोकने के लिए भी अधिकारी नहीं रहेंगे। अतः हमें न्यायोचित्त साधनों को ही अपनाना चाहिये। जिस प्रणाली से हम, शान्तिपूर्ण वातावरण में, दूसरों को अपनी बात समझा सकें, हमें उसी प्रणाली को अपनाना चाहिये, परन्तु ऐसी सभाओं में भी हमें दुःखित होकर, घृणा से भरकर अथवा

रोषपूर्ण लहजे में, दूसरों को फटकारते हुए उन्हें कुछ नहीं कहना चाहिये, क्योंकि दूसरों को यदि हम अपने वचनों अथवा कर्मों से दु:ख देंगे तो क्रिया-प्रतिक्रिया की यह श्रृंखला बन्द नहीं होगी।

दूसरों को सन्मार्ग पर लाने का सही तरीका

दूसरे को कुपथ से हटाकर सुपथ पर लाने का सही तरीका यह है कि हम उसे मैत्री-भाव से, स्नेह-पूर्ण शब्दों में, सचमुच उसके हितैषी होकर, युक्ति-संगत तरीके को अपनाकर, शान्त वातावरण में उसकी बुद्धि को प्रभावित करें और उसके हृदय को जीतें। इसके सिवाय दूसरे को या तो कुछ समय के लिये दबाया ही जा सकता है या उसमें बदले की भावना पैदा की जा सकती है और स्थिति को बिगाड़ने ही का कार्य किया जा सकता है। क्या इतिहास से यह बात स्पष्ट नहीं है कि लड़ाई करने से कभी लड़ाई बन्द नहीं होती, क्रोध द्वारा कभी शान्ति स्थापित नहीं की जा सकती और घृणा से कभी प्रेम पैदा नहीं किया जा सकता, शत्रुता द्वारा किसी को मित्र नहीं बनाया जा सकता और, संक्षेप में कहा जाय तो यह कि कुपथ को लेने से कभी भी दूसरे को सुपथ पर नहीं लाया जा सकता। इस स्थूल सृष्टि में हमारे स्थूल कर्मों को देखकर ही लोग हमसे प्रेरणा ले सकते हैं, कर्मों का आधार लिये बिना हम केवल वचनों, भाषणों, इश्तिहारों आदि-आदि से किसी में भी स्थायी रूप में मनोपरिवर्तन नहीं कर सकते।

अब तक अपनाये गये तरीकों का परिणाम

यहाँ कोई यह प्रश्न कर सकता है कि आजकल ऐसा ज़माना नहीं है कि हम शान्तिपूर्ण तरीके को अपनाकर लोगों को उनकी ग़लती महसूस करा सकें। परन्तु हम पूछते हैं कि अब तक जो आन्दोलन, घेराव, स्ट्राईक आदि-आदि विधियाँ अपनाई गयी हैं, उससे क्या हम लोगों का मनोपरिवर्तन कर सके हैं, क्या हम स्थिति को सुधार सके हैं, किसी को अपना मित्र बना सके हैं? इन सब तरीकों को अपनाने से ही तो हम वर्तमान दशा तक पहुँचे हैं? लड़ाई करने के बाद भी जब कोई न जीते तो वह यही कहता है कि अभी एक लड़ाई और करनी पड़ेगी वैसी ही हालत हमारी भी है; हम भी इन गलत विधि-विधानों से कोई सुधार न कर पाने के बाद भी हठधर्मी से तथा हारे हुए एवं उत्तेजित मन्सा से कहते हैं कि इन तरीकों को अपनाने के सिवा दूसरा कोई साधन नहीं है। हम यदि पहले मन में शान्ति धारण करें तो कभी भी हमारे मुख से यह अशुभ बोल नहीं निकलेंगे कि अत्याचार का सामना करने के लिए अत्याचार को अपनाना, अन्याय का सामना क्रोध और घृणा से करना ज़रूरी है। दुर्गुणों के द्वारा सद्गुणों को लाने की आशा लिए बैठे हैं तो यह हमारी सरासर भूल है।

पशुओं की तरह नाराज़गी प्रकट करना

यदि कोई पशु अपने मालिक के व्यवहार से असन्तुष्ट होता है अथवा किसी के अत्याचार से पीड़ा अनुभव करता है तो यदि उसके सींग हों तो वह उसे सींग मारने की कोशिश करता है वर्ना लात तो मार ही देता है। हाथी यदि अपने महावत से रुष्ट हो तो उसे नीचे खींचकर पांव तले रौंद देता है। कौवे काँव-काँव करके प्रदर्शन करते हैं। मधु-मक्खियाँ काटने को आती हैं। वे सब ऐसा तरीका अपनाते हैं, क्योंकि वे हमारी भाषा में बोलना नहीं जानते और उनका इतना बौद्धिक विकास ही नहीं हुआ होता कि वे हमें समझा-बुझा सकें। परन्तु मनुष्य तो बुद्धिमान है, समझ और समझा सकता है, बोलना जानता है या किसी वक्ता की सेवाएं भी ले सकता है, अत: यदि वह भी किसी द्वारा अन्याय होने पर वावेला करने अथवा दु:ख देने पर उतर आये तो फिर मनुष्य और पशु में अन्तर ही क्या रहा; तब तो मनुष्य को मननशील, धर्म-धारी अथवा 'सर्वोच्च प्राणी' कहना निरर्थक ही है।

सत्य के आग्रह के साथ शिवम् और सुन्दरम् होना भी ज़रूरी है

अत: परमपिता परमात्मा शिव के अत्यन्त अनमोल वचन यह हैं कि हमें सत्य पर एवं दिव्य गुणों पर स्थिर आसन लगाए रहना चाहिए। यही वास्तव में 'सत्याग्रह' है। सत्य कोरा सत्य नहीं होता बल्कि वह शिवम् भी होता है और सुन्दरम् भी। यदि हमारे कर्म सत्य पर आधारित हैं तो वे सुन्दरतापूर्ण अर्थात् सदाचार को लिए हुए और अपना तथा दूसरे का कल्याण करने वाले होने चाहिएं। यदि हम कहें कि हम सत्यता को लेकर चल रहे हैं परन्तु हमारे में हम दु:खी हों और अपने वचनों तथा कर्मों से भी हम दूसरों को दु:खी करते हों तो हमारा जीवन सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् की सूक्ति के अनुसार नहीं है।

सभी विकारों संस्कारों का बिस्तरा बोरी गुम
सत्यम् शिवम् सुन्दरम्, सत्यम् शिवम् सुन्दरम्।



सुनी हुई बात के प्रभाव और बुराई से बचने की युक्ति

कई बार ऐसा होता है कि कुछ लोग हमारे पास आकर हमें कई तरह की बातें सुनाने लगते हैं। इनकी बातें हमारे लिए अनामन्त्रित अतिथियों (Uninvited Guests) की तरह होती हैं। क्योंकि जैसे अनामन्त्रित अतिथि के आ जाने पर मनुष्य को ऐसा लगता है कि उसका समय और उसका धन व्यर्थ में खर्च हो रहे हैं और उसे कुछ खुशी भी नहीं हो रही, ऐसे ही जब कोई 'मित्र' अथवा 'स्वजन' आकर मन का गुबार निकालता है तब मनुष्य शिष्टाचार का ध्यान करते हुए सुनने के लिए स्वयं को मजबूर पाता है। यद्यपि वह उसे अहितकर भी समझता है, इसलिए प्रश्न उठता है कि इनसे बचने का उपाय क्या है?

इसमें हम छूआछूत (Contagious) अथवा संक्रामक (Infectious) रोगों के उदाहरण को सामने रखने से इसके उपाय को ठीक समझ सकते हैं। जब हम यह देखते हैं कि नगर में अमुक रोग फैल रहा है, उससे बचने के लिए हम पहले ही से टीके लगवा लेते हैं। जब लोग कुम्भ के अवसर पर हरिद्वार, इलाहाबाद या अन्य किसी स्थान पर जाते हैं जहाँ हैज़ा फैलने की सम्भावना हो, तो वे टीका लगवा कर ही जाते हैं। सरकार की ओर से भी आदेश होता है कि मेले के स्थान पर केवल उन्हीं को प्रवेश मिलेगा जिन्होंने वह टीका लगवाया हुआ होगा। अत: या तो मनुष्य में स्वाभाविक रूप से ही रोग का सामना करने की शक्ति (Power of resistance) होनी चाहिए या उसे ऐसे वातावरण अथवा सम्पर्क में आना ही न चाहिए जिस सम्पर्क से रोग का भय हो।

इस उदाहरण को सामने रखते हुए अब प्रश्न यह उठता है कि हमारे लिए वह कौन-सी आध्यात्मिक औषधि है जिसका सेवन हमें पहले ही से कर लेना चाहिए। इस विषय में सबसे पहली बात, जो हमारे लिए औषधि का काम कर सकती है, वह यह है कि हम सदा यह सोचें अथवा याद रखें कि हमारा, वक्ता का तथा अन्य सभी का कल्याण किस बात में है अथवा कैसे हो सकता है? कल्याण की भावना हमारे लिए प्रहार के प्रति एक प्रकार का कवच है। कल्याण को सामने रखने से ही आप सुनाने वाले की बात से अपना ध्यान हटा भी सकते हैं, उसे अनसुना भी कर सकते हैं, सुन लेने पर उसे मिटा भी सकते हैं तथा सुनने के बाद कल्याण का कुछ उपाय भी कर सकते हैं। यदि हम कल्याण की भावना और कामना को सामने नहीं रखते तो हमारी दृष्टि, वृत्ति, स्मृति और स्थिति सभी दूषित हो सकती हैं। इस बात को अब हम एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करते हैं।

मान लीजिए कि कोई व्यक्ति हमारे पास आकर किसी ऐसे व्यक्ति की जी-भर

कर निन्दा करने लगता है और उनमें द्वेष, घृणा, ईर्ष्या, तिरस्कार और साथ-साथ अतिश्योक्ति का समावेश है। फिर, वह बात को भी बड़ा लम्बा-चौड़ा बनाकर विस्तार से कहता चला जाता है। अब यदि हम अपने मन में कल्याण की भावना को धारण किये बिना उसकी बात ध्यान से सुनते चले जाते हैं तो वह बात हमारे मन में भी घाव कर सकती है। उसमें घृणा, द्वेष इत्यादि की लहर पैदा कर सकती है और निन्दित व्यक्ति के प्रति हमारी दृष्टि और वृत्ति को दूषित बना सकती है। अब इसकी बजाय यदि वह यह ध्यान में रखे कि ये व्यक्ति जो पीड़ित होकर दु:खालाप कर रहा है, इसका कल्याण करने में मैं कैसे निमित्त बन सकता हूँ तो उस समय घृणा और द्वेष का दाह अनुभव करने की बजाय उसके मन में ज्ञान का झरना बह उठेगा और उसकी बुद्धि ऐसी युक्तियाँ सोचने लगती है जिससे वह उसके मन को राहत पहुँचा सके और घृणित व्यक्ति के प्रति भी सद्भावना उत्पन्न हो। वह उसकी घृणा में और ईंधन डालने की बजाय उसको ठंडा करने के लिए उस पर ज्ञान जल डालेगा और उसे कर्मों की गति बताते हुए अन्याय, अत्याचार और दुर्व्यसनों को इस कलियुगी सृष्टि के लक्षण वर्णित करते हुए एक शिव बाबा ही को सबका सहायक और नि:स्वार्थ प्रेमी वर्णित करते हुए और इस दु:ख-भरी कलियुगी सृष्टि के निकटवर्ती अन्त की बात कहते हुए एवं सतयुगी सुखमयी सृष्टि का सन्देश देते हुए उसे सान्त्वना देता है। जैसे कोई डॉक्टर औषधि लेकर स्वयं सुरक्षित रहते हुए रोग का उपचार सोचने में ही लग जाता है, वैसे ही वह करेगा।



आसक्ति

किसी भी व्यक्ति अथवा वस्तु के सम्पर्क में आने पर मनुष्य को उसके रूप-रंग इत्यादि के प्रति जो लगाव अथवा आकर्षण होता है, उसे अनुराग कहते हैं। प्रिय लगने के कारण मनुष्य चाहता है कि वह वस्तु अथवा व्यक्ति उसी के अधिकार में रहे। धीरे-धीरे इस अभ्यास से यही अनुराग राग का रूप धारण कर लेता है। यही राग 'आसक्ति' है।

आसक्ति से मनुष्य पराधीन हो जाता है, स्वतन्त्र नहीं रहता। जब तक उसे वह प्यारी वस्तु अथवा वह व्यक्ति दिखाई न दे अथवा न मिले तब तक उसे चैन नहीं आता। मनुष्य में जितनी आसक्ति होगी उतना-उतना वह परतन्त्र होगा और जितना परतन्त्र होगा उतना ही बेचैन होगा, क्योंकि एक तो उस व्यक्ति अथवा वस्तु को पाने का संकल्प उसे चिन्तित करेगा, उसको पाने के पुरुषार्थ में झंझट भी झेलने पड़ेंगे, फिर उसके न मिलने पर अथवा मिलकर बिछुड़ जाने पर वह दुःखी भी होगा।

, वह बुद्धि का काम है। मान लीजिये कि किसी के सामने, खाने के लिये, कुछ ाम रखे गये हैं, अब यह निर्णय करना कि आम अच्छे हैं या खराब, खाने हैं या हीं, यदि खाने हैं तो कितने खाने हैं; यह बुद्धि का काम है। मन का काम केवल ूचना देना है कि आम रखें हैं और बुद्धि द्वारा निर्णय होने के बाद, इन्द्रियों का ाम उन्हें खाना है। अगर यह निर्णय बुद्धि के हाथ में नहीं है तो इसका मतलब यह आ कि मन रूपी नौकर अथवा इन्द्रियाँ रूपी चाकर अपने मालिक के कहने की रवाह नहीं करते। वह जिसमें आसक्त हैं, उसके पीछे भागते हैं और बुद्धि में वह ल नहीं कि उनको रोक सके, निर्णय दे सके अथवा निर्णय पर कायम रह सके। ह मन के बहकावे में आ जाती है। बुद्धि के पास वह युक्तियाँ अथवा प्वाइंट्स हीं हैं जिन द्वारा वह मन को समझाकर मनवा सके। अत: आसक्ति छोड़ने के लिये ावश्यकता इस बात की है कि बुद्धि युक्तियों अथवा नियमों को पूरी रीति से जाने र्थात् दैवी गुणों और मर्यादा को भली-भाँति समझे और ज्ञान की गदा धारण करे।

कौनसा ज्ञान धारण करने की आवश्यकता है?

नाव जब पानी पर तैरती है तो वह नदी पार कर जाती है। परन्तु जब नाव में पानी ला जाता है तो नाव डूब जाती है। इससे सिद्ध होता है कि अगर हम संसार रूपी सागर रहते हुए उसके ऊपर रहेंगे तो हम तर जायेंगे और अगर दुनिया हमारे मन में बसने ागेगी तो हम डूब जायेंगे।

परन्तु अब समस्या यह है कि मन रूपी बच्चा कोई-न-कोई खिलौना तो अवश्य ांगता है। उसके हाथ से खिलौने रूपी आसक्ति छुड़ाने की क्या युक्ति है? हम ेखते हैं कि बच्चे को जब कोई सुन्दर खिलौना दिया जाता है तो वह पुराने खिलौने ो स्वत: ही छोड़ देता है। अत: युक्ति यह है कि मन के संकल्पों को अथवा बुद्धि े योग को विषय और व्यक्तियों से निकाल कर आत्मा और परमात्मा में लगाया ाये। बस आसक्ति छोड़ने की यही एकमात्र युक्ति है। इसके सिवाय आसक्ति ूटना कठिन है और आसक्ति छोड़े बिना दु:ख की निवृत्ति असम्भव है।



पवित्र प्रवृत्ति

कर्म-गति के ज्ञान में शिव बाबा ने हमें अपनी प्रवृत्ति को पवित्र बनाने के अनमोल साधन बताये हैं। हम प्रतिदिन 'ज्ञान-मुरली' में अपने संस्कारों को पावन बनाने तथा अपने कर्मों को महान् बनाने की युक्तियाँ सीखते हैं। जन्म-जन्मान्तर से हम माया अथवा विकारों की जिन जंजीरों में जकड़े आये हैं, अब उन्हें तोड़कर उनसे आज़ाद होने का ढंग हमें शिव बाबा की कृपा से ज्ञात हुआ है, तभी तो हम अब अन्धकार से निकलकर प्रकाश, अशान्ति से बचकर शान्ति के मार्ग पर दिनों-दिन आगे बढ़ रहे हैं।

जैसा लक्ष्य वैसा लक्षण; जैसा चित्र वैसा चरित्र

अपनी प्रवृत्ति को पवित्र बनाने के लिये पहले तो शिव बाबा ने पवित्र लक्ष्य दिया है। पवित्र लक्ष्य को सामने रखने से ही पवित्र लक्षण भी आते हैं। बाबा ने हमारे सामने **सर्वगुण** सम्पन्न, सोलह कला सम्पूर्ण, **सम्पूर्ण** निर्विकारी, **उत्तम** मर्यादा युक्त, सम्पूर्ण अहिंसक बनाने का लक्ष्य रखा है। इससे पहले हम यह मान बैठे थे कि इस संसार में थोड़े-बहुत विकारों या अवगुणों का होना स्वाभाविक है। हम संसार में जितने भी नर-नारियों को देखते हैं, उनमें कोई न कोई अवगुण और किसी न किसी मात्रा में विकार हैं। अत: हम यह माने बैठे थे कि ग़लतियाँ तो हरेक मनुष्य से होती ही हैं। अथवा कमियाँ तो हरेक मनुष्य में होती ही हैं। तब हमें यह मालूम नहीं था कि हमने जिस युग के नर-नारियों को देखकर अपनी ऐसी धारणा बनाई हुई है वह तो कलियुग है जो कि ऐसे नर-नारियों के कारण ही निकृष्ट युग माना जाता है। मनुष्य की यह स्टेज (Stage) अथवा स्थिति तो पतन की स्थिति है। जिस मनुष्य को 'सभी प्राणियों में श्रेष्ठ' या 'असरफ उल मख़लूकात' (Best of the Creation) कहा जाता है, वह मनुष्य कोई और था। वह उस काल का मनुष्य था जिसे 'कृतयुग', 'देवयुग' अथवा 'सतयुग' कहा जाता है। आज का मनुष्य देवता से तो गिरा हुआ है ही, यह मनुष्यता से भी गिर चुका है, क्योंकि यह तो हिंसक पशुओं की तरह हिंसा वृत्ति वाला है, शीघ्र ही उत्तेजित हो जाता है और केवल ऐंद्रित स्तर पर ही जीवन जी रहा है। शिव बाबा ने हमारे सामने सम्पूर्णाद दिव्य नर और नारी का चित्र खींचा है जिन्हें कि भारत की संस्कृति में 'श्री नारायण' और 'श्री लक्ष्मी' अथवा 'देवता' (Man god) और 'देवी' (Woman goddess) कहा गया है। उस पूर्णत: पवित्र प्रवृत्ति की स्थिति तक पहुँचने के लिये पुरुषार्थी जीवन का आदर्श भी परमपिता शिव ने सृष्टि के आदिपिता 'ब्रह्मा' और आदि माता

'जगदम्बा' के नाम रूप से हमारे समक्ष रखा है। अत: अब जबकि उच्च कर्मों का चित्र हमारे सामने है तब हमारे लिये चरित्र भी बनाना सहज है। 'जैसा लक्ष्य वैसा लक्षण' और 'जैसा चित्र वैसा चरित्र' यह फार्मूला हमारे सामने रखते हुए शिव बाबा ने हमारे चलने के लिये कर्मों की जो लकीर लगाई है, उसके मार्ग चिह्न निम्नलिखित हैं।

यह सृष्टि एक रंगशाला है; हम इसके एक्टर हैं

शिव बाबा ने हमें समझाया है कि मनुष्य सृष्टि एक रंग-मंच है। हम मनुष्य आत्माएं परमधाम अथवा ब्रह्मलोक से इस वृहद नाटक-मंच पर अपना-अपना पार्ट अदा करने के लिये आई हैं। अपने पार्ट ही के अनुसार हम जन्म-जन्मान्तर शरीर रूपी वस्त्र धारण करते हैं। जैसे किसी नाटक में राजा का पार्ट अदा करने वाले व्यक्ति के मस्तिष्क में यह सत्य तो अलुप्त रीति से रहता ही है कि वास्तव में वह राजा नहीं है, बल्कि अमुक साधारण ही व्यक्ति है और केवल इस पार्ट में ही वह राजा बना हुआ है। और अमुक अभिनेत्री (Actress) उसकी रानी बनी हुई है। अत: पार्ट पूरा होते ही वह पहले की तरह ही हो जाता है। वह नाटक में होने वाली जीत-हार को अभिनय अथवा खेल मात्र ही मानता है। नाटक में आने वाली चिन्ताजनक एवं भयानक स्थितियों से वह अपने जीवन को दु:खी नहीं बना लेता। ठीक इसी प्रकार, शिव बाबा ने हमें यह शिक्षा दी है कि हमें भी इस सृष्टि रूपी विराट एवं अनादि नाटक में स्वयं को एक एक्टर (Actor) मानते हुए इसमें आने वाली सुख दु:ख की परिस्थितियों से अपने जीवन को लिपायमान नहीं कर देना चाहिए, बल्कि इन्हें खेल ही का एक भाग मानकर इनसे न्यारे ही स्वस्थिति में रहना चाहिए। स्वरूप में टिके रहने की यह एक अच्छी युक्ति है। **दु:ख एवं अशान्ति से छूटने परन्तु फिर कर्म को करते रहने का यह एक ऐसा समन्वामक तरीका है जो कि अद्वितीय है।** इस दृष्टिकोण को अपना लेने से मनुष्य में **'अकर्मण्यता का दोष'** भी नहीं आता, वह आलस्य एवं प्रमाद के वशीभूत भी नहीं होता, वह अर्जुन की तरह कर्म रूपी धनुष बाण को भी छोड़कर 'कर्त्तव्य विमूढ़' (What to do and what not to do?) के मोह और विषाद की उलझन में नहीं आता और विकर्म करके दु:ख का भागी भी नहीं बनता। बल्कि वह एक नाटक के पात्र की न्यायी अपने कृत्य को बड़ी खूबी से, बड़ी कला से और कौशल से करता है। परन्तु वह उसे 'नाटकीय' ही ढंग से करता है अर्थात् वह हाव-भाव बनाता तो है, परन्तु उससे न्यारा भी रहता है। फ़कीर का पार्ट अदा कर देता है, परन्तु उसका वास्तविक स्वभाव जैसा है वह वैसा ही रहता है।

नाटक के इस अनुकरणीय उदाहरण में दूसरी भी एक बात यह है कि जैसे नाटक में हरेक अभिनेता अथवा अभिनेत्री अपनी योग्यता के अनुसार एक बने-बनाये कथानक (Story) के अनुसार अपना-अपना अभिनय करते हैं, वैसे ही इस वृहद नाटक में हम कल्प-कल्पान्तर अपनी-अपनी सामर्थ्य एवं योग्यता के अनुसार जो-जो पार्ट करते हैं, वही-वही अब हम हर कल्प पुनः-पुनः पुनरावृत करते हैं। उस बनी हुई स्टोरी (Story) को ही हम अदा करते हैं। अतः अब हमारे जीवन में जो कुछ हुआ है, वह पूर्व कल्प में भी हुआ था, क्योंकि स्टोरी तो वही है, हम आत्माएं रूपी एक्टर भी वही हैं, सृष्टि भी वही है और समय भी वही आकर पहुँचा है। अतः हमारे सामने चाहे कैसी भी विषम अथवा विकट परिस्थिति आये, हमें घबराना नहीं चाहिये बल्कि 'ड्रामा'! (This is there in this world Drama) ऐसा कहकर स्वरूप स्थित हो जाना चाहिये। हमारे अपने कर्मों के अनुसार ही तो यह ड्रामा बना है, अतः हमारे ही किये हुए कर्मों का खाता जब सामने आता है तो भयान्वित होने की क्या बात है; वह पार्ट भी कर्म और परिणाम की श्रृखंला में एक कड़ी ही तो है जो कि अगले क्षण में दूसरे दृश्य को स्थान देगी! यह वर्तमान दृश्य तो सदा रहना ही नहीं है। अतः 'भावी' ड्रामा; या यह तो 'बनी बनाई ही बन रही है' ऐसा सोचकर हमें अपनी शान्ति को भंग नहीं होने देना चाहिये।

पुनश्च, ड्रामा में हरेक का अपना-अपना पार्ट होता है। कोई तन्त्री बनता है तो कोई तंत्र; कोई नेता बनता है तो कोई अभियन्ता (Engineer)। इस में किसी से ईर्ष्या करने की गुंजायश नहीं है क्योंकि हरेक को अपना-अपना पार्ट अदा करना होता है। ड्रामा में विविधता (variety) का होना तो स्वाभाविक ही है। उसके बिना तो उसमें न रोचकता रहेगी न दृश्यान्तर होंगे न ही रूपान्तर। अतः विभिन्नता एवं स्थिति परिवर्तन ही तो ड्रामा है। जैसे हास्य रस, वीर रस, शान्त रस सभी रस चाहिये होता है। वरना तो वह शुष्क, नीरस कलाहीन तथा 'बोर'(Bore) करने वाली एक वृति हो जायेगी। अतः यह बात जानकर सचमुच ही किसी के पार्ट से ईर्ष्या करना ख्वाहमख्वाह स्वयं को चिता पर डालना है। रीस (ईर्ष्या) करने की बजाय रेस (race;स्पर्धा) करना ज्ञानोचित है। उससे हमें न अशान्ति होगी, न तनाव ही पैदा होगा बल्कि हमारी उन्नति हो सकती है।

अब जाना है और फिर सतयुगी सृष्टि में आना है

कोई भी कर्म यदि ठीक समय पर और उपयुक्त अवसर पर किया जाता है तो ठीक होता है। आजकल तो मनुष्य घड़ी और केलेण्डर का खूब प्रयोग करते हैं। समय मनुष्य की वृत्ति को भी उपयुक्त बनाने में सहायक होता है। अमृत वेले में जो

ताज़गी, शान्ति और सात्विकता की लहर होती है वह मनुष्य को भी ताजा, शीतल और मनोवाँछित कर्मों में प्रवृत्त करती है। दोपहर के समय का वातावरण दूसरे ही प्रकार का होता है। अत: मनुष्य योगाभ्यास इत्यादि प्रात:काल ही में करना चाहता है।

अव हमें यह देखना है कि जैसे 24 घंटे के दिन के हिसाब से दिन और रात इत्यादि वने हुए हैं वैसे ही कल्प घड़ी में भी दिन और रात भी हैं तथा आत्माओं के इस सृष्टि में आने के फिर अन्त में यहाँ से जाने का भी समय है। उस दृष्टिकोण से वर्तमान काल कलियुग के अन्त और सतयुग के आरम्भ का संगम समय है जिस को 'व्रह्मा' की रात्री के अन्त और ब्रह्मा के दिन के आरम्भ का संधि काल भी कहा जाता है, इसे ही अमृत वेला या ब्रह्ममूर्त भी कहा जाता है। यही समय योगाभ्यास के लिए सर्वश्रेष्ठ है। इसी काल में ही परमपिता परमात्मा शिव प्रजापिता व्रह्मा द्वारा मनुष्यात्माओं को ईश्वरीय ज्ञान की शिक्षा देते तथा सहज राजयोग सिखाते हैं। इस रात्री के अन्त में ही प्राय: सभी मनुष्यात्माएं योगाभ्यास के फलस्वरूप अथवा सृष्टि का महाविनाश होने के परिणाम- स्वरूप परमधाम अथवा व्रह्म लोक को लौट जाती हैं। अत: अव जबकी वह समय है तो हमें अपनी स्थिति में यह वात धारण करनी चाहिए कि हमें वापिस परमधाम जाना है। इस स्मृति से हमारी वुद्धि का लंगर इस संसार रूपी तट से उठ जायेगा और हमारा जीवन रूपी जहाज़ परमधाम की ओर चलने लग जायेगा। यह उपराम वृत्ति हमारे समस्त पुरुषार्थ के लिए ज़रूरी है। जव मनुष्य को कहीं जाना होता है तब उसकी मन रूप आंख लक्षित स्थान पर टिक जाती है, उस के हाथ यात्रा की सामग्री को इकट्ठा करने में लग जाते हैं, उसकी वुद्धि अव 'विदा' की घड़ी की ओर लग जाती है। इसी प्रकार अव मुझे यहाँ से अपने घर (परमधाम) जाना है – इस स्मृति से मनुष्य का मन परमधाम पर टिक जाता है। **वैराग्य और अभ्यास**, जिन्हें योग के लिए आवश्यक माना गया है, इस दृष्टिकोण को अपनाने से सहज आ जाते हैं। मनुष्य ईश्वरीय याद रूपी यात्रा पर चल पड़ता है और एक स्थान पर मन स्थित करने की जो धारणा है, वह सहज ही हो जाती है।

फिर, जब मनुष्य को यह भी याद रहता है कि परमधाम जाकर मुझे सतयुगी, पावन, दैवी सृष्टि में लौटना है जहाँ अशान्ति तथा मनो विकार नाम मात्र भी नहीं होंगे तो वह स्वयं में दिव्य गुण धारण करने तथा स्वयं को पवित्र बनाने के पुरुषार्थ में पूरी तरह जुट जाता है। वह तनाव और तंगदिली के संस्कार छोड़ कर अब स्वयं को शान्ति पूर्वक संस्कारों वाला बनाना शुरु कर देता है। वह कलह-क्लेश की आदतों को मिटाने का भरसक यत्न करता है।

इस पर भी चूंकि वह भली-भांति जानता है कि जो आत्मा अभी पवित्र नहीं बनेगी, उन्हें धर्मराजपुरी में अपने विकर्मों के कारण दण्डित होना पड़ेगा। अब वह स्वयं को पवित्र एवं योग-युक्त बनाने तथा सोलह कला सम्पूर्ण देव पद प्राप्त कराने का पूर्ण पुरुषार्थ करता है। अत: मेरा तो यह विश्वास है कि यदि उपरोक्त तीन-चार युक्तियों को कोई मनुष्य अपने जीवन में पूरी तरह अपनाये तो वह विकर्मों से छूट सकता है तथा पवित्र बनो और योगी बनों की ईश्वराज्ञा के पालन द्वारा न केवल इस जन्म में बल्कि सदा के लिए शान्ति का अधिकार अथवा वरदान प्राप्त कर सकता है।

यथार्थ कर्म

कर्म करते समय मनुष्य के सामने भाव भी तो यह स्पष्ट होना चाहिए कि वह किसके लिए कर्म करता है। जन्म जन्मान्तर तो मनुष्य अपने लौकिक सम्बन्धियों ही के लिए कर्म करता चला आया है। आज भी वह हर बात में यह कहा करता है ''क्या करूं, बाल बच्चेदार आदमी हूँ ऐसा करना ही पड़ता है।'' गोया वह अपनी पत्नी तथा अपने बच्चों अथवा अपने घर, गृहस्थी तथा अपनी देह के लिए कर्म करता है। कर्म के लिए यह बहुत ही घटिया तरीका है। इससे ही मनुष्य के मन में लगाव और फिर तनाव पैदा होता है। इसकी बजाय अब उसे यह सोचकर कर्म करना चाहिए कि शिवबाबा ने प्रजापिता ब्रह्मा द्वारा जो विशाल यज्ञ (अविनाशी ज्ञान यज्ञ) रचा है मुझे उसके लिए कर्म करना है। इससे उसके मन में मनुष्य की बजाय स्वयं भगवान तथा उनका कर्त्तव्य ही सामने आयेगा। उसके मन में त्याग एवं सेवा की भावना रहेगी। उसमें ममत्व और लौकिकता भी नहीं होगी। परिणाम स्वरूप अशान्ति नहीं होगी।

पुनश्च, कर्म करते समय मनुष्य में ''**वालक सो मालिक**'' की स्मृति रहनी चाहिए अर्थात् यह स्मृति रहनी चाहिए कि मैं तो शिवबाबा का बालक हूँ, मालिक तो परमात्मा हैं। इस स्मृति से उसे परमपिता का सदा साथ अनुभव होगा। उस में बालक की तरह सरलता और हल्कापन भी रहेगा और 'मालिक' की तरह ज़िम्मेवारी भी।



परमात्मा से मिलने का शुभ समय

परमपिता परमात्मा के साथ हम मनुष्यात्माओं का सम्बन्ध बहुत गहरा है। यह सम्बन्ध उसी प्रकार अविनाशी और अटूट है जिस प्रकार आत्मा रूप में हम अमर और अविनाशी हैं। जीवात्मा के रूप में अपने कष्टों के निवारण वा कामनाओं की पूर्ति के लिए हम प्रायः परमप्रिय परमपिता को स्मरण करते रहते हैं। **प्रश्न उठता है कि क्या कोई ऐसा समय इस मानवीय सृष्टि पर आता है जब कि मनुष्य परमात्मा से बातचीत कर सकता है? यदि हाँ, तो वह सुहावना, सुनहरा और अति शुभ समय कौनसा है?**

लोक व्यापार में जब हम किसी बड़े अफसर या उच्च अधिकारी से मिलने जाते हैं तब पहले-पहले हम यही मालूम करते हैं कि उनके मिलने या बात-चीत करने का कौनसा समय है? उनके पास खाली समय कब रहता है और वे हमारी व्यक्तिगत समस्याएं सुनने के लिए कब और कितना समय दे सकते हैं? उच्च अधिकारी के निश्चित समय दे देने पर ही हम उनसे मुलाकात या बात-चीत करते हैं। हम इस ओर से सजग और सतर्क भी रहते हैं कि हमारी मुलाकात का नियत समय निकल न जाय। हम सावधान रहते हैं कि हमारे हिस्से का समय किसी दूसरे व्यक्ति को न दे दिया जाय, अथवा हमारे ठीक समय पर न पहुँचने पर उक्त अधिकारी रुष्ट न हो जाय तथा फिर कभी मिलने का समय ही न दे। समय की पाबन्दी का ध्यान रखते हुए हममें से अधिकतर लोग मिलने के लिए निश्चित स्थान पर समय से दो-चार मिनट पहले ही पहुँच जाते हैं।

किसी उच्च अधिकारी या बड़े आदमी से मिलने के समय हमारी कोशिश यही होती है कि हम सम्बन्धित व्यक्ति से अपनी सारी बात दिल खोलकर और प्रभावकारी ढंग से कह दें, हम कुछ छिपा न रखें और चुने हुए शब्दों में उसे अपनी समस्याएं समझाकर अपने दिल को हल्का कर लें। हमारी हार्दिक इच्छा यही रहती है कि प्राप्त समय का हम पूरा-पूरा लाभ उठायें और कहने को कुछ भी बाकी न रह जाय।

परमपुरुष परमात्मा का अवतरण

आध्यात्मिक दृष्टि से देखें अथवा सांसारिक दृष्टि से परमात्मा हमारी इस मानवीय सृष्टि का सर्वोच्च अधिकारी या पुरुष है। इसलिए परमात्मा को परम पुरुष भी कहा जा

है। हम प्राय: लोगों को ऐसा कहते हुए सुनते हैं कि, 'भगवान् मनुष्य के हृदय से निकली हुई सच्ची आवाज़ को सुनता है और इच्छित फल देता है।' यही कारण है कि भारी संख्या में लोगों को हम नित्य ही ईश-प्रार्थना करते देखते हैं। मनुष्य समाज में ऐसी परम्परा है कि जो उच्च व्यक्ति कोई सेवा करके या जन-हित के लिए कोई कार्य करके जाता है उसे स्मरण किया जाता है तथा उसकी जयन्ती आदि मनाई जाती है। यह प्रकट है कि परमपिता परमात्मा ने कभी-न-कभी इस सृष्टि पर अवतरित होकर मानव जाति का कोई परम कल्याण का अलौकिक कार्य किया है कि उनकी इतनी ज्यादा याद की जाती है और उनकी इतनी अधिक महिमा गाई जाती है। अस्तु।

तो, परमपिता परमात्मा से हम मनुष्य-आत्माओं के मिलने का और उनसे अपनी सर्व इच्छाएं पूर्ण करने का अलौकिक एवं अनमोल समय कौन-सा है? इस संसार में परमात्मा का अनुपम और अप्रतिम कार्य ही है नई सृष्टि की रचना करना, ऐसी मानवीय सृष्टि जिसमें सभी मनुष्यात्माएं सतोगुणी, सर्वगुण सम्पन्न और सब प्रकार से सुखी हों। चूँकि आज मनुष्यात्माएं इतनी अधिक दु:खी हैं और विकारों से पूर्णरूप से ग्रस्त मानवीय सृष्टि बिलकुल ही जीर्ण-शीर्ण तथा जर्जर दिखाई पड़ रही है, इसलिए यह प्रकट है कि नई सुखी सृष्टि रचने के लिए परमात्मा के दिव्य एवं अलौकिक कार्य का समय अब आ पहुँचा है। वस्तुत: यह तमोगुणी पुरानी सृष्टि की रात के समाप्त होने का और सतोगुणी नयी सृष्टि के दिन के उदय होने का समय है — यह नई सृष्टि की शुभ स्थापना की वह पावन प्रभात वेला अथवा अमृतवेला है, जबकि परमात्मा का नव-रचना का कल्याणकारी और परम सुखकारी कार्य प्रजापिता ब्रह्मा के मानवीय तन द्वारा हमारी इस पृथ्वी पर चल रहा है। संसार में परमात्मा से मिलकर मनुष्यात्माओं को अपना-अपना परम सौभाग्य बनाने का वस्तुत: यही समय है।

परमपिता परमात्मा से सम्पर्क

इसी प्रकार, यही समय है जबकि हम अपने परमपिता परमात्मा से अव्यक्त सम्बन्ध जोड़कर उनकी सूक्ष्म तथा शुद्ध प्रेरणाओं को पकड़ सकते हैं। इस सम्बन्ध में टेलीफ़ोन का उदाहरण वड़ा ही सटीक वैठता है। जैसे टेलीफोन पर बात करने के लिए उसका आधार लेकर 'कनेक्शन' (सम्पर्क) जुटाना पड़ता है और जब कनेक्शन जुट जाता है तभी हम वात-चीत कर सकते हैं, ठीक इसी प्रकार जीवात्मा का जब परमपिता परमात्मा

के साथ शुद्ध सम्बन्ध या 'कनेक्शन' लग जाता है तभी जीवात्मा अपनी बात परमपिता परमात्मा त्रिमूर्ति शिव से निवेदित कर सकती है। यह 'कनेक्शन' ही परमपिता परमात्मा के साथ जीवात्मा का बुद्धियोग कहलाता है। यदि बुद्धियोग पूरा लगा हुआ हो तो निश्चय ही हम परमप्रिय परमपिता परमात्मा शिव की दी हुई प्रेरणाओं को पकड़ सकते हैं। इसके विपरीत, यदि बुद्धियोग पूरा लगा हुआ न हो अथवा 'कनेक्शन' बीच में टूट गया हो तो हमारे निवेदन नीचे के तमोगुणी वायुमण्डल में दबकर रह जाते हैं। परमपिता के प्रिय वत्सो अर्थात् हम मनुष्यात्माओं के लिए आज इसी ओर सजग और सतर्क रहने की सबसे अधिक आवश्यकता है।

चूँकि इस समय हमारी इस पृथ्वी पर सृष्टि-परिवर्तन के पावन एवं अलौकिक कर्त्तव्य स्वयं परमपिता परमात्मा अथवा ईश्वर द्वारा सम्पन्न किए जा रहे हैं, इसलिए हम मनुष्यात्माओं को अपने सम्मुख यही परम एवं सर्वोत्तम लक्ष्य रखना है कि अपने अलौकिक परमपिता परमात्मा से हम सम्पर्क स्थापित करें और संसार में उनकी उपस्थिति से पूरा-पूरा लाभ उठावें। आज के परम पावन और सौभाग्यकारी अवसर पर यदि आत्मस्थ अथवा देही-अभिमानी बनकर हम परमात्मा के साथ निश्छलता-दृढ़ता और पूरी निरहंकारिता तथा समर्पण की भावना से बुद्धियोग जुटायें तो दिव्य एवं शुद्ध प्रेरणाओं को पकड़ कर स्वयं अपना 'प्रैक्टिकल' जीवन बना सकते है; अपने कर्म तथा आचरण को सुधार सकते हैं तथा अपनी मानव-जाति का भी कल्याण कर सकते हैं।

परमपिता परमात्मा से मिलने के लिए युक्ति

यदि आज हम आत्म-बुद्धि बन सकें और अपने जीवन तथा आचरण को पवित्र बना सकें तो निस्सन्देह हम परमप्रिय परमात्मा से मिल सकते है, उनसे बात-चीत कर सकते हैं और उनको अपनी फ़रियाद या निवेदन सुना सकते है। आज निश्चय ही वे (परमात्मा) हमारी प्रत्येक बात सुन सकते हैं, हमें अपना समय दे सकते है। और हमारी सर्व शुभ-इच्छाएं पूरी कर सकते हैं परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ने, उनका बनने और उनको अपना बनाने तथा नयी सतोगुणी अथवा सतयुगी सृष्टि के लिए उनसे सब-कुछ प्राप्त करने की यही परम पावन और शुभ घड़ी है। नई सृष्टि की स्थापना और पुरानी सृष्टि के अन्त का यह मनोहारी सुनहरा समय है, और इस अनोखे विचित्र सुहावने समय पर ही परमात्मा के साथ आत्माओं का मिलन हो रहा है। यह पुरानी दुनिया की रात और नई दुनिया के

है। हम प्राय: लोगों को ऐसा कहते हुए सुनते हैं कि, 'भगवान् मनुष्य के हृदय से निकली हुई सच्ची आवाज़ को सुनता है और इच्छित फल देता है।' यही कारण है कि भारी संख्या में लोगों को हम नित्य ही ईश-प्रार्थना करते देखते हैं। मनुष्य समाज में ऐसी परम्परा है कि जो उच्च व्यक्ति कोई सेवा करके या जन-हित के लिए कोई कार्य करके जाता है उसे स्मरण किया जाता है तथा उसकी जयन्ती आदि मनाई जाती है। यह प्रकट है कि परमपिता परमात्मा ने कभी-न-कभी इस सृष्टि पर अवतरित होकर मानव जाति का कोई परम कल्याण का अलौकिक कार्य किया है कि उनकी इतनी ज्यादा याद की जाती है और उनकी इतनी अधिक महिमा गाई जाती है। अस्तु।

तो, परमपिता परमात्मा से हम मनुष्य-आत्माओं के मिलने का और उनसे अपनी सर्व इच्छाएं पूर्ण करने का अलौकिक एवं अनमोल समय कौन-सा है? इस संसार में परमात्मा का अनुपम और अप्रतिम कार्य ही है नई सृष्टि की रचना करना, ऐसी मानवीय सृष्टि जिसमें सभी मनुष्यात्माएं सतोगुणी, सर्वगुण सम्पन्न और सब प्रकार से सुखी हों। चूँकि आज मनुष्यात्माएं इतनी अधिक दु:खी हैं और विकारों से पूर्णरूप से ग्रस्त मानवीय सृष्टि बिलकुल ही जीर्ण-शीर्ण तथा जर्जर दिखाई पड़ रही है, इसलिए यह प्रकट है कि नई सुखी सृष्टि रचने के लिए परमात्मा के दिव्य एवं अलौकिक कार्य का समय अब आ पहुँचा है। वस्तुत: यह तमोगुणी पुरानी सृष्टि की रात के समाप्त होने का और सतोगुणी नयी सृष्टि के दिन के उदय होने का समय है — यह नई सृष्टि की शुभ स्थापना की वह पावन प्रभात वेला अथवा अमृतवेला है, जबकि परमात्मा का नव-रचना का कल्याणकारी और परम सुखकारी कार्य प्रजापिता ब्रह्मा के मानवीय तन द्वारा हमारी इस पृथ्वी पर चल रहा है। संसार में परमात्मा से मिलकर मनुष्यात्माओं को अपना-अपना परम सौभाग्य बनाने का वस्तुत: यही समय है।

परमपिता परमात्मा से सम्पर्क

इसी प्रकार, यही समय है जबकि हम अपने परमपिता परमात्मा से अव्यक्त सम्बन्ध जोड़कर उनकी सूक्ष्म तथा शुद्ध प्रेरणाओं को पकड़ सकते हैं। इस सम्बन्ध में टेलीफ़ोन का उदाहरण बड़ा ही सटीक बैठता है। जैसे टेलीफोन पर बात करने के लिए उसका आधार लेकर 'कनेक्शन' (सम्पर्क) जुटाना पड़ता है और जब कनेक्शन जुट जाता है तभी हम बात-चीत कर सकते हैं, ठीक इसी प्रकार जीवात्मा का जब परमपिता परमात्मा

के साथ शुद्ध सम्बन्ध या 'कनेक्शन' लग जाता है तभी जीवात्मा अपनी बात परमपिता परमात्मा त्रिमूर्ति शिव से निवेदित कर सकती है। यह 'कनेक्शन' ही परमपिता परमात्मा के साथ जीवात्मा का बुद्धियोग कहलाता है। यदि बुद्धियोग पूरा लगा हुआ हो तो निश्चय ही हम परमप्रिय परमपिता परमात्मा शिव की दी हुई प्रेरणाओं को पकड़ सकते हैं। इसके विपरीत, यदि बुद्धियोग पूरा लगा हुआ न हो अथवा 'कनेक्शन' बीच में टूट गया हो तो हमारे निवेदन नीचे के तमोगुणी वायुमण्डल में दबकर रह जाते हैं। परमपिता के प्रिय वत्सों अर्थात् हम मनुष्यात्माओं के लिए आज इसी ओर सजग और सतर्क रहने की सबसे अधिक आवश्यकता है।

चूँकि इस समय हमारी इस पृथ्वी पर सृष्टि-परिवर्तन के पावन एवं अलौकिक कर्त्तव्य स्वयं परमपिता परमात्मा अथवा ईश्वर द्वारा सम्पन्न किए जा रहे हैं, इसलिए हम मनुष्यात्माओं को अपने सम्मुख यही परम एवं सर्वोत्तम लक्ष्य रखना है कि अपने अलौकिक परमपिता परमात्मा से हम सम्पर्क स्थापित करें और संसार में उनकी उपस्थिति से पूरा-पूरा लाभ उठावें। आज के परम पावन और सौभाग्यकारी अवसर पर यदि आत्मस्थ अथवा देही-अभिमानी बनकर हम परमात्मा के साथ निश्छलता-दृढ़ता और पूरी निरहंकारिता तथा समर्पण की भावना से बुद्धियोग जुटायें तो दिव्य एवं शुद्ध प्रेरणाओं को पकड़ कर स्वयं अपना 'प्रैक्टिकल' जीवन बना सकते है; अपने कर्म तथा आचरण को सुधार सकते हैं तथा अपनी मानव-जाति का भी कल्याण कर सकते हैं।

परमपिता परमात्मा से मिलने के लिए युक्ति

यदि आज हम आत्म-बुद्धि बन सकें और अपने जीवन तथा आचरण को पवित्र बना सकें तो निस्सन्देह हम परमप्रिय परमात्मा से मिल सकते हैं, उनसे बात-चीत कर सकते हैं और उनको अपनी फ़रियाद या निवेदन सुना सकते हैं। आज निश्चय ही वे (परमात्मा) हमारी प्रत्येक बात सुन सकते हैं, हमें अपना समय दे सकते है। और हमारी सर्व शुभ-इच्छाएं पूरी कर सकते हैं परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ने, उनका बनने और उनको अपना बनाने तथा नयी सतोगुणी अथवा सतयुगी सृष्टि के लिए उनसे सब-कुछ प्राप्त करने की यही परम पावन और शुभ घड़ी है। नई सृष्टि की स्थापना और पुरानी सृष्टि के अन्त का यह मनोहारी सुनहरा समय है, और इस अनोखे विचित्र सुहावने समय पर ही परमात्मा के साथ आत्माओं का मिलन हो रहा है। यह पुरानी दुनिया की रात और नई दुनिया के

उदय--प्रभात का सन्धिकाल या संगम का समय है तो परमात्मा तथा आत्माओं के मिलन का यह संगम-काल है। ऐसे सुनहरे संगम के समय को व्यर्थ अथवा बरबाद करना, ऐसी शुभ घड़ी या अमृत वेला में परमप्रिय परमपिता परमात्मा से मिलने से चूकना अपना सदा के लिए सौभाग्य गँवा देना है।

मनुष्य के संकल्प हैं मकड़ी का जाला

जैसे मकड़ी अपने मुख से जाला निकालती रहती है और उसमें स्वयं ही फंसती जाती है, ऐसे ही आज **मनुष्य अपने संकल्प-विकल्पों का जाल फैलाता रहता है और उसमें फँस जाता है।** मकड़ी तो फिर भी उस जाले को खाकर उससे अपने को छुड़ा लेती है, लेकिन मनुष्य तो इतना निर्बल और अनजान हो गया है कि वह यह भी नहीं जानता कि इस अपने ही फैलाये हुए जाल से कैसे निकले? अत: अब परमपिता परमात्मा कहते हैं कि अपने विकल्पों को समेटने से ही इस जाल से निकल सकते हैं।

आपने देखा होगा कि कभी-कभी मकड़ी का जाला जैसे ही बढ़ता जाता है मकड़ी उसके सहारे नीचे उतरती जाती है और फिर थोड़ी देर बाद ही वह उस जाले को समेटती (खाती) जाती है और इस प्रकार ऊपर चढ़ती जाती है।

इसी तरह मनुष्य के संकल्प-विकल्प ही मनुष्य को नीचे गिराते हैं। अत: ऊपर उठने के लिए उसे चाहिए कि वह अपने ही संकल्पों अथवा बुद्धि की तार द्वारा ऊपर चढ़े। इस प्रकार वह परमपिता परमात्मा के पास भी पहुँच सकता है।

व्यवसायात्मिका बुद्धि और निश्चयात्मिका बुद्धि

द्वापर युग से लेकर जब से संसार में दुःख और अशान्ति प्रवेश हुए तब से लेकर दिनोंदिन जीवन अधिकाधिक कठिन होता गया। सतयुग और त्रेतायुग में अन्न, फल, वनस्पति आदि सहज उपलब्ध हो जाते थे। कृषि कठिन नहीं थी, जमीन उपजाऊ थी, वर्षा समय पर होती थी। लोगों को हल चलाने में अधिक मेहनत नहीं करनी पड़ती थी। परन्तु जैसे-जैसे समय बदलता गया, सभी घटक (Factors) कठिनाई उत्पन्न करने वाले होते गये क्योंकि मनुष्य के अपने कर्मों ही का परिणाम उसके अपने सामने आने लगा। सतयुग में न तो व्यापार आदि की दुकानदारी अथवा वाणिज्य की तरह से बुद्धि को जज़्ब करने वाला था, न तब वकील और डॉक्टर के जैसे व्यवसाय हुआ करते थे। बल्कि जीवन निर्वाह सुगमता से, निश्चिन्तता से, बिना किसी भय के, बिना किसी मुकाबले (Competition) और ईर्ष्या के हुआ करता था। समय परिवर्तन के साथ-साथ द्वापर युग से लेकर तो लोगों को 8-10 घण्टे अपने व्यवसाय में ही देने पड़े। प्रतिदिन, प्रतिमाह, प्रतिवर्ष निरन्तर अपने व्यवसाय ही की बातें सोचने और करने में मनुष्य लगा रहता। और, ये सभी व्यवसाय ऐसे होते गए कि इसमें अधिक मेहनत लगने लगी, चिन्ता होने लगी, व्यवसाय मंद होने अथवा छिन जाने का भय लगा रहने लगा और दूसरे व्यवसायियों के साथ उनकी होड़ रहने लगी। पैसे का लेन-देन भी दिन-ब-दिन पेचीदा होता गया, पैसे का महत्व भी बढ़ता गया, पैसे का मूल्य घटता भी गया। इस सबका परिणाम यह हुआ कि प्रतिदिन 8-10 घण्टे अपने-अपने कार्य में लगे रहने के कारण मनुष्य की बुद्धि व्यवसायात्मिक हो गई।

बात यहाँ तक पहुँच गई कि लोग अपने व्यवसाय से ही पहचाने-जाने लगे। लोहार, बढ़ई, मिस्त्री — इस प्रकार से हरेक व्यक्ति का परिचय होने लगा। यहाँ तक कि भारत में इसी के आधार पर जाति-पाति बन गयी और जाति-पाति के आधार पर व्यवसाय होने लगे। आज भी लोग वकील, डाक्टर, प्रोफेसर, इंजीनियर, संसद सदस्य इत्यादि व्यवसायों के ही आधार पर जाने जाते हैं। उनके पत्राचार के पन्नों पर भी उनके नाम के साथ उनका धन्धा लिखा रहता है। इस प्रकार, व्यवसाय न केवल मनुष्य की पहचान का एक निमित्त कारण बन गया बल्कि मनुष्य की बुद्धि उसी में ही लगी रहने लगी। बहुत बार ऐसा भी देखा गया कि अपने व्यवसाय से

गया है क्योंकि वैसा ही सोचते-सोचते तदुरूप हो गया है।

निश्चयात्मिका बुद्धि

वास्तव में मनुष्य का स्वरूप अपने व्यवसायात्मिक रूप से भिन्न है। न वह वास्तव में बाबू जी है न बॉस, न मैनेजर साहब और न वकील साहब। अपनी जीवन-यात्रा में वह पहले 'मुन्ना' या 'मुन्नी', बेटा या बिटिया, या अपने नाम या उपनाम (Sir name) से बुलाया जाता है। यह सब तो बदलने वाली उपाधियाँ हैं। इन सबके पीछे 'मैं' शब्द का प्रयोग करने वाली जो चेतन सत्ता है, वह तो अनादि और अविनाशी आत्मा ही है। जो कि एक ज्योतिकण अथवा ज्योतिर्बिन्दु ही है और अपने आदि स्वरूप में कर्मातीत अथवा कर्म में साक्षी एवं अनासक्त है। परन्तु यह व्यवसाय करते-करते अब व्यवसायात्मिका हो गई है। निरन्तर 8 घण्टे से भी अधिक इसका योग व्यवसाय ही की बातों में लगा रहा है। अपने व्यवसाय से हटकर वह बीच-बीच में अपने स्वरूप का, यह निश्चय तो करती ही नहीं कि 'मैं आत्मा हूँ', 'ज्योर्तिबिन्दु हूँ', 'शान्त और शुद्ध हूँ', 'अपने आदि स्वरूप में कर्मातीत हूँ' इत्यादि। इतनी-इतनी देर तक निश्चयात्मिका स्मृति, निश्चयात्मिका वृत्ति और निश्चयात्मिका स्थिति का स्विच (Switch) ऑफ कर देने से वह व्यवसायत्मिका स्मृति, वृत्ति और स्थिति ही में डूबी रही है। इसके परिणामस्वरूप उसे व्यवसायात्मिका बने रहने की टेर बनी रहती है। अब उसे किसी और तरफ लगाने का यत्न करती भी है फिर-फिर से वह व्यवहार ही की तरफ लौट कर जाती है। गोया अपनी आदत से मजबूर हो गई है। टाले भी टलती नहीं। अब जब उसकी ऐसी गति-मति हो गई है तब उसे निश्चयात्मिक बनाने में बड़ी मेहनत लगती है।

इसी बात को ध्यान में रखते हुए हमें शिवबाबा ने कहा है कि व्यवसाय अथवा धन्धा-धोरी करते हुए थोड़े-थोड़े समय के बाद अपने स्वरूप को याद करो — अपने को आत्मा समझो, बुद्धि को परमधाम में, कर्मातीत अवस्था पर ले जाओ और फिर जब दोबारा व्यवसाय करना शुरू करते हो तो स्वयं को साक्षी मानकर कर्म करो ताकि बुद्धि ठोस व्यवसायात्मिक न हो जाए। बल्कि शिवबाबा ने तो यह समझाया है कि व्यवसाय का कार्य प्रारम्भ ही बाद में करो और सबसे पहले यह सोचो कि मैं एक आत्मा हूँ, ज्योर्तिबिन्दु हूँ, अपने स्वरूप में शान्त हूँ और फिर यह स्मरण करो कि ''मैं परमधाम से आकर शरीर में प्रवेश करके कर्मेन्द्रियों का आधार लेकर इस कर्म-क्षेत्र पर कर्म करता हूँ, परन्तु प्रकृति के इस पराए जगत से फिर मुझे वापस जाना है।'' इस प्रकार बार-बार अपनी बुद्धि को व्यवसायात्मिक की बजाए निश्चयात्मिक करो और व्यवसाय करते हुए भी इस निश्चय अथवा स्मृति से

ज़्यादा दूर न जाओ।

इसके अतिरिक्त बाबा ने यह कहा है कि व्यवसाय करते हुए भी स्वयं को डॉक्टर साहब, मैनेजर, बाबू जी अथवा बॉस निश्चय न करो, बल्कि यह समझो कि यह तो जीवन रूपी ड्रामा में मेरा पार्ट है परन्तु इस पार्ट को बजाने वाला मैं 'स्वयं' इससे अलग अथवा भिन्न हूँ। मैं एक आत्मा हूँ और शिवबाबा का बच्चा हूँ। यह तो शरीर के निर्वाह-अर्थ व्यवसाय के आधार पर मेरे नाम पड़े हैं परन्तु मैं तो शरीर ही से अलग एक चेतन आत्मा हूँ। व्यवसाय करते हुए भी इस प्रकार स्वयं को न्यारा बनाकर रखो ताकि बुद्धि पूर्ण रूप से व्यवसायात्मिका न हो जाए, निश्चयात्मिका भी बनी रहे।

शिवबाबा ने एक युक्ति यह भी बताई है कि जो भी व्यवसाय करते हो, उसको करते समय यह सोचो कि मैं तो निमित्त अथवा प्रन्यासी (Trustee) हूँ। ऐसा सोचने से स्वत: ही शिवबाबा की याद आयेगी और शिवबाबा की याद आने से अपने स्वरूप अर्थात् आत्मा के परिचय की भी याद आयेगी। गोया बुद्धि थोड़ी-बहुत तो निश्चयात्मिका हो ही जाएगी।

जो महिलाएं गृहिणी का कार्य करती हैं, उनके लिए भी बाबा ने कहा है कि जब वे भोजन बजायें तो ये सोचें कि भगवान् के लिए भोग बना रही हूँ। परमात्मा को ही पतियों का पति मानें। उसके साथ ही अपने सब सम्बन्ध समझते हुए गृह कार्य अथवा व्यवसाय करें। इस युक्ति से उनकी बुद्धि व्यवसायात्मिका की बजाए निश्चयात्मिका हो जाएगी।

विशेष बात यह कि बाबा ने कहा है कि दिन में कम-से-कम 5-7 बार और खास तौर पर अमृतवेले (जबकि हमें कोई भी व्यवसाय नहीं करना होता) तथा रात्रि को सोते समय (जबकि हमारा व्यवसाय समाप्त हो चुका होता है), पूर्ण रीति से निश्चयात्मिका बुद्धि का अभ्यास करना चाहिए। व्यवसाय की बातों को एकदम भुला देना चाहिए। अपने स्वरूप में स्थित होना ही 'निश्चयात्मिक बुद्धि' होना है। इसी का दूसरा नाम सहज राजयोग है।



वृत्ति द्वारा वायुमण्डल का परिवर्तन

जब हम एकाग्रचित्त हो, अशरीरी अवस्था में स्थित होते हैं और देहभान से परे हो अपने लाइट (Light) और माइट (Might) स्वरूप में स्थित होते हैं, अर्थात् जब आत्मा बाप की समानता में आती है तो फिर बाप के जो भी गुण हैं, वे आत्मा के भी गुण हैं – ऐसी समानता का बहुत आनन्दायक अनुभव होता है। जितना-जितना समानता के उन गुणों में डूबते जाते हैं तो अनुभव करते हैं कि ये गुण असल में मेरे (मुझ आत्मा के) ही हैं, मुझ आत्मा को इस सम्पूर्ण स्थिति को प्राप्त करना है। ऐसी सम्पूर्ण स्थिति में ही हमारी वृत्ति वायुमण्डल को परिवर्तन करती है।

हमारी वृत्ति किसी आत्मा में नहीं है, किसी एक आत्मा की उन्नति के लिए नहीं, किसी व्यक्ति विशेष में नहीं, किसी इष्ट देव में नहीं और किसी सम्बन्ध में भी नहीं। हमारी वृत्ति तो एक ऊंचे से ऊंचे बाप में रहती है, टॉवर ऑफ साइलेन्स (Tower Of Silence) में रहती है। वृत्ति में एक शिवबाबा रहने से वृत्ति पावरफुल (Powerful) हो जाती है और इस वृत्ति से वायुमण्डल परिवर्तन होता है।

जैसे सूर्य अपनी गर्मी की शक्ति से, भूमि कितनी दूर होते हुए भी गन्दगी के कीड़ों को भस्म करता है, अपने तेज के आकर्षण से दूर की वस्तु को परिवर्तन कर देता है, अपने प्रकाश से अंधकार मिटाकर उजियारा कर देता है, वैसे ही हम मास्टर ज्ञान सूर्य को भी अपनी शक्ति के तेज से, ताप ज्वाला से विकर्मों का विनाश करना है, संस्कारों को परिवर्तन करना है, पुरानी दुनिया के वायुमंडल को भी परिवर्तन करना है, अज्ञान अन्धकार मिटा कर ज्ञान प्रकाश करना है और अपने चमत्कार से अनेक आत्माओं की बुद्धि को आकर्षित करना है। लेकिन यह तब हो सकता है जब हम ज्वालामुखी बन जाएं। इसलिए इस योग का नाम योगाग्नि, योगज्वाला, योगशक्ति, योग तेज है जिससे ही बाप समान बनकर सारी सृष्टि को सकाश देना है।

वृत्तियों को परिवर्तन करना ही हमारा विशेष कार्य है। जैसे शक्तियों को यादगार चित्रों में भी दिखाते हैं कि उनके हस्त आर्शीवाद के निमित्त बनते हैं, नैनों में एकाग्रता का अनुभव होता है। ऐसा लगता है जैसे वह चित्र नैनों से शीतलता, शान्ति बरसा रहा हो। जब भी हमारे सामने कोई आये तो हमारे नैनों से उसकी वृत्तियों की चंचलता खत्म हो जाए। हमारे चलने, फिरने, बोलने से उसकी हलचल बन्द हो जाए और उसकी बुद्धि एक आत्मा में टिक जाए – यही है वृत्ति द्वारा वायुमण्डल का परिवर्तन।



निर्विकल्प अवस्था

वि कर्म विनाश करने के लिए सहज युक्ति है निर्विकल्प अवस्था को धारण करना, क्योंकि कर्मातीत परमात्मा की और अपनी निस्संकल्प स्थिति (कर्मातीत स्थिति) की याद में रहने से ही, वर्तमान काल में भी ऐसी अवस्था हो जाती है, जिसमें कि मनुष्य के पिछले जन्म-जन्मान्तर के संस्कार पलटते जाते हैं, दिव्य गुण सहज ही धारण होते जाते हैं और पिछला हिसाब-किताब चुक्तू हो जाता है।

वास्तव में, मनुष्य निस्संकल्प और निर्विकल्प भी उतना ही बन सकता है जितना-जितना कि उसके विकर्म विनाश होते जाते हैं और संस्कार पलटते जाते हैं, क्योंकि संस्कार अथवा विकर्म ही तो मनुष्य के मन को दूसरी तरफ खेंच ले जाते हैं। तो कर्मातीत बनने के लिए निस्संकल्प बनना, निर्संकल्प बनने के लिए कर्मातीत अवस्था को याद करना, और याद करने के लिए, निर्विकल्प परमात्मा का, उनके निस्संकल्पता के धाम (निर्वाणधाम) का और उनकी निर्विकल्प रचना अर्थात् वैकुण्ठ का ज्ञान होना ज़रूरी है। ज्ञान के बिना निस्सकल्प और निर्विकल्प अवस्था हो नहीं सकती और निस्संकल्पता तथा निर्विकल्पता ही तो ज्ञान का लक्षण है अथवा लक्ष्य प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ है। परन्तु यह पुरुषार्थ परमात्मा के सिवाय अन्य कोई भी सिखा नहीं सकता। जब सम्पूर्ण कर्मातीत परमात्मा ही निस्संकल्पता के धाम अर्थात् परमधाम से आकर सबको निर्वाणधाम में ले जाने का पुरुषार्थ कराते हैं तब ही मनुष्य निर्विकल्पता का वास्तविक अर्थ समझ सकता है और यथार्थ रीति निर्विकल्प हो सकता है।

निस्संकल्पता की अवस्था वड़ी ही मीठी है, क्योंकि निस्संकल्प मनुष्य यहाँ बसते भी नहीं वसता, यहाँ के व्यवहार में वर्तते हुए भी उससे उपराम होता है, कारण कि उसका बुद्धियोग तो निस्संकल्पता के धाम अर्थात् निर्वाणधाम से और निर्विकल्पता के धाम अर्थात् वैकुण्ठ से लगा होता है। निस्संकल्प हो ही वह सकता है जिसकी एक आंख में निर्वाणधाम और एक में जीवनमुक्ति धाम वसा हुआ हो अर्थात् जो इस दुनिया को देखते हुए भी न देखता हो, यहाँ चलते-फिरते भी अपनी मंज़िल की याद में रहता हो।

निस्संकल्प आत्मा का अनुभव भी लौकिक न होकर अलौकिक ही होता है, क्योंकि वह परलोक अथवा अलोक (वैकुण्ठ) में बसता है। उसे ऐसा प्रवाह आता है जैसे कि वह अपने उस दूर धाम से, उस प्रिय देश से, थोड़े ही समय के लिए इस पुराने देश

में आया है और उसे तो अब यहाँ से शीघ्र ही वापिस लौट भी जाना है। तो इस पुराने देश की वह किस वस्तु से बुद्धियोग लगावे? अपनी वैकुण्ठ की राजधानी को याद करते हुए उसे इस मृत्युलोक के सांसारिक लोगों का विषयी 'सुख' तो सुहाता ही नहीं, यहाँ के थोथे मनोरंजन तो भाते ही नहीं; क्योंकि उसका दिल तो किसी और तरफ़ लगा होता है। इसलिए, यहाँ सब-कुछ करते हुए भी वह इन सबसे न्यारा रहता है और अपने कर्मों का फल यहाँ न पाकर वापिस सुखधाम (स्वर्ग) में जाकर पाता है। तो जबकि इस दुनिया से उसका दिल ही हटकर पिता परमात्मा से और उनके अव्यक्तधाम (परलोक) से तथा उनकी सुखमय रचना अर्थात् वैकुण्ठधाम से लग गया है तो उसे विकल्प अथवा फ़ालतू संकल्प आ ही कैसे सकता है? क्योंकि वह अब भली-भाँति समझता है कि निस्संकल्पता ही के रास्ते से वह वापिस अपने निर्वाणधाम को तथा निर्विकल्पता ही के रास्ते से अपने जीवनमुक्ति-धाम (स्वर्ग) को लौटकर अपनी पूर्ण प्रालब्ध प्राप्त कर सकता है।

वास्तव में, मनुष्य निस्संकल्प और निर्विकल्प भी उतना ही बन सकता है जितना-जितना कि उसके विकर्म विनाश होते जाते हैं और संस्कार पलटते जाते हैं,

विश्व में सामंजस्य, सद्भावना और सह-स्वरता (Harmony)

आज जन-जन में और पत्रों-पत्रिकाओं में इसी बात की चर्चा है कि – समाज में विभिन्न मतावलम्बियों, जातियों, सम्प्रदायों, भाषा-भाषियों, वर्णों और वर्गों इत्यादि में परस्पर और संस्वरात्मिकता (Harmony) की अत्यंत आवश्यकता है। सभी सभा-मंचों और रंग-मंचों से भी यही स्वर और यही आलाप सुनने को मिलता है कि झगड़े-रगड़े की बातों को छोड़कर पारस्परिक तालमेल, संस्वरता और संसुवाद्यता को ही प्राथमिकता देनी चाहिये वरना आज देश की शक्तियाँ और धन तथा साधन ग़रीबी, बीमारी और लोगों के दु:ख-दर्द दूर करने की बजाए आपसी फूट, दंगों और दुश्मनियों को ही ठीक करने पर खर्च हो रहे हैं। आज सब जगह मानसिक तनाव इतना बढ़ता जा रहा है कि स्थायित्व और शान्ति से काम करने का माहोल भी समाप्त-सा होता जा रहा है। आज ग़रीबों के आंसू पौंछने, दूर-दराज़ के गाँवों में जीवन की आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं को उपलब्ध कराने तथा देश में सुख-शान्ति और समृद्धि का वातावरण बनाने की बजाए, सब जगह अनबन, अलगाववाद, मनमुटाव और कट्टरवादिता का जो वातावरण बना हुआ है, उसको देखते हुए सब इस बात को महसूस करते हैं कि हमारे पारस्परिक सम्बन्धों, रहन-सहन के तरीकों तथा एक-दूसरे से व्यवहार करने के विधि-विधानों में परिवर्तन की आवश्यकता है वरना जिस गति से घृणा, द्वेष, बदले की भावना, असहिष्णुता और हिंसा की आग बढ़ती जा रही है, उससे तो राष्ट्र के संगठनों को और निज़ी जान और माल को भी खतरा पैदा हो गया है।

सद्गुणों और नैतिक मूल्यों की स्थापना की आवश्यकता

यदि गहराई से विचार किया जाए तो हम देखेंगे कि सद्गुण ही सुख का मूल है और दुर्गुण ही दु:ख के जनक हैं। जहाँ प्रेम रूपी सद्गुण होता है वहाँ एकता, सद्भावना, भाईचारा, पारस्परिक सहयोग इत्यादि भी होते हैं और इनसे खुशी का वातावरण बनता है। इसके विपरीत जहाँ ईर्ष्या, द्वेष या घृणा नामक दुर्गुण होता है, वहाँ अलगाव की भावना, आपसी मनमुटाव, झगड़ा, बदले की भावना और तनाव तथा अशान्ति का वातावरण होता है। इसी प्रकार, जिस समाज में न्याय रूपी सद्गुण हो, उस समाज के लोग एक-दूसरे को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं और निर्भय होकर एक-दूसरे से सद्व्यवहार करते हैं और वहाँ सन्तुष्टता और मित्रता का वातवरण बना रहता है। इसके विपरीत, जहाँ अन्याय, अत्याचार या शोषण हो, वहाँ वैर, विरोध, दुर्भावना और दु:ख

देखने को मिलते हैं। हम यह भी देखते हैं कि जहाँ मधुरता और मित्रता हो, वहाँ सह-अस्तित्व, सहयोग और स्नेह होता है और जहाँ कटुता और वैमनस्य हो वहाँ संदेह, अविश्वास, असहयोग और अनबन ही का माहोल होता है। इस विश्लेषण से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सद्‌गुण अथवा नैतिक मूल्य ही संवाद्यता (Harmony) के आधार हैं। यदि हरेक व्यक्ति वर्ग और विभाग या प्रभाग अपने कर्त्तव्य को दिव्य गुणों या नैतिक मूल्यों से युक्त कर के करता है और जाति-प्रजाति तथा देश एवं प्रदेश मर्यादा का पालन करते हैं तो समाज में सह-स्वरता (Harmony) एवं संवाद्यता बने रहते हैं वरना तालमेल और सामंजस्य को धक्का लगता है और दु:ख दरिद्रता, दंगा और धान्धलेबाज़ी ही का बोल बाला होता है। संस्वरता (Harmony) संवाद्यता और सामंजस्य से ही शान्ति होती है और इनके न होने से अशान्ति होती है तथा समस्याएं और प्रदूषण पैदा होते हैं। अत: अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि हरेक वर्ग तथा हरेक व्यक्ति को विशेष तौर पर किन नैतिक मूल्यों अथवा दिव्य गुणों के पालन पर ध्यान देना चाहिए ताकि समाज में सन्तुलन, सन्तुष्टता, शान्ति और शालीनता बनी रहें।

1. न्याय-व्यवस्था

अन्याय, अत्याचार और शोषण से पीड़ित व्यक्ति तो हाथ में शस्त्र उठा लेता है और मरने-मारने को तैयार हो जाता है। वह अपने साथ बर्बरता, अभद्रता, अवहेलना और न्याय-रहित व्यवहार को सहन न कर विद्रोह कर उठता है और उसे लगता है कि समाज का सारा ढाँचा ही एक ढोंग है और मनुष्य दूसरों को पछाड़कर स्वयं सिंहासन संभालने की होड़ और दौड़ में लगा है। भाई भी अन्याय के कारण भाई का दुश्मन हो जाता है। अत: समाज में शान्ति, सद्‌भावना, सह-स्वरता, संवाद्यता (Harmony) के लिये न्याय का होना बहुत बहुत ज़रूरी है। आज नारी को सामाज में उचित स्थान नहीं दिया जा रहा; इसलिये कई महिला संस्थाएं इस मुद्दे को सामने रखकर कार्यरत हैं। दहेज़ की प्रथाओं को लेकर नारी का शोषण भी होता है और उस पर आतंक व अत्याचार भी। इसी प्रकार, समाज के कई पिछड़े वर्गों को देश की सम्पत्ति, साधनों और सुविधाओं में कोई उचित भाग नहीं मिलता। ग़रीब-ग़रीबी में ही धँसे और फँसे हुए हैं और धनवान शान पा रहे हैं। इस प्रकार न सामाजिक न्याय है न आर्थिक। राजनीतिक न्याय भी नहीं है, क्योंकि थोड़े-से लोग ही एक पार्टी को छोड़कर दूसरी पार्टी में शामिल हो सत्ता हथियाए रखते हैं और अपनी ही खिचड़ी पकाने में लगे रहते हैं।

कानून तो बने हुए हैं ताकि अगर कोई व्यक्ति, संस्था जाति या सरकार कानून तोड़ कर दूसरे के साथ अन्याय करते हैं तो न्यायालय पीड़ित व्यक्ति को न्याय दिलाए।

न्यायालय के निर्णयों को लागू करने के लिये पुलिस, जेलखाने आदि संस्थाएं भी हैं। परन्तु न्याय बहुत महंगा है और न्याय प्राप्त करने के लिये धक्के बहुत खाने पड़ते हैं और देर भी बहुत लगती है। फिर, एक बार में न्याय न मिले तो आगे बड़ी अदालतों के दरवाज़े झांकने पड़ते हैं और दूसरी प्रकार के अन्याय का सामना करना पड़ता है।

अत: यदि वकील, न्यायालय के कर्मचारी और न्याय के ढाँचे में काम करने वाले व्यक्ति, कर्त्तव्यपरायण होकर सहानुभूति से और जल्दी-जल्दी न्याय उपलब्ध कराने में सहयोग दें और न्यायाधीश किसी भी प्रभाव, पक्षपात, पूर्वाग्रह, भेद-भाव तथा मनोमालिन्य से रहित हो न्याय करें तथा पुलिस, दण्ड-व्यवस्था और कानून का पालन कराने की ज़िम्मेदारी वाले कार्यकर्ता सतर्कता, ईमानदारी और मानवता को अपनाकर कार्य करें, तब इस समाज का ढाँचा न्याय पर टिका रह सकता है वरना न्याय व्यवस्था में गड़बड़ी होने से समाज का ढाँचा कभी भी सुदृढ़ नहीं हो सकता और समाज में तालमेल भी बना नहीं रह सकता क्योंकि अन्याय से पीड़ित लोग न्याय को अपने हाथ में लेकर हिंसा या मनमानी करते रहेंगे और अपराध-वृत्ति वाले तत्व भी निर्भय होकर अपराध करेंगे तथा देश की सभी व्यवस्था को दूषित कर डालेंगे।

न्याय एक ईश्वरीय गुण है। जो जितना निर्विकार है और निराधार (Independent) है, वह उतना ही शुद्ध मन से सही निर्णय दे सकते है और निर्भय होकर न्याय की बात कह सकते हैं। जिस पर जितनों के जितने एहसान हैं या जिसमें जितनी अपूर्ण आकाँक्षाएं हैं, या जिसमें जितना मोह, ममत्व, मनोमालिन्य या मतलबपरस्ती है, वह उतना ही उनसे प्रभावित होकर उतना ही दूषित निर्णय देगा या हेराफेरी करेगा। अत: आवश्यकता इस बात की है कि स्वयं न्याय व्यवस्था में लगे हुए व्यक्ति पहले ये समझ लें कि वे एक बहुत ही महत्वपूर्ण औरे ईश्वर-प्रिय महान् कार्य में लगे हैं और इसलिये वे अपने मन को धोकर, हाथों को साफ़ करके, उजाले में आकर, न्याय के कार्य को करें और यह याद रखें कि अगर कोई गड़बड़ी की, स्वयं को धोखे में डाला या इन्साफ का खून किया तो ऊपर वाला छोड़ेगा नहीं। आख़िर उस धर्मराज के दरबार में स्वयं भी न्याय की तुला में तुलना होगा और वहाँ न वकील होंगे, न लचकदार तर्क, न झूठे गवाहनामे, न फर्जी कार्यवाही, न कानून की तोड़-मरोड़, न लफ्फाजी, न सिफारिश, न नोटों की थैली, न झूठे हलफनामें (Oath), न इकरारनामें। वहाँ तो इन्साफ का थर्मामीटर इतना स्पष्ट दिखाई देगा कि अन्धा भी देख सकेगा। अत: जब तक न्याय के साथ शाश्वत कर्म-विधान को याद न रखा जाये तब तक न्याय ''मत्स्य न्याय'' ही बना रहेगा और लोग इन्साफ की धज्जियाँ उड़ाते रहेंगे। तब तक न्यायालय तो होंगे परन्तु न्याय उपलब्ध नहीं होगा और होगा भी तो मन को तसल्ली नहीं होगी।

अत: न्याय व्यवस्था के पवित्र कार्य में लगे लोगों को यह याद रखना चाहिये कि झगड़े-रगड़े (Conflicts) को कुशलतापूर्वक समाप्त करने और शान्ति तथा कानून की स्थिति बनाये रखना उनका धर्म है वरना समाज में अराजकता (Anarchy) हो जाएगी और खुलेआम अपराध होगा तथा जीना ही कठिन हो जाएगा।

2. प्रशासनिक व्यवस्था

समाज (Society) और जमघट (Mob) में एक यह भी बड़ा अन्तर है कि समाज में संगठन होते हैं और व्यवस्था होती है और समाज के लोगों ने किसी संस्कृति, सभ्यता और मूल्यों को स्वीकार कर एक-साथ रहने का निर्णय किया होता है। यदि व्यवस्था ही भंग हो जाये तो असमंजस (Confusion), गड़बड़ी (Dis-organisation) और खल-बली मच जायगी और किसी को यह मालूम नहीं होगा कि उसे क्या करना है और दूसरों के साथ कैसे तालमेल या सामंजस्य बिठाना है। तब न अनुशासन होगा न कार्यप्रणाली। अत: प्रशासन व्यवस्था तो समाज को संगठित, सुव्यवस्थित करने तथा कार्य को सुचारू रूप से करने-कराने के लिये अत्यन्त आवश्यक है और प्रशासक तथा प्रशासनाधिकारी उस संगठन का योग्यतापूर्वक नेतृत्व करने वाले, दिशा-निर्देश देने वाले और परस्पर सामंजस्य बनाये रखने वाले जागरूक और कुशल कार्यकर्ता, कार्यवाह, कार्य-निरीक्षक, अधीक्षक तथा प्रबन्धक होते हैं।

परन्तु यदि कोई अपनी ही इन्द्रियों पर शासन न कर सके, अपने ही संकल्पों-विकल्पों का निरीक्षक, अधीक्षक, समीक्षक और प्रबन्धक न बन सके, वह दूसरों के लिये प्रशासन-व्यवस्था कैसे बनाये रख सकेगा? जिसके अपने भी मन और बुद्धि में मुठभेड़ होती रहती हो वह कर्मचारियों में तालमेल कैसे लायेगा? जिसका हैड (मस्तिष्क) एक बात कहता हो, हार्ट (हृदय) कुछ भिन्न ही करना चाहता हो और हैंड (हाथ) कुछ और कर डालते हों, ऐसा "तृभंगी लाल" तो तीन अलग ही ताल ठोकेगा। जिसके विवेक, भावना और कर्म में ही मेल नहीं है, वह खेल क्या खेलेगा, वह तो फेल (Fail) ही होगा या जेल ही जाएगा। जिसका मन, वचन, कर्म एक हो और नेक हो वही तो व्यवस्था ला सकेगा। अत: एडमिनिस्ट्रेटर (Administrator) को चाहिये कि पहले अपनी मिनिस्ट्री (Ministry) ठीक करे, अर्थात अपनी निर्णय शक्ति, इच्छा शक्ति तथा कर्म शक्ति में सामंजस्य पैदा करे और अपनी इन्द्रियों पर कुशलतापूर्वक शासन करे। इसके लिये वह योग सीखे और योग का प्रयोग करे तो कर्म कुशलतापूर्वक होगा और अपनी अवस्था ठीक होने से व्यवस्था भी ठीक होगी। नैतिकतापूर्वक व्यवहार करने से वह नेतृत्व (Leadership) भी ठीक कर पाएगा और स्वयं पर शासन होने से प्रशासन, अधिशासन

तथा शासन-अनुशासन भी ठीक रीति चलेंगे।

3. राजनीतिक व्यवस्था

संगठित और व्यवस्थित समाज की कोई तो शासन-व्यवस्था हुआ ही करती है। हरेक देश का अपना कोई संविधान होता है और शासन का ढाँचा भी। आज तो राजनीतिक दल ही प्राय: हर देश के शासन की बागडोर अपने हाथ में संभालते हैं। किसी भी देश या प्रदेश के लोगों के शासन-कार्य की ज़िम्मेवारी लेना एक बहुत बड़ी बात है। यह कार्य तो वही कर सकते है जिसका पहले स्वयं पर शासन हो। इसलिये महात्मा गांधी भी पहले 'स्वराज्य' लाना चाहते थे और उसके माध्यम से 'राम राज्य' की स्थापना की बात कहा करते थे। अगर मनुष्य के मन पर माया अथवा रावण का राज्य हो तो वह 'राम राज्य' कैसे चला सकेगा? जिस मनुष्य के मन रूपी सिंहासन पर काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार या आलस्य विराजमान हों, वहाँ राम कैसे बैठ सकेगा?

'आज तो देश में अनेक दल हैं और सारा समाज ही दल-दल का बना हुआ है; उसमें जो कमल-सम हो, नैतिकता की नीति में निपुण हो और 'राम राज्य' या 'स्वराज' का नक्शा अपने जीवन में चरितार्थ करे, वही सही मानों में राजनीतिक नेता है। वरना जो अपना ही नेतृत्व नहीं कर सकता और अपनी इन्द्रियों का गुलाम है वह नेता कैसा? जिसके अपने 'मन' का विकारों से 'त्राण' मिला हो, ऐसे ही 'मन्त्री' के नेतृत्व की आज इस समाज को ज़रूरत है।'

यदि राजनीतिक नेता ही जाति, सम्प्रदाय, वर्ण वर्ग आदि भेद-भाव को मन में बनाये रखेंगे और केवल अपने ही कुटुम्ब-परिवार के लोगों की सोचेंगे तो देश में दंगे, फसाद और अलगाव की मांग तो होगी ही। अत: आवश्यकता इस बात की है कि राजनीतिक नेता का अपना व्यक्तित्व सुसंगठित (Integrated Personality) हो, यदि उसका अपना ही व्यक्तित्व संतुलित नहीं होगा तो उसको चिन्तन, व्यवहार और आचार में अव्यवस्था, असन्तुलन, उपद्रव, वैमनस्य तथा बिखराव (Disharmony) होगा ही।

यदि नेता केवल सत्ता-लोभ, शक्ति-लोभ, सम्मान-लोभ या आर्थिक-लोभ के ही वशीभूत होकर कार्य करेंगे तो न वे देश का भला कर सकेंगे न अपना। इसके विपरीत, यदि वे 'सर्वजन सुखाय', 'सर्वजन हिताय' सेवा समझ कर कार्य करेंगे तो वे जनता का भी आशीर्वाद प्राप्त कर सकेंगे, प्रभु का भी और स्वयं भी सन्तुष्ट होंगे तथा देश भी उनसे सन्तुष्ट होगा।

4. उद्योग, व्यापार और वाणिज्य व्यवस्था

मनुष्य को घर-वार, कार्य-व्यवहार, खान-पान, रहन-सहन इत्यादि के लिये कुछ तो सामान चाहिए ही। कोई ठोर-ठिकाना, कोई थाली-लोटा, कोई चाय-चीनी, कोई चादर-

विस्तर, कुछ तो ज़रूरत पड़ता ही है और ये सभी चीज़ें व्यापारियों ही से खरीदी जाती हैं और व्यापारी कई प्रकार का माल कारखानदारों से लेते हैं। इसमें पैसे का लेन-देन होता है और लाभ या मुनाफा सामने रहता है। परन्तु 'लाभ' अगर उचित सीमा के बाहर निकल कर 'लोभ' का रूप ले ले तो फिर वह समाज को पतन के गर्त में ले जाता है और बेचने वाले तथा खरीदने वाले, दोनों के लिये दु:ख का कारण बन जाता है क्योंकि सारा ढाँचा बिगड़ जाने से सभी को भुगतना पड़ता है।

परन्तु धन में चूँकि खरीदने की शक्ति है और सुख के लिये कई चीज़ें चाहिये होती हैं, अत: हरेक व्यक्ति का मन चाहता है कि उसके पास अधिक धन हो ताकि वह अधिक मात्रा में सुख की सामग्री जुटा सके। इसके अतिरिक्त, धन वाले के पास अधिक साधन देखकर, समाज में कार्य कराने की उसकी अधिक क्षमता देखकर, लोग धन वाले को अधिक मान देते हैं और अपनी भी कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उसकी प्रशंसा में लगे रहते हैं। इससे भी धन वालों को और अधिक धन बटोरने की आवश्यकता महसूस होती है तथा समाज में जो और धनी हैं, उनसे भी बड़ा धनी बनने की होड़ लग जाती है। इस सबका परिणाम यह होता है कि उद्योग और व्यापार में लगे व्यक्तियों के सामने यह प्रलोभन बना रहता है कि वे गलत या ठीक, किसी भी रीति से अधिकाधिक धन इकट्ठा करें। गोया धन कमाना ही उनके जीवन का धन्धा और लक्ष्य हो जाता है। वे साधन और लक्ष्य में अन्तर न समझ कर दोनों का सम्मिश्रण कर देते हैं और 'राम-नाम' की बजाए 'दाम-दाम' ही जपने लगते हैं और यदि राम-नाम जपते भी हैं तो भी इसलिये कि यहाँ भी धन मिले और आगे भी धन मिले।

यों धन कोई बुरी चीज़ नहीं है। परन्तु दूसरे का हक (अधिकार) न देकर, [illegible] करके, अन्यायपूर्वक, या अनैतिक ढंग से कमाया गया धन तो [illegible] के [illegible] है [illegible] [illegible] इस [illegible] है। [illegible] की [illegible] को [illegible] का [illegible] में जीवन का [illegible] [illegible] है।

वातावरण भी प्रदूषित हुआ है और कोलाहल भी बढ़ा है।

जहाँ भोग की सामग्री प्रचुर मात्रा में और विविध रूप में प्राप्त हुई है, वहाँ मनुष्य अधिक विलासी और भोग्य पदार्थों का गुलाम भी बना है। विशेष बात यह कि लड़ाई के लिये ऐसे नये-नये अस्त्रों-शस्त्रों का भी निर्माण हुआ है जिनसे मिनिटों में नगर ध्वस्त हो सकते हैं और जन-समूह नष्ट हो सकते हैं। कुल मिलाकर अभी जो सभ्यता है, उसमें भौतिकवादिता (Materialism) और भोगवाद (Consumerism) और मुनाफावाद (Commercialism) ही को मुख्य स्थान प्राप्त है। इनके परिणामस्वरूप मनुष्य यन्त्रों तथा कॅम्प्युटरों की भांति प्रेम से शून्य, भावना से रहित और दया, सहानुभूति तथा करूणा आदि मानवीय मूल्यों को छोड़कर नये-नये अविष्कारों की होड़ में लगा है। कई बातों में आशातीत प्रगति भी हुई परन्तु अपराध बढ़े हैं, कृत्रिमता बढ़ी है; प्रदूषण फैला है और मनुष्य प्राकृतिक वातावरण से दूर होता गया है। विज्ञान से निर्धनता मिटी नहीं, बीमारियों का अन्त नहीं हुआ, बल्कि निर्धनता की व्याख्या बदली है और नई प्रकार की बीमारियाँ आई हैं। जीवन में संघर्ष कम नहीं हुए बल्कि बढ़े ही हैं और मनुष्य में बर्बरता अधिक आई है और रूहानियत कम हुई है।

अत: आज आवश्यकता इस बात की है कि विज्ञान और अध्यात्म (Spirituality) का समन्वय हो। बौद्धिक विकास के साथ-साथ मनुष्य का भावना पक्ष और उसके मानवीय मूल्य भी उतने ही विकसित हों। मनुष्य अन्धश्रद्धा और शकुनवाद को तो छोड़े परन्तु साथ-साथ विश्वास और मानव-सम्मान (Human dignity) को भी स्थापित्व दे। वह भोगों को ही सर्वोपरि मूल्य न दे, बल्कि उन्हें साधन समझे वरना उनके कारण लड़ाई-झगड़ा बढ़ेगा और सामन्जस्य की बजाए असन्तुलन बढ़ेगा।

7. स्वास्थ्य व्यवस्था

जब पारस्परिक सम्बन्धों में अनबन, मनमुटाव और तनाव हो या प्रकृति से तालमेल न हो तो शारीरिक एवं मानसिक रोगों का होना स्वाभाविक है क्योंकि मानसिक तनाव एवं दुःखानुभूति और पीड़ा (Trauma) के परिणामस्वरूप मनुष्य की [illegible] (Nervous system) तथा सभी स्राव ग्रंथियों (Glands) पर बुरा प्रभाव पड़ता है और हृदय गति, रक्तचाप, पुट्ठों इत्यादि को हानि पहुँचती है। फिर, विज्ञान और तकनीकी के परिणामस्वरूप जीवन-पद्धति में जो फेर-बदल आये हैं और पर्यावरण में जो प्रदूषण हुआ है, उसके परिणामस्वरूप भी शारीरिक क्रियाओं-प्रक्रियाओं पर बुरा प्रभाव पड़ता है। प्रदूषित वातावरण का श्वास-प्रणाली और फेफड़ों पर प्रभाव पड़ता [illegible] है। [illegible] खाने की सामग्री में कई प्रकार के रासायनिक तत्व (Chemicals present [illegible]

इत्यादि मिले होने से रक्त का विषाक्त होना भी स्वाभाविक है। विज्ञान और तकनीकी के कारण बढ़ी भाग-दोड़ से मनुष्य की दिनचर्या में तथा रहन-सहन के तौर-तरीकों में भी तो बहुत अन्तर आया है मनुष्य यदि सारा काम यन्त्रों से करेगा और शरीर को आवश्यक व्यायाम देगा नहीं तो बिमारी का आक्रमण तो होगा ही।

अत: स्वास्थ्य व्यवस्था में महत्व तो दिया जाना चाहिये पारस्परिक सम्बन्धों में स्नेह, सौहार्द और सहयोग को तथा खाने-पीने के पदार्थों की शुद्धि को और प्रकृति तथा नियमों से तालमेल बैठाने वाली जीवन-पद्धति को। परन्तु आज ज़ोर दिया जाता है औषधि और इन्जैक्शन, एक्सरे तथा इ.सी.जी. पर और एन्टी बायोटिक्स और दर्द-अवरोधक या निद्रोत्पादक दवाइयों पर। यदि मनुष्य तनाव से मुक्त हो जाए, योग से युक्त हो जाए और स्वास्थ्य के नियमों पर चले तो एक-तिहाई से भी कम अस्पतालों की आवश्यकता पड़ेगी। अत: डाक्टरों, वैद्यों, चिकित्सकों या हकीमों को चाहिए कि रोगी को दवा-दारू के साथ स्वास्थ्य के नियम बतायें और जीवन में खुशी, शान्ति तथा सामन्जस्य लाने की भी युक्ति बतायें तथा उचित जीवन पद्धति पर भी प्रकाश डालें।

8. शिक्षा व्यवस्था

वास्तव में यदि शिक्षा में ही जीवन जीने की कला पर प्रकाश डाला जाए तब न तो अन्याय और अपराध बढ़ेगा, न प्रकृति से तालमेल भंग होगा और न रोग बढ़ेंगे, बल्कि मनुष्य दूसरों के साथ प्रेम, सहयोग तथा शान्ति से जीवन जीना सीख जाएगा। परन्तु आज शिक्षा-प्रणाली में विज्ञान और गणित, या अर्थशास्त्र एवं वाणिज्य पर तो जोर देते है, परन्तु मनुष्य शान्ति से कैसे जीयें और तनावमुक्त होकर समाज के साथ तथा पर्यावरण के साथ तालमेल कैसे बनाये रखें, इसको वान्छनीय स्थान नहीं दिया जाता। जब तक मनुष्य के जीवन में नैतिक मूल्यों का पालन नहीं होगा तो समाज में शान्ति तथा स्नेह का स्थायित्व होगा कैसे? शिक्षा ही तो मनुष्य को पशु के स्तर से ऊंचा उठा कर देवत्व की ओर ले जाने वाली सीढ़ी है। शिक्षा ही तो मन और बुद्धि को स्वच्छ करने वाला रसायन अथवा मस्तिष्क के लिये भोजन है।

अत: शिक्षा पद्धति में सुधार की आवश्यकता है ताकि मानव को जीवन के लिये सम्यक् दिशा-निर्देश मिले।

आज बहुत विद्वान लोगों में भी कई बार सहिष्णुता दिखाई नहीं देती। वे कट्टरवादिता, दुराग्रह और दौमर्नस्य के सीखचों के बन्दी हैं। कोरे तर्क से ही तो जीवन नहीं चलता; जीवन में प्रेम और सह-अस्तित्व का भी तो प्राणों की तरह आवश्यकता है। यदि शिक्षित व्यक्ति भी पक्का स्वार्थी, हठधर्मी, अड़ियल, अभिमानी, उच्छृंखल और इन्सानी

गुणों से रहित होगा तब तो यह संसार दंगल और लड़ाई का मैदान ही बना रहेगा। आवश्यकता तो इस बात की है कि मनुष्य में नम्रता, उदारता, स्नेह, सहयोग, सहानुभूति, सहिष्णुता और सद्भावना का विकास किया जाए। समाज में सुसंवादिता और सामन्जस्य लाने का यही तरीका है।

9. महिला-वर्ग

सच तो यह है कि बच्चे की शिक्षा तो पंगूढ़े से पहले ही शुरू हो जाती है। माता जब लोरी देती है और बच्चे का भरण-पोषण करती तथा उसकी स्वच्छता-स्वास्थ्य का कार्य करती है, तभी बच्चा जाने-अनजाने पाठ पढ़ना शुरू कर देता है। वह के.जी. (Kindergarden) और मान्टेसरी (Montassory) स्तर की शिक्षा से पहले ही अपनी माँ से पढ़ना शुरू कर देता है। माँ की आदतों का, कार्य-व्यवहार का, डांट और प्यार का, दुलार और पुचार का उस पर प्रभाव पड़ना शुरू हो जाता है। वह कोमलांगी तो होता है, उसका मन भी पिघले मोम की तरह होता है जिसे जैसा चाहो ढाल दो। बच्चे को जैसे खिलौने मिलते हैं, जिस माहौल में वह पलता और बड़ा होता है, विशेष रूप से माँ जिस प्रकार वातावरण बनाती और घटनाओं की व्याख्या या टिप्पणी करती है, वह बच्चे के लिये आचार-संहिता बन जाता है। यदि घर में माता-पिता के बीच ही तालमेल नहीं है, भाई-बहन भी लड़ते-झगड़ते रहते हैं, अड़ोसी-पड़ोसी में ही झगड़ा-रगड़ा है तो बच्चा उन सभी दृश्यों से भी तो प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगा। अत: महिलाओं की यह तो एक बड़ी ज़िम्मेदारी हो जाती है कि वे घर-बार कैसे चलाती हैं और बच्चों की देख-भाल कैसे करती हैं।

परन्तु आज महिलाओं का अपना भी अधिकार-क्षेत्र कितना है? स्वयं उनका समाज में स्थान क्या है? कन्या को बालक की तुलना में किस दृष्टि से देखा जाता है? पुरुष अपनी अर्द्धांगिनी से कैसा व्यवहार करता है? आज दहेज़ को लेकर भी मनुष्य कैसे नारी को भोग्या मानकर व्यवहार करता है? नारी का अपना निजी अस्तित्व ही क्या है? वह तो बच्चे पैदा करने वाली एक मशीन, घर को साफ करने वाली क्लीनर, धोबन, बावरची, न जाने क्या-क्या मानी जाती है। सेवा करना तो धर्म है, परन्तु प्रश्न यह है कि नारी के प्रति नर की दृष्टि क्या है और बच्चे के प्रति माता की दृष्टि क्या है?

आज आवश्यकता है सम्यक्-दृष्टि (Proper Outlook), सम्यक्-वृत्ति (Proper Attitudes) और सम्यक्-व्यवहार (Proper Behaviour) तथा ठीक आदत और आचार (Proper habis character) की। यदि मनुष्य का अपना व्यक्तित्व ही गठित (Integrated), सुसंवाद्यता (Hormonious) या मानवोचित नहीं होगा तो सामन्जस्य वाले

समाज की स्थापना होगी कैसे?

समाज का 50% प्रतिशत तो नारियाँ हैं। यदि उनका ही उचित सम्मान नहीं होगा और यदि उनका पुरुष शोषण करेगा तथा उन्हें बन्दी बना कर उनसे घटिया व्यवहार करेगा, तब समाज का विकास कैसे होगा? घर-घर ही यदि जेल बना रहेगा और नारी को बन्धुआ मज़दूर की तरह रखा जायेगा माता का मान नहीं होगा, बहन को आदर का स्थान नहीं होगा, कन्या को गंगा, सरस्वती नहीं माना जायेगा तो फिर समाज का सुधार होगा कैसे?

नारी भी जब तक ईश्वरीय ज्ञान को प्रज्वलित करके उसकी अग्नि में स्वयं को तपायेगी नहीं और योग की अग्नि में तपस्या करेगी नहीं, तब तक पुरुष वर्ग उसे भोग की सामग्री मानते रहेंगे और चिता पर सती होने का बर्बरता पूर्ण परामर्श देते रहेंगे।

इसलिये आवश्यकता है कि महिलाएं अपने स्वमान को समझ कर जगदम्बा के आसन पर बैठ कर जन-जन को ज्ञान की लोरी दें और इस प्रकार पवित्रता के बल से स्वर्ग का द्वार खोलें।

10. समाज सेवा

यों समाज के दु:ख दर्द को दूर करने या कम करने और साधनों तथा सुविधाओं का विकास करने और समाज की समस्याओं का हल करने का कार्य भी 'समाज सेवा' ही है और इसलिये विद्यालयों, अस्पतालों अनाथालयों इत्यादि का निर्माण तथा पीड़ित लोगों को राहत पहुँचाने का कार्य भी इसी के अनुरूप 'समाज सेवा' ही है। परन्तु जब हम यह जान जाते हैं कि अनेक प्रकार के रोग, अपराध और दु:ख नैतिक मूल्यों के अभाव के ही कारण से हैं तब इन मूल्यों की पुनर्स्थापना के कार्य को ही मूल तथा सम्यक् 'समाज-सेवा' कहा जा सकता है। जब तक मनुष्य आध्यात्मवाद को नहीं अपनाता और अपने मनन-चिन्तन, कार्य-व्यवहार उद्योग-व्यापार तथा घर-परिवार में नैतिक मूल्यों को नहीं अपनाता तब तक जातीय दंगे होते रहेंगे, कुछ लोग दूसरों का शोषण भी करते रहेंगे और प्राय: लोग समाज के हितों की अवहेलना कर स्वार्थ का जीवन भी जीयेंगे। इसकी बजाए यदि जन-जन में स्नेह और सहयोग के गुणों का उत्कर्ष किया जाए, उनमें सहानुभूति और सेवा की भावना का विकास किया जाये तो लोग एक-दूसरे के जीवन को सुखी बनाने में सदा तत्पर रहेंगे। इतना ही नहीं; बल्कि सत्य तो यह है कि अगर जीवन में दिव्य गुण आ जायें और मनुष्य के कर्मों में दुर्गुण और विकार न हों तो प्रकृति भी उपद्रव या उत्पात नहीं करेगी और लोग भी अपराध और आतंक से दूर रहेंगे और समाज एक सुखी समाज बन जायेगा। अत: आवश्यकता ऐसी आध्यात्मिक समाज सेवा की है जिससे मनुष्य अपने स्वरूप को पहचाने और विश्व-भ्रातृत्व की भावना से रहे तथा कर्मों की गति को जानते हुए

पाप से बच कर रहे। इससे ही समाज में संस्वरात्मिकता का भी वातावरण बनेगा और देश में शान्ति भी होगी।

11. युवा वर्ग

आज युवा वर्ग भी किन्हीं महान् आदर्शों से प्रेरित हाने की बजाए, राजनीतिक दलों की भेद-नीति, धड़े-बाज़ी और सत्ता लोभ से प्रभावित होकर, या विज्ञान और तकनीकी के भौतिकवाद तथा भोगवाद से प्रभावित होकर, देश की महान् संस्कृति और मर्यादाओं को छोड़ता जा रहा है। युवा तोड़फोड़ या द्रव्यपान, अनुशासनहीनता, निराशा या मायूसी (Depression) का शिकार होते जा रहे हैं। आज शिक्षा पर खर्च अधिक होता है, मेहनत अधिक है परन्तु पढ़ाई के बाद भी प्राप्ति का कोई भरोसा नहीं। इसलिये युवा-वर्ग समाज के ढाँचे से कुछ रूठा हुआ-सा और कुछ असन्तुष्ट-सा है। समाज में अनेक प्रकार के दबाव उस पर पड़ते हैं और जब वह नेताओं के वचनों और कार्यों में अन्तर पाता है तथा दैनिक जीवन में नैतिकता का अभाव और भोगवाद का बोलबाला देखता है, तो वह स्वयं भी आदर्श को छोड़कर उस बहाव में कूद पड़ता है।

परन्तु यदि युवा वर्ग अपनी ज़िम्मेवारी और अपने कर्त्तव्य को समझ जाये, अपने स्वमान में टिक जाये, आत्म-नियन्त्रण को जीवन में ले आये तो उसमें इतनी शक्ति है कि वह एक नये समाज के निर्माण में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते है। आज का युवा वर्ग जागरूक है। यदि वह आध्यात्मिकता को साथ लेकर चले तो वह अपनी दृढ़ता, मनोबल, आदर्शवादिता और शारीरिक क्षमता इत्यादि के आधार से एक न्यायपूर्वक समाज की नींव रखने की ज़िम्मेवारी निभा सकता है। उसके कन्धों में मज़बूती है, उसके इरादे पक्के हैं। वह करना या मरना जानता है और एक अच्छे आदर्श से प्रेरित होना चाहता है, परन्तु आवश्यकता है केवल आध्यात्मिक जाग्रति की। उससे उसके जीवन में दिव्य शक्ति का एक ऐसा स्त्रोत उठेगा कि जिसके सामने सभी मैल धुल जायेंगे, सभी हृदय निर्मल हो जायेंगे और प्यार की एक ऐसी धारा बहेगी कि समाज में तारतम्य, सामंजस्य और तालमेल हो ही जायेगा।

12. कला

कुछ लोगों ने यह नारा लगाया कि "कला कला ही के लिये है"; (Art is for art sake) उसमें नैतिकता या सामाजिक मूल्यों की कोई बात नहीं। अन्य ने कहा कि "कला जीवन के लिये है"; यदि वह जीवन को सौन्दर्य और मनुष्य को मन-बहलाव नहीं देती तो वह व्यर्थ है। अन्य लोगों ने कहा कि "कला तो समाज के लिये है।" यदि वह समाज की स्थिति के दर्पण का कार्य नहीं करती और समाज को दिशा-निर्देश नहीं देती त

अन्याय इत्यादि से मुक्त होने की प्रेरणा नहीं देती तो वह भला कैसी कला है? परन्तु जो कला जीवन-कला से हटकर, नियम-मर्यादा, चरित्र तथा चेतना को विपरीत दिशा में ले जाती हो वह भी कैसी कला है? कला वह है जो मनुष्य को सुख-शान्ति और भद्रतापूर्वक जीने के लिये अधिक कुशल बनाती हो, जीवन को आदर्श का रंग देती हो, कल्पना को लक्ष्य की ओर उड़ान देती हो, सौन्दर्य को कल्याण से जोड़ती हो और आत्मा को परमात्मा से मिलाने की चेष्टा करती हो, प्रकृति की छटा का चित्रण करते हुए परमेश्वर की ओर ले जाती हो। इन्द्रधनुष, तितली या फूलों में छटकती कला को देख कर उससे प्रभावित हुए बिना कौन रह सकता है? कोयल का गान सुन कर, प्रात: सूर्योदय का दृश्य देख कर, नदी या झील के तट पर धूप और छाँव का खेल देख कर कौन मन्त्र-मुग्ध हुए बिना रह सकता है? परन्तु कला का यह प्रताप उस में रंगों, रागों या नदियों-वनों की प्राकृतिकता तथा तालमेल के कारण ही तो है। अत: कला वह है जो मानव-जीवन में, समाज में, परिवार में, देश-देशान्तर में संस्वरात्मिकता का स्वर भर दे और लोगों के मनों में सामन्जस्य स्थापित कर दे।

निष्कर्ष

ऊपर की गई चर्चा या व्याख्या से हम इसी निष्कर्ष पर ही तो पहुँचते हैं कि सामंजस्य, तालमेल या सह-स्वरता (Harmony) के बिना न तो कला ही कला है, न शिक्षा-शिक्षा है और सभी विज्ञान, तथा सेवा-कार्य वर्ग अधूरे तथा असफ़ल हैं। हमने यह भी देखा कि दिव्यगुणों तथा नैतिक मूल्यों के उत्कर्ष से ही ऐसी संवाद्यता आती है और रंग-ढंग संवरता है। परन्तु यह दिव्यगुण और नैतिकता आध्यात्मिकता तथा योग साधना ही के माध्यम से आते हैं।

अत: जब तक समाज ने अथवा नर-नारी ने आध्यात्मिकता के रंग में अपनी आत्मा को नहीं रंगा और दिव्यता एवं पवित्रता से मन का मैल नहीं धोया तथा योग तपस्या से स्वयं को उज्वल, निर्मल एवं महान् नहीं बनाया तब तक यह संवाद्यता टिकाऊ रूप से नहीं आ सकती। आज विश्व में सह-स्वरता (Harmony), सामंजस्य समन्वय या संवाद्यता की पुनर्स्थापना के लिये यही ज़रूरी है कि हम स्वयं को पहचानें, अपने में दिव्यता को जगायें, कर्म-सिद्धान्त को जानते हुए अपने उत्तरदायित्व को पूरा करें, अपने सम्बन्धों में प्रेम भर दें और उन सम्बन्धों को ''आत्म-निश्चय'' पर सुदृढ़ता से टिका दें और इन सबके लिये आध्यात्मिक विद्या तथा सहज राजयोग से जीवन में पवित्रता और शान्ति लायें।



ब्रह्माकुमार जगदीश चन्द्र द्वारा सद्भावना सम्मेलन के उद्घाटन अवसर पर प्रस्तुत

सुसंवादिता (हार्मनी) के लिये पंचशील अथवा मैत्री एवं सुसंगति के लिये छः सूत्री फार्मूला

मैं समझता हूँ कि आज विश्व की जो स्थिति है, उसके सन्दर्भ में सुसंवादिता (Harmony) के प्रश्न ने विश्व की सबसे अधिक ज्वलन्त समस्या का स्थान ले लिया है। इसका कारण यह है कि आज हमारे सामने प्राय: जितनी भी समस्याएं हैं अथवा जितने भी झगड़े हैं, वे मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में अनबन से ही पैदा हुए हैं। एक समय था जबकि आणविक अस्त्रों की दौड़ और शीतयुद्ध ही विश्व के सबसे अधिक चर्चा के विषय थे। शीतयुद्ध की समाप्ति के बाद "पर्यावरण" ही सबसे मुख्य विषय बन गया। परन्तु रीओ में पर्यावरण शिखर सम्मेलन (Earth Summit) हो जाने के बाद, पारस्परिक तालमेल अथवा संवादिता या सुसंगिता (Harmony) ही मंच का मुख्य विषय बन गया है। विशेपकर अभी हाल ही में बोतस्निया-हर्ज़ेगोविना, सर्विया, सोमालिया, भूतपूर्व रूसी संघ के कुछेक राष्ट्रों, (Republics) ईराक, फिलिस्तीन के कुछ विवादग्रस्त इलाकों, दक्षिण् अफ्रिका, कम्बोडिया, टर्की, उत्तरी और दक्षिणी कोरिया, बंगलादेश, पाकिस्तान, श्रीलंका इत्यादि में जो-कुछ हुआ और स्वयं हमारे देश के कुछ प्रदेशों में जो घटनायें घटीं, तब से तो संवादिता के विषय पर सारे संसार का ध्यान गया है और इस पर विभिन्न स्तर के मंचों पर चर्चा हुई है। स्वयं हमारे देश, भारत, में, जो जाति-द्वेष (Communal Dis-harmony) की वारदातें हुई उनके बाद से तो यह विशेष कहा जा रहा है कि हमारे सामाजिक, राजनैतिक और जातिया तालमेल की यदि थोड़ी भी और हानि हुई तो पिछली अर्ध शताब्दि में हम संगठित रूप में जो-कुछ भी मूल्यवान उपलब्धियाँ कर पायें हैं, विशेपकर स्वतन्त्रता के संग्राम में इतने अधिक बलिदान देने के बाद जो-कुछ भी हम संजो पाये हैं, उस सबका मटियामेट हो जायेगा।

वास्तव में संवादिता और पारस्परिक तालमेल, जोकि आज हमारे देश की सुरक्षा के लिये व विश्व शान्ति के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं, के प्रश्न पर कई पहलुओं से चर्चा करने की आवश्यकता है, स्थानाभाव के कारण मैं यहाँ केवल उसके

पक्ष पर, अर्थात् केवल मानवीय सम्बन्धों को ठीक बनाये रखने पर ही चर्चा करूँगा ताकि इस थोड़े-से समय में मैं कुछेक विचार-बिन्दुओं को स्पष्ट एवं निष्कर्षात्मक रूप से सामने रख पाऊं। अत: मैं संवादिता अथवा संगिता (Harmony) के महत्वपूर्ण विषय से सम्बन्धित इस बात की ओर आपका बहु-मूल्य ध्यान खिंचवाना चाहता हूँ कि पाँच नैतिक नियम संवादिता के मुख्य आधार हैं।

संवादिता अथवा संगिता के लिये 'पंचशील'

मैं समझता हूँ कि आप मेरे इस विचार से सहमत होंगे कि संवादिता अथवा तालमेल बनाये रखने के लिये ये पाँच नैतिक मूल्य आधार अथवा नींव का कार्य करते हैं –

१. प्रेम तथा शुभ भावना – (मैंने इन दोनों मूल्यों को यहाँ इकट्ठा कर दिया है क्योंकि जहाँ प्रेम है वहाँ शुभ भावना तो होती ही है। मेरा यह भी सुझाव है कि यदि 'प्रेम' न भी हो सके तो कम-से-कम ''शुभ भावना'' तो हो ही)

२. न्याय और औचित्य – (मैंने इन दोनों को भी इकट्ठा कर दिया है क्योंकि न्याय में औचित्य अथवा सौष्ठव्य को भी सम्मिलित होना चाहिये और यदि प्रतिस्पर्धा भी हो तो उसमें भी नियम-पालन तथा औचित्य तो होना ही चाहिये)

३. मनुष्य के प्रति तथा मानवीय अधिकारों के प्रति सम्मान

४. सहनशीलता और

५. अहिंसा में दृढ़ आस्था और उसके प्रति प्रतिबद्धता (Commitment)

ये मूल्य ऐसे आधार भूत मूल्य हैं जिनमें अन्य कई मूल्य जोकि संवादिता अथवा सहस्वरता के लिये आवश्यक हैं, स्वत: ही उपजते हैं उदाहरण के तौर पर 'प्रेम' को ही लीजिए। इससे समायोजन (Adjustment) और दूसरों को अपने साथ स्थान देने (Accommodating) और उनके साथ समझौता करने (Reconciliation) तथा मिलजुल कर रहने (Co-existence) नामक सद्‌गुण स्वत: ही पैदा होते हैं। इसी तरह, ''मनुष्य और उसके अधिकारों के प्रति सम्मान'' नामक नैतिक मूल्य से दूसरों के धर्म अथवा उनकी आस्था के प्रति भी सम्मान पैदा होता है और यही तो धर्म-निरपेक्षता (Secularism) का प्राण है। बहुमत वाद (Democracy) भी इसी में शामिल है क्योंकि ये प्रणाली भी दूसरों के विचारों के प्रति सम्मान पर ही आधारित है। इसी प्रकार, 'अहिंसा के लिये प्रतिबद्धता' नामक गुण से भी सभी झगड़ों को न्यायिक विधि से, बातचीत से, लेन-देन करके, अथवा समझौता करके निपटाने का गुण आता है और इससे विधि-विधान-युक्त शासन-प्रणाली (Rule of Law), जोकि

संवादिता के लिये आवश्यक है, का प्रचलन होता है। न्याय और विधि-पालन से संविधान का पालन भी स्वत: ही होता रहता है। इस पर भी यदि कोई एक व्यक्ति अथवा सम्प्रदाय कोई ग़लत काम करता है तो दूसरा (व्यक्ति अथवा सम्प्रदाय) सहनशीलता का गुण धारण करके प्रेम से और विधि-विधान से दूसरों को जीतने और विधि-विधान को फिर से बनाये रखने का कार्य करता है। अत: ये पाँच नैतिक मूल्य जिनका हमने अभी उल्लेख किया है, मनुष्यों के सब स्तरों पर सम्बन्ध में तालमेल बनाये रखने वाले ''पंचशील'' हैं। इन पाँच को पाँच अंगुलियों पर गिना जा सकता है और ये उक्ति भी है कि जहाँ पाँच शुभ एकत्रित होते हैं, वहाँ परमेश्वर का वास (उपस्थिति) होता है।

राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर तालमेल के लिये अथवा संगिता एवं समझौते के लिये छ: सूत्री फार्मूला

यदि आप पूर्वोक्त पाँच नैतिक मूल्यों में छठा नियम (जिसे आप 'छठवीं सूझ' (Sixth-Sense) या 'छटी शक्ति', भी कह सकते हैं।) भी जोड़ना चाहे तो वह है— **दूसरों की भलाई के प्रति ध्यान** (Concern for the well-being of others) -- इसका अर्थ यह है कि अपने बारे में सोचने से पहले यह सोच लें कि इससे दूसरों का भी भला होगा या नहीं। इस नियम के पालन से मनुष्य का स्वार्थ, जो आज विश्व में हर स्तर पर व्यापक हो रहा है, वह मिट जायेगा। इस गुण को अपनाने से दूसरों के प्रति न्याय भी हो सकेगा। मैंने सोचा कि शायद इस गुण का आप पूवोक्त पाँच से अलग ही उल्लेख करना चाहेंगे ताकि समाज के जो कमज़ोर वर्ग हैं, उनके प्रति भी हमसे हमारे कर्त्तव्य की स्मृति बनी रहे। अत: यदि आप इसका अलग उल्लेख चाहते हैं तो इस सुझाव को आप ''राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय तालमेल अथवा समझौते का छह सूत्री फार्मूला'' कह सकते हैं। परन्तु गहराई से देखा जाय तो वास्तव में ''दूसरों की भलाई का ख्याल रखने का गुण'' ''प्रेम'' नामक गुण में आ ही जाता है। इसलिये यदि आप ठीक समझें तो इसे ''पंचशील'' ही कहें। उसका निर्णय मैं आप पर ही छोड़ता हूँ कि आप इसे 'पंचशील' के रूप में अपनायें या 'छह सूत्री फार्मूले' के रूप में।

मैं तो नम्रतापूर्वक यह सुझाव आपके समक्ष रखना चाहता हूँ कि जैसे अप्रैल, 1955 में बांडंग (Bandung) में निर्गुटीय राष्ट्रों के आन्दोलन (Non-Aligned Movement) ने ''पंचशील'' नामक मसौदा अपनाया था, हम ऐसे ही पाँच वाला यह समझौता यह ''पंचशील'' अपंनाएं जिससे कि सामाजिक,

आर्थिक तथा अन्य सभी कार्यकलापों में राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय, पारिवारिक तथा व्यक्तिगत स्तर पर संवादिता आये।

अगर हमारी सरकार हमारे देश की सभी राजनैतिक पार्टियों तथा धार्मिक जातियों का आह्वान करके उन्हें यह कहें कि वे इस पंचशील के बारे में अपना मन्तव्य प्रगट करें तो यह बहुत अच्छा होगा। इससे हमें एक ऐसा ढाँचा मिल जायेगा जिसके अन्दर ही हम सभी विवादों का शान्ति एवं स्नेहपूर्वक निपटारा कर सकेंगे और तालमेल बनाये रख सकेंगे।

परन्तु इन पाँच नियमों में अपने विश्वास की केवल घोषणा ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि ये पाँच नियम हमारे दैनिक जीवन में, हमारे कार्यविधि के नियामक एवं संचालक होने चाहिये और इसके लिये आवश्यक है कि हम अपने जीवन को आध्यात्मिकता की पुट (Orientation) दें। उदाहरण के तौर पर 'प्रेम' नामक गुण को ही लीजिये। आध्यात्मिक प्रसंग में 'प्रेम' शब्द से हमारा अभिप्राय है — ऐसा प्रेम जो इस विश्वास पर आधारित हो कि समूचा मानवमात्र हमारा एक वृहद परिवार है और हम सभी परस्पर भाई-भाई हैं और परमात्मा हमारे मात-पिता हैं और ब्रह्मा तथा सरस्वती अथवा एडम तथा ईव अथवा आदम और हव्वा हमारे आदि पिता तथा आदि माता हैं और इस आधार पर भाई-बहन हैं। इसीलिये हममें यह प्रेम का नाता है। इसके अतिरिक्त, इस विचार से प्रेम तथा अन्य गुण हमारे स्वभाव ही बन जायें, हमें ध्यान (योग;Meditation) का भी अभ्यास करने की आवश्यकता है। उस अभ्यास से एक बहुत बड़ा लाभ यह भी होगा कि उससे हम सभी तनावों से मुक्त हो जायेंगे और हममें शान्ति तथा प्रेम का निखार आयेगा।



सद्विवेक

सत्य और असत्य, पाप और पुण्य, विधि और निषेध, न्याय और अन्याय, कर्म और विकर्म, धर्म और अधर्म, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य सही और ग़लत के स्पष्ट, दुविधारहित, निश्चयात्मक और स्थाई बोध का नाम 'सद्विवेक' है। यदि सद्विवेक न हो तो मनुष्य विकर्म करता रहेगा, पाप का भागी बना रहेगा और सत्य से भटक जायेगा और इसलिये उसके दु:खों की श्रृंखला का अन्त नहीं होगा और उसके जीवन में अशान्ति के बीज अंकुरित होते रहेंगे। इसलिये ये बहुत ज़रूरी है कि मनुष्य को सद्विवेक की प्राप्ति हो। सद्विवेक के बिना सद्गति असम्भव है। यदि सद्विवेक नहीं होगा तो बुरे कर्मों से छुटकारा भी नहीं होगा और दूषित संस्कारों से किनारा भी नहीं होगा; तब भला मुक्ति और जीवन्मुक्ति की प्राप्ति कैसे होगी? इसलिये कल्याण रूपी लक्ष्य तक पहुँचाने वाली सीढ़ी 'सद्विवेक' ही है।

प्राय: सद्विवेक के लिये हंस का उदाहरण दिया जाता है। कहा जाता है कि जैसे हंस मोती चुगता है और कंकड़ छोड़ देता है या क्षीर और नीर को अलग कर लेता है, वैसे ही सद्विवेक व्यक्ति में ऐसी कुशलता है जिसके प्रयोग से वह दोषों को छोड़ देता है और सद्गुणों को अपनाता है, आसुरियता से हट जाता है और देवत्व की ओर आगे बढ़ता है तथा तमोगुण से निकलकर सतोगुण की ओर उन्मुख होता है। इसलिये, जिस व्यक्ति को सद्विवेक प्राप्त है उसे 'हंस' या 'परम हंस' की उपाधि दी जाती है। संसार की अन्य उपाधियाँ इस उपाधि की तुलना में तुच्छ हैं क्योंकि यदि बड़ी-बड़ी उपाधियाँ प्राप्त होने के बाद भी मनुष्य दिनोंदिन बुराई की दलदल में फंसता जाए और विकारों के गर्त में गिरता रहे तो उन उपाधियों का भला क्या लाभ? एक ओर मनुष्य को उपाधि प्राप्त हो और दूसरी ओर व्याधि भी साथ में मिले या मनुष्य अपराधी भी बना रहे, तब तो वह उपाधि सोने की ज़ंजीर अथवा पिंजड़े की तरह है, जिसमें कैदी होकर मनुष्य अपने जीवन को व्यतीत करता है। सद्विवेक तो ऐसी उपलब्धि है जिससे मनुष्य को समाधि प्राप्त होती है और अंततोगत्वा व्याधि का सैकड़ों-हज़ारों वर्षों तक नामों-निशान भी नहीं रहता।

सद्विवेक आत्मा के विकास की वह स्थिति है जिस द्वारा झूठ, फ़रेब, मक्कारी, निन्दा, बुराई, दुर्व्यसन, दुर्व्यवहार इत्यादि से मुक्त होकर आत्मा अमृत-रस का पान करती है। वह एक शाश्वत जीवन के आनन्द से सराबोर हो जाती है और हर्ष की चरम-सीमा पर आसीन होती है। अनृत् (झूठ) से छुटकारा पाकर, ऋत् (सत्य) से मनुष्य की बुद्धि का कलश भर जाता है तभी उसे 'ऋतम्भरा' कहते हैं। उसी

'सद्विवेकवान' है। जब मनुष्य के मन में झूठ की रत्ती भी नहीं रहती और सत्य के प्रकाश से उसका चित्त आलोकित होता है तथा वह अन्धकार से निकलकर प्रकाश में स्वयं प्रकाशवान होता है, तभी उसकी स्थिति को सद्विवेक की स्थिति कहा जा सकता है। उसमें मनुष्य पक्षपात, लगाव-झुकाव या सत्य की अभिव्यक्ति के भय से मुक्त, एक आनन्द-विभोर स्थिति में, सभी सीमाओं से ऊपर उठकर, एक निर्मल गगन-जैसी सीमा रहित ऊंचाई पर विचरता है। जो व्यक्ति विवेकवान है, वह ऐसे ही मुक्त पक्षी के समान है।

विवेक को प्राय: तराज़ू की उपमा दी जाती है। डण्डी वाले तराज़ू के दोनों पलड़े जब हिलना-डुलना बन्द कर स्थिर होते हैं और जब डण्डी सीधी होकर डांवाडोल होने से मुक्त होती है, तभी वह तराज़ू ठीक तौलने के योग्य होता है। इसी प्रकार ही सद्विवेक एक ऐसे तराज़ू की तरह से हैं जो व्यक्ति, वस्तु, विषय, परिस्थिति तथा और पहलुओं को ठीक तरह से तौल सकते है और किसमें कितना वज़न है, यह बता सकते हैं। परन्तु यह योग्यता तब ही आती है जब मनुष्य का मन ईर्ष्या, द्वेष, दुर्भाव, दुर्व्यसन, घृणा, भय, क्रोध, स्वार्थ तथा इच्छाओं के वेग से रहित हो। वरना इन घटकों के कारण उसके विवेक की डण्डी हिलती ही रहेगी अथवा तौलने के पलड़े स्थिर नहीं होंगे। इसलिये ज़रूरी है कि व्यक्ति इन निषेधात्मक दुष्प्रभावों से मुक्त हो।

सद्विवेक अपने साथ कई योग्यताओं को लिये हुए है। विचार, विश्लेषण, निरीक्षण, परीक्षण, मूल्यांकन, निर्णय इत्यादि इनमें से कुछ योग्यतायें हैं। ये सभी सद्विवेक में सम्मिलित हैं। परन्तु जिसे सद्विवेक प्राप्त है, वह तत्क्षण ही, तुरन्त ही अथवा शीघ्रतिशीघ्र ही इन सबका अलग-अलग प्रयोग किये बिना, जान, पहचान और समझ लेता है कि सत्य क्या है, असत्य क्या है, कर्त्तव्य क्या है, अकर्त्तव्य क्या है और गुण किसमें है, दोष किसमें है? जैसे किसी गेहूँ की बोरी में परखी डालने से गेहूँ बाहर निकल आता है और उसकी गुणवत्ता (Quality) का पता लग जाता है अथवा जैसे पारस पर सोने को रगड़ने से खरे और खोटे सोने का पता चल जाता है, वैसे ही सद्विवेक एक ऐसे पारस अथवा पारखी की तरह से है जिससे झटपट अथवा तत्क्षण ही भले-बुरे की पहचान हो जाती है या खोटे-खरे का पता लग जाता है। इस दृष्टि से सद्विवेक सबसे बड़ी योग्यता, कुशलता, उपलब्धि, स्थिति, शक्ति, क्षमता अथवा निधि है जिसकी तुलना में संसार भर के खज़ाने कुछ भी नहीं हैं क्योंकि सद्विवेक के फलस्वरूप जो महानता आती है, उससे संसार के स्थूल और सूक्ष्म समूचे खज़ाने मनुष्य को स्वत: प्राप्त होते हैं।

वास्तव में देखा जाए तो सद्‌विवेक एक ऐसा साधन है जिससे साधना सफ़ल होती है और मनुष्य सिद्धि-स्वरूप बन जाता है। भूल और शूल दोनों उससे बहुत पीछे रह जाते हैं। उसकी बुद्धि सदबुद्धि, स्थिर बुद्धि, निश्चयात्मक बुद्धि और कुशाग्र बुद्धि हो जाती है, जिसमें विधि और सिद्धि उसके सहगामी बन जाते हैं।

'ज्ञानवान' तो अनेक मनुष्य हो सकते हैं परन्तु सद्‌विवेक की प्राप्ति सभी को नहीं होती। 'ज्ञान' सद्‌विवेक का अग्रगामी तो है, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि हरेक ज्ञानी सद्‌विवेकी भी हो। विवेक ज्ञान के सही प्रयोग, ठीक उपयोग और किसी भी परिस्थिति में अपने आचरण में उसकी सम्यक (Right) कार्यान्विति (Application) का नाम है। जिसे यह कुशलता और कुशाग्रता प्राप्त हो वही 'स्थित-प्रज्ञ' होता है।

जिसे सद्‌विवेक प्राप्त है, उसके कार्य, व्यवहार, आहार, आचार इत्यादि में विशेष चिह्न पाये जाते हैं, जिनसे उसकी पहचान होती है। उसके संवेग (Emotions) संतुलित और दिव्य होते हैं, उसका मन नियन्त्रित होता है, उसका आहार शुद्ध अथवा नियमित होता है, उसका व्यवहार सद्‌व्यवहार, आचार सदाचार और चित्त निर्विकार होता है। उसकी स्थिति निर्भय, मोहजीत, उपराम और उमंग-उत्साह से भरी होती है। उसका आधार केवल एक ईश्वर ही होता है और वह सब प्रकार के नशों से फ़ारिग़, प्रलोभनों से रहित, इच्छाओं से मुक्त, मधुभाषी, शान्तचित्त, सरल-स्वभाव और नम्रता तथा सादगी की चैतन्य मूर्ति होता है।

मनुष्य की ऐसी स्थिति राजयोग ही से प्राप्त हो सकती है क्योंकि योगी ही का मन सद्‌विवेक पर टिका होता है। उसे और किसी के प्रति लगाव और झुकाव नहीं होता, बल्कि वह एक प्रभु ही की लग्न में मग्न रहता है। स्वयं ईश्वर और ईश्वर की दैवी सम्पत्ति में ही उसे सर्व प्राप्तियाँ अनुभव होती हैं और, इसलिये, उसका मन संसार के अन्य सभी आकर्षणों से मुक्त होकर स्वतन्त्रता में विचरण करता है। उसे सत्य ही प्रिय, सदाचार ही श्रेष्ठ और निर्विकार स्थिति ही उत्तम भासित होते हैं और वह राग-द्वेष तथा ईर्ष्या और क्रोध एवं घृणा और हिंसा से ऊपर उठकर स्वयं को एक प्रकाश-पुंज महसूस करता है जिसे अविवेक की छाया स्पर्श ही नहीं कर सकती। इसलिये **'योगी बनो तथा सद्‌विवेकी बनो'** — यही नारा है जिस द्वारा मनुष्य का माया-मोह से छुटकारा, विकर्मों से किनारा और कर्म-बन्धनों से निस्तारा प्राप्त होता है। ज्ञान का सार यही है, यही है, यही है।



इज़्ज़त का सवाल है

हरेक व्यक्ति को अपनी इज़्ज़त का ख्याल रहता है। छोटे बच्चे को भी 'राजा' कहने की बजाय यदि 'बेवकूफ़' कहा जाता है तो वह भी रूठ जाता है और खाना नहीं खाता। जब उससे पूछते हैं कि बात क्या है, तो वह कहता है "आपने मुझे 'बेवकूफ़' क्यों कहा?

जो व्यक्ति गली-मोहल्ले में गधे पर मलबा ढो कर ले जाता है, उससे भी अगर आप तू-तेरा करें तो वह भी डट कर कहता है — "बाबू जी, ज़रा सम्भल कर बात कीजिये। यह रखा है मलबा आपका, हम जा रहे हैं। आप बहुत बड़े व्यक्ति होंगे, परन्तु हमारी भी कुछ इज़्ज़त है।"

घर के नौकर से आप थोड़ा डांट-डपट कर बोलें तो वह भी कह उठता है — "देखिये साहब, मैंने रोजी-रोटी के लिये तन बेचा है, आप इससे जो चाहें काम ले लीजिये। मैंने अपनी इज़्ज़त नहीं बेची, इसलिए ज़रा सभ्यता से बोलिये।

कोई माता-पिता अपनी पुत्री को दु:खी मन से कहते हैं — "बिटिया, देखो, ऐसा काम न करो जिससे खानदान की इज़्ज़त चली जाय। बेटी, हमारे इज़्ज़त आपके हाथ में है, इसे बचा लो! बस,, हम आपसे केवल इतना ही चाहते हैं।"

एक व्यक्ति किसी दूसरे से बात ही नहीं करता। हम उससे पूछते हैं कि "आख़िर कारण क्या है? आप उससे बोलते क्यों नही?" वह कहता है कि "इस व्यक्ति से बोलना तो गोया इज़्ज़त को ख़तरे में डालना है। यह तमीज़ से बात ही नहीं करता। यह तो इज़्ज़त पर हाथ डालता है।"

किसी व्यक्ति को एक मकान के लिये लोग अच्छी-ख़ासी रकम देने को तैयार हैं, लेकिन वह नहीं बेचता। जब उससे पूछते हैं कि जगह ख़ाली पड़ी होने पर भी वह क्यों नहीं बेचता, तो वह कहता है कि "यह बुज़ुर्गों की ख़रीदी हुई जगह है; इसे अगर हम बचेंगे तो लोग कहेंगे कि अब इनके पास पैसे की कमी हो गयी है; तभी तो जल्दी मकान को बेच दिया। इसलिये इज़्ज़त का सवाल है। पैसे से इज्ज़त बड़ी चीज़ है। अगर हमने मकान को बेच दिया तो ख़ानदान की इज़्ज़त चली जायेगी"

इस प्रकार, मनुष्य का स्वभाव है कि वह इज्ज़त चाहता है और उसे बनाये भी रखना चाहता है। अगर किसी धनवान व्यक्ति का कोई अपमान करता है तो वह उस पर मान-हानि का दावा (Defamation case) भी कर देता है।

आज इज़्ज़त का सवाल इतना बड़ा हो गया है कि व्यक्ति के मान (Human

Dignity or Dignity of the individual) को मानवीय अधिकारों में शामिल किया गया है। महिलाओं ने आन्दोलन करके अपने लिये समाज में वैधानिक रूप से सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। इसी प्रकार भारत में अनुसूचित जाति (Scheduled Castes) वालों ने भी अपने लिये विधि और न्याय (Law and Justice) के माध्यम से अपने लिये अधिकार और सम्मानपूर्ण स्थान ले लिया है।

आप देखेंगे कि व्यक्ति जहाँ अपनी इज़्ज़त चाहता है, वहाँ वह अपने व्यवसाय, अपनी जाति, अपने वंश, अपने कुल, अपने ख़ानदान (परिवार) के लिये भी सम्मानपूर्ण स्थान चाहता है। वह देश के सम्मान के लिये भी अपना जीवन न्योछावर करने को तैयार हो जाता है और देश, धर्म, कुल, परिवार, वंश, जाति, व्यवसाय या स्वयं – इन सभी के साथ वह इज़्ज़त के सवाल को जोड़ लेता है, भावुक हो उठता है और कुछ कर गुज़रने को तैयार हो जाता है। इस प्रकार, उसके व्यवहार को प्रेरित करने वाला एक घटक (factor) मान, सम्मान, या स्वमान की भावना है। इज़्ज़त चली जाय तो व्यक्ति जीना भी नहीं चाहता है। वह कहता है – क्या अपमानित होकर जीना भी कोई जीना है! इससे तो चुल्लू-भर पानी में डूब मरना अच्छा है। व्यक्ति रूखी-सूखी खाकर झोपड़ी में रह लेना पसन्द करता है, परन्तु इज़्ज़त गँवा लेने पर वह सोचता है कि धरती फट जाय तो मैं इसमें समा जाऊं। गोया इज़्ज़त हमारे बनावट में ही शामिल है। पवित्रता और शान्ति के अतिरिक्त स्वमान भी आत्मा का एक स्वाभाविक गुण मालूम होता है। अपमान व्यक्ति को ऐसा झकझोर देता है कि अपमानित व्यक्ति विध्वंस करने के लिये तैयार हो जाता है। चाणक्य अथवा कौटिल्य ने नंद वंश के साथ ऐसा ही तो किया।

1. अपनी इज़्ज़त अपने हाथ में

परन्तु आध्यात्मवाद हमें इस विषय में समझदार बनाता है। आध्यात्मवाद कहता है कि अगर आपकी इज़्ज़त दूसरों के हाथ में रही, तब तो आप उन पर ही आश्रित रहेंगे। वह आपकी इज़्ज़त करेंगे तो आप खुश हो जायेंगे और अगर वह आपका तिरस्कार अथवा अनादर करेंगे तो आपकी स्थिति बिगड़ जायेगी। इस प्रकार आप सन्तुलित तथा सदा आनन्दमय स्थिति में तो नहीं रह पायेंगे। सदा शान्त एवं प्रसन्न स्थिति में तो तभी रह पायेंगे जब आपकी इज़्ज़त आपके अपने हाथ में हो और दूसरा कोई आपको वहाँ से हिला न सके। इज़्ज़त का सवाल ज़रूर है परन्तु कौन-सी इज़्ज़त का? संसार के लोग तो आज महिमा करते हैं और कुर्सी देते हैं और कल निन्दा करते तथा कुर्सी से हटा देते हैं। तब तो हमारी अवस्था में उतार-चढ़ाव आता

रहेगा।

शिव बाबा ने हमें अब इज़्ज़त का भी वास्तविक स्वरूप बताया है। उस इज़्ज़त को मान-अपमान से ऊपर 'स्वमान' की संज्ञा दी गयी है। वह इज़्ज़त तो हमारा अपना ही स्वरूप बोध है; उसे कोई हमसे छीन नहीं सकता। वह हम हर परिस्थिति में स्व-स्थिति से बनाये रह सकते हैं।

हमारा वंश कौन-सा है?

शिव बाबा ने हमें समझाया है कि आत्मा के नाते से हम सभी परमात्मा की सन्तान हैं। अत: हम प्रभु-वंश; ईश्वर-वंश या परमात्म-वंश के हैं। ईश्वरीय कुल से अधिक महान् भला और कौन-सा कुल हो सकता है? हमारे इस वास्तविक परिचय को तो कोई भी हमसे छीन नहीं सकता। आवश्यकता इस बात की है कि हमें इसकी चेतना (awareness) अथवा स्मृति (consciousness) रहे। हम इसको भूल कर बहुत नीचे उतर आते हैं और फिर मान-अपमान की दलदल में धंस जाते हैं।

शारीरिक रूप से विचार किया जाये तो हम श्री लक्ष्मी और श्री नारायण के वंश अर्थात् सूर्यवंश तथा श्री सीता और श्री राम के चन्द्रवंश के हैं। उन जैसा कुल और वंश भी दूसरा नहीं है, क्योंकि वे दिव्य गुणों की चेतन मूर्ति थे। उनका आचार, व्यवहार, आहार इत्यादि सात्विक, सुशील, सुन्दर, सुमधुर एवं सौम्य था। अत: हमें चाहिये कि हम स्वयं को स्वमान के इस सिंहासन पर विराजमान कर दें कि – "मैं तो 'साहबज़ादा हूँ', होवनहार राजकुमार या राजकुमारी हूँ और सूर्यवंश-चन्द्रवंश का वंशज हूँ" इससे हममें स्वमान की भावना बनी रहेगी और माया प्रवेश नहीं कर सकेगी। जब भी कोई निकृष्ट या आसुरी संस्कार अथवा विचार मन में आयेगा तो स्वमान की यह चेतना उसे निकाल फैंकेगी। हमारे भीतर यह प्रबल आवाज़ होगी कि "मैं तो देवता कुल का और सूर्यवंश का हूँ, जिसकी महिमा में शास्त्र भरे पड़े हैं और जिसके पूर्वजों के चित्रों से घर-मन्दिर सजे हुए हैं, तब मैं ऐसा ग़लत या तुच्छ संकल्प कैसे कर सकता हूँ।" मन में इज़्ज़त का सवाल पैदा होगा। शेर की सन्तान होकर कुत्ते का काम कैसे हो सकता है? हमारे वंश का तो गायन-पूजन, वन्दन-नमन होता चला आया है, तब हम ऐसा भ्रष्ट कर्म कैसे कर सकते हैं?

फिर, परमात्म-वंशी होने के नाते तो मैं "सर्वशक्तिमान-पुत्र (Master Allmighty) हूँ, पवित्रता तथा शान्ति का पुंज हूँ।" अत: बुराई तो मेरे निकट फटक ही नहीं सकती। सोऽहम (I am that) -- वह मैं हूँ, मैं प्रभु-समान हूँ। इस धारणा से जीवन में निर्मलता, शक्ति तथा देवत्व का संचार हो उठता है। यही तो वास्तविक सम्मान

(सत्-मान या सत्य मान) है।

2. धर्म की तथा जाति की इज़्ज़त का सवाल

इसी प्रकार यदि हमें यह याद रहे कि परमपिता परमात्मा शिव ने साक्षात् प्रजापिता ब्रह्मा, जो कि सभी के आदि पिता हैं और ऋषि-शिरोमणि, योगीराज तथा ज्ञानियों में प्रमुख हैं, के मुख से मुझे जन्म दिया है। जग-जननी माता सरस्वती मेरी माता भी है तथा अग्रज भी, तो मन गद्‌गद् हो उठता है और आध्यात्मिकता से सराबोर हो जाता है। अज्ञानता का कल्मष, विकारों की कालिमा धुल जाती है। मैं 'ब्रह्माकुमार' हूँ अथवा 'ब्रह्माकुमारी' हूँ — इससे बढ़कर क्या परिचय हो सकता है? जिनकी यह उपाधि है, वे तो स्वनाम धन्य हैं, उनका तो जन्म ही सफ़ल है। अत: ऐसे ब्राह्मण कुल की मर्यादा को वह छोड़ कैसे सकता है? आज इस कलिकाल के ब्राह्मणों में भी यह गर्व रहता है कि वे ब्राह्मण हैं। नारा लगवाते हुए लोग कहते हैं कि — "जयघोष करो, गर्व से कहो, हम हिन्दू हैं।" परन्तु हमें यह तो स्वमान-भाव प्रिय है कि हम शिरोमणि वर्ण — ब्राह्मण वर्ण के हैं और आदि सनातन देवी-देवता धर्म के हैं। हमें आज की कलियुगी प्रचलित वर्ण-व्यवस्था का नहीं बल्कि गुण-कर्म के आधार पर शिरोमणि जाति का होने का स्वाभाविक स्वमान है। तब हमसे भला 'शूद्र' कर्म कैसे हो सकते हैं? हमारी भी इज्ज़त हमारे अपने हाथ में है और वह वास्तविक है तथा स्थायी है।

3. देश की इज़्ज़त का सवाल

कई लोग अपने देश की इज़्ज़त के लिये मर मिटते हैं। वे फांसी का तख्ता भी चूम लेते हैं; छाती तानकर गोली खाने को भी तैयार हो जाते हैं। कोई राजपूतों की आन-शान के लिये तो कोई धरती माता के लिये कुर्बान होने को तैयार हो जाता है। वह स्वयं को अपने देश रूप माता का लाल मानकर वहाँ की माटी का तिलक लगाकर आगे बढ़कर कहता है — हम अपनी इस माता की इज़्ज़त की रक्षा के लिये अपना सब-कुछ लुटा देने को तैयार हैं। परन्तु अध्यात्म कहता है कि हम सब परमधाम रूपी दूर देश से आये हैं जहाँ अपवित्रता का नाम-निशान नहीं। फिर हम भारत भूमि पर अथवा सतयुगी देवभूमि पर आयें। वहाँ भी तब आसुरियता का नाम-निशान नहीं था। इन विकारों रूपी शत्रुओं ने मिट्टी ही पलीद कर दी, हमारे देश को ही उजाड़ डाला और भ्रष्ट कर दिया। बोलो — "हर-हर महादेव! उठाओ ज्ञान की तलवार, पहनो योग का कवच, लगाओ आत्म-स्मृति का तिलक, सर्वशक्तिमान् की सन्तानों, उठो और ज्ञान गंगा में कूद पड़ो और भगा दो इन विकारों को यहाँ से!

दान और नादान

ज्ञान और योग के मार्ग पर चलते-चलते पुरुषार्थी के सामने अनायास ही कई विघ्न उपस्थित हो जाते हैं। जैसे रोगों में कई रोग होते तो शरीर की व्याधि के रूप में हैं, परन्तु उनके कारण मानसिक ही होते हैं और उन्हें 'मानसिक-शारीरिक रोग' (Psycho-somatic diseases) की संज्ञा दी जाती है, वैसे ही आध्यात्मिक पुरुषार्थ में भी कुछेक मानसिक-शारीरिक विघ्न होते हैं। उदाहरण के तौर पर प्रात: अमृतवेले जो योगाभ्यास के लिए उठकर बैठते हैं तो किसी-किसी को ऐसा महसूस होता है कि सारे शरीर में दर्द-सा है। बदन थका हुआ-सा, टूटता हुआ-सा या चूर-चूर-सा महसूस होता है। मन करता है कि आज सो जायें, क्योंकि योग तो लगेगा ही नहीं। आंखे बन्द होती जाती हैं, मस्तिष्क भारी मालूम होता है, कन्धे, कमर, टांगें-बाज़ू सभी जवाब दे रहे होते हैं। बिना चले या काम किये ऐसा लगता है कि जैसे कई दिन से लगातार विश्राम किया ही नहीं है। बुद्धि भी मन को नींद करने या लेट जाने की स्वीकृति दे देती है, क्योंकि बुद्धि कहती है कि योग तो लगेगा ही नहीं, अत: सो जाना ही समय को सफ़ल करना है।

इसी प्रकार, कभी-कभी, किसी-किसी को क्लास के समय ऐसा ख्याल आता है कि जल्दी क्लास समाप्त हो और हम जाकर आराम करें। क्लास में सुनते हुए भी पल्ले कुछ नहीं पड़ता। सुनते हुए भी बुद्धि में टिकता नहीं। सुनने से ज्ञान का कुछ रस नहीं आता। कोई प्रश्न पूछ ले तो उत्तर देने से बचाव का उपाय करते हैं क्योंकि जो सुना था, वह तो पता नहीं कहाँ उड़ गया। लगता है कि — अब हम ज्ञान-ध्यान के योग्य नहीं रहे। दूसरे लोगों को आनन्दित देखते हुए और प्रश्नों के ठीक उत्तर देते हुए देखकर ऐसा महसूस होता है कि ये सौभाग्यशाली हैं और इनकी बुद्धि अच्छी है तथा पुरुषार्थ भी अच्छा है। स्वयं को ऐसा महसूस होता है कि बुद्धि को ताला-सा लग गया है। चिन्ता-सी लग जाती है कि यह ताला पता नहीं कब खुलेगा और खुलेगा भी या नहीं।

कभी-कभी किसी-किसी को ऐसा भी लगता है कि आज मन में खुशी न
आज कोई बुरा काम भी नहीं किया है, कुछ बुरा सोचा भी नहीं है, तो भी
खुशी क्यों गुम हो गयी है? मन रोता हुआ-सा या उदास या निराश,
सूखा, नीरस और सूना-सूना महसूस होता है।

कभी ऐसा भी किसी का अनुभव होता है कि किसी विषय पर ज्ञा

हो तो कोई अच्छी-सी बात ही ख्याल में नहीं आती। बातें सुनी हुई हैं, बुद्धि में है, परन्तु मालूम नहीं कि सुनाने के समय वे कहाँ चली गयीं। ऐसा लगता है कि – जैसे मुँह को किसी ने ताला लगा दिया हो। गर्दन तक कोई बात आती हो, परन्तु बाहर न निकलती हो अथवा मस्तिष्क में हो, परन्तु मस्तिष्क उस समय काम न कर रहा हो।

कुछेक को यह भी कमी महसूस होती है कि जीवन में आध्यात्मिक प्रगति नहीं हो रही। पुरुषार्थ करते हैं, परन्तु परिणाम में प्राप्ति में कोई वृद्धि नहीं हो रही। मन में कुछ चिड़चिड़ापन-सा बना रहता है। स्वयं से ही स्वयं असन्तुष्ट होते हैं ऐसा लगता है कि – दिमाग़ खाली है और यह संसार ही बेकार है। यह सारा संसार ही बेकार और निरर्थक महसूस होता है।

प्रश्न उठता है कि ऐसी स्थिति क्यों होती है? आनन्द और शक्ति प्राप्त होने की बजाए नीरसता और खालीपन महसूस क्यों होता है।

प्राय: देखा गया है कि ऐसी अवस्था के निम्नलिखित तीन-चार मुख्य कारण होते हैं –

1. किन्हीं नियमों, मर्यादाओं या ईश्वरीय आज्ञाओं का उल्लंघन किया होता है। अत: यह एक प्रकार का दण्ड हम भोग रहे होते हैं। यह सूक्ष्म भोगनाएं हम भोग रहे होते हैं। हमारी उद्दण्डता, बड़ों की बात को टालने की आदत, अपने मन-मत पर चलने की आदत ही हमें ऐसी परिस्थिति में धकेल देती है। पिछली नकारात्मक बातों को सोचते रहने से भी मन भारी और बुद्धि खाली-सी अनुभव करती है।

2. ऐसा भी होता है कि दूसरों के साथ, विशेष रूप से योगियों के साथ कोई दुर्व्यवहार किया होता है, कुटिलता से पेश आये होते हैं, या अभद्रता एवं अनीति से चले होते हैं और इस कारण से हमें यह सूक्ष्म दण्ड मिल रहा होता है अथवा हम एक प्रकार से श्रापित या सन्तप्त होते हैं।

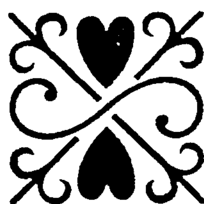
3. ऐसा भी हो सकता है कि हम ज्ञान, योग तथा संस्था की सेवाओं का लाभ ले लेते रहते हैं, परन्तु दूसरों की कुछ सेवा नहीं करते। हमारे पास धन-मान-साधन इत्यादि तो हैं, परन्तु हम कंजूस हैं, परोपकार में कुछ भी नहीं लगाते। प्राप्ति की इच्छा रखते हैं, लेते तो रहते हैं, परन्तु देते या चुकाते नहीं। इसी प्रकार हमने स्वयं पर कर्मों का बोझ चढ़ा रखा है और इसलिए मनहूसों की तरह की हमारी गति हो रही है।

4. ऐसा भी सम्भव है कि हम अलग-थलग बने रहते हैं और दैवी परिवार की पारिवारिक खुशी नहीं लेते, न परिवार के प्रति कुछ करते हैं, न परिवार में मिलकर वृद्धि को प्राप्त होते हैं। हम क्लास पूरी होते ही लंगोटी बान्धकर भाग उठते हैं और यही हमारे नित्य की रीति-नीति है। या तो हम स्वयं को दूसरों से ज्यादा अच्छा समझते हैं, या ज्यादा शर्मीले हैं, संकोची हैं और या मिलने-जुलने के लाभ को ही नहीं मानते। आदान, प्रदान नाम का कोई व्यवहार, हमारे शब्दकोष में नहीं है।

और भी इसी तरह के अनेक कारण हो सकते हैं परन्तु सार-संक्षेप में यह कहना होगा कि — हम न आदान-प्रदान करते हैं, न दान करते हैं। दान नहीं करते, इसलिए "नादान" हैं। हम ज्ञान लेते तो हैं, परन्तु दूसरों को दान नहीं करते। गुणों को धारण करने का पुरुषार्थ तो करते हैं, परन्तु दूसरों को गुण रूपी रत्न प्रदान नहीं करते। योगाभ्यास तो करते हैं, परन्तु "योग-दान" करने की बात सोचते तक भी नहीं।

अत: हमें अपनी स्थिति को फिर से खुशहाल करने के लिये ज्ञान, योग, गुण, धन, समय, शक्ति, शुभभावना, खुशी इत्यादि का प्रचुर मात्रा में दान करना चाहिए। दान देने से ही हमारा यह ग्रहण छूटेगा।

इसके अतिरिक्त, हमारा व्यवहार सभी से ऐसा हो कि किसी को हम कष्ट न पहुँचायें। वरना यदि हम आशीर्वाद लेने की बजाए श्रापित हुए तो जीवन में खुशी, सफ़लता, विकास और वृद्धि को प्राप्त नहीं कर सकेंगे। सन्तुष्ट करने और सेवा करने के फलस्वरूप ही हमारी खुशी और कमाई बढ़ेगी। अत: आदान-प्रदान, दान और नादान के इस भेद को हमें जानना चाहिये।



प्रश्नचित्त या प्रसन्नचित्त?

मनुष्य के चित्त की कई अवस्थायें होती हैं और यह अवस्थायें उसकी वृत्ति पर आधारित होती है। पुनश्च, वृत्तियाँ भी कई प्रकार की होती हैं। उनमें से एक वृत्ति यह है जिसमें कोई-न-कोई प्रश्न मनुष्य के चित्त पर हावी होता है। प्रश्न भी कई प्रकार के होते हैं। उनमें से 10 उसके मुख्य प्रकार अथवा प्रकारान्तर होते हैं जिनका उल्लेख हम नीचे कर रहे हैं।

1. जिज्ञासा

कुछ प्रश्न मन में जिज्ञासा के कारण उत्पन्न होते हैं। "संसार में दु:ख क्यों है? उनकी निवृत्ति कैसे हो सकती है? क्या आत्मा और शरीर दो अलग सत्तायें हैं? परमात्मा है या नहीं? पुनर्जन्म होता है या नहीं होता?" — इस प्रकार के प्रश्न 'जिज्ञासा' कहलाते हैं। अब हमें शिवबाबा ने इस प्रकार के सभी प्रश्नों पर प्रकाश दिया है। अत: हमारे ये प्रश्न अब समाप्त हो चुके हैं। जिज्ञासा की तृप्ति अथवा शान्ति सत्य एवं शाश्वत ज्ञान से होती है। जीवन की पहेली से सम्बन्धित ऐसे प्रश्नों का समाधान होने पर ही समाधि का लाभ होता है। समाधि से चित्त प्रसन्न हो जाता है। अत: 'ज्ञानी' का एक लक्षण यह है कि वह 'प्रश्नचित्त' न होकर 'प्रसन्नचित्त' होता है। समाधान होने से उसका मन समाधि में लगता है। जितने जिसके प्रश्न रह जाते हैं, उतना ही उसके प्रसन्नचित्त होने में बाधा पड़ने की सम्भावना बनी रहती है। कोई व्यक्ति ऐसा भी हो सकता है कि जिसने सब प्रश्नों के उत्तर न जाने हों परन्तु फिर भी उसका चित्त प्रसन्न हो। यदि ऐसा कोई व्यक्ति है तो उसकी भी विशेषता यह होगी कि उसमें प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होते होंगे। उसने सभी प्रश्नों का अन्त उनका उत्तर पाकर तो नहीं किया होगा, बल्कि आस्था अथवा विश्वास अथवा निश्चय से किया होगा। अत: उनके भी चित्त की प्रसन्नमय अवस्था प्रश्नों से मुक्ति पाने पर ही प्राप्त हुई होगी। विश्वास अथघा निश्चय से प्राप्त प्रसन्न अवस्था में तथा प्रश्नों का उत्तर प्राप्त कर लेने के बाद प्रसन्न अवस्था में भी परस्पर अन्तर होता है और यदि दोनों का मेल हो जाये तो उस प्रसन्नता की गुणवत्ता (Quality) कुछ और ही होती है।

2. समझ की कमी

ज्ञान प्राप्त करने पर कई बार हमारा ज्ञान अधूरा अथवा ऊपरी-ऊपरी होता

है। हम उसकी गहराइयों में उतरे नहीं होते हैं और उसकी ऊंचाइयों में भी उड़े नहीं होते हैं। इसलिये जब आगे बढ़ते हैं तो नैतिक प्रश्नों का उत्तर मिल जाने पर भी मंज़िल तक पहुँचने के मार्ग में कुछ ऐसे प्रश्न रास्ते में हमारे खड़े हो लेते हैं, जिन्हें हम कुछ जानते हैं, कुछ नहीं जानते हैं। ये वे प्रश्न हैं जो प्रश्न हमारे मन को, हमारे चित्त को कचोटते, कुरेदते या काटते तो नहीं हैं, परन्तु हल्के-हल्के रूप में हमारे सामने आते रहते हैं। परन्तु अब तो ज्ञान की रोशनी इतनी हो गई है, उत्तर का उजाला इतना स्पष्ट है कि हमने उन प्रश्नों से भी निस्तारा पा लिया है। जीवन का कोई ऐसा पहलू रहा ही नहीं जिस पर प्रकाश न डाला गया हो अथवा अब तो पूछने, फिर पूछने और फिर-फिर पूछने रूपी पूँछ ही हमने निकाल दी है, क्योंकि बन्दर से मन्दिर योग्य बनाने वाला बाप मिल गया है।

3. उलझन अथवा दुविधा अथवा शंका

ये चित्त की एक ऐसी अवस्था है जिसमें ज्ञान लेने के बाद कुछ विशेष परिस्थितियाँ अथवा समस्याएं उत्पन्न होने पर प्रश्न उठ खड़े होते हैं। "ऐसा करें या न करें?" — इस प्रकार का धर्म-संकट उत्पन्न हो जाता है। "ज्ञान तो कहता है कि फलां प्रकार की कार्य-विधि हो, परन्तु यदि हम उस कार्य-विधि को अपनाएं तो हमारे सम्मुख ये समस्यायें आ खड़ी होती हैं; तब क्या किया जाए?......." "मन कहता है कि ज्ञान ही की विधि को अपनाया जाए। परन्तु संसार की रीति-नीति, लोक-लाज और कई प्रकार की मज़बूरियाँ कहती हैं कि कम-से-कम कुछ समय के लिये ज्ञान के विधि-विधान को एक ओर रख दिया जाए, क्योंकि आदर्श और व्यवहार दो अलग चीज़ें हैं। व्यवहार में तो समय और परिस्थिति और अपनी भी क्षमता को देखना ज़रूरी होता है......." — इस प्रकार के प्रश्नों की लड़ी अथवा झड़ी चित्त में पैदा होती रहती है जिसको शान्त करने के लिये किसी ऐसे शक्तिशाली एवं शान्तचित्त एवं सदा-सर्वथा प्रसन्नमूर्त मार्गदर्शक के द्वारा दिशा-निर्देश की आवश्यकता होती है। चूँकि ऐसा ही मार्ग-दर्शक जो एक परमात्मा है और जो ज्ञान का सागर त
का सागर है, उसका हाथ और साथ हमें प्राप्त है और वही हमें मा
है, इसलिये ऐसी उलझनें और दुविधायें भी हमारे मन से स
वो हमें केवल सिद्धान्त (Theory) ही नहीं बताता बल्कि व्यव
के बारे में भी हमारे मार्ग प्रशस्त करता है और हमारे प्रश्नों

चलता है। इसलिये भी अब हमारे प्रश्नों का अन्त होकर हमारी वृत्ति प्रसन्न हो जाना स्वाभाविक है।

हमें अब कोई भी सन्देह नहीं कि हमें पढ़ाने वाला कौन है? हम किसकी छत्रछाया में हैं? हमें साथ किसका मिला है और हमारी ज़िम्मेवारी किस पर है और विशेष बात यह कि जो हमें रास्ता दिखाने वाला मिला है वो कितना समर्थ है और भूल-चूक से सदा मुक्त है तथा त्रिकालज्ञ है। अत: अब उलझी हुई गांठे खुल गई, 'सन्देह' तो क्या हम देह से भी ऊपर उठकर विदेही बन रहे हैं और अब प्रश्नों की पौढ़ी पर चढ़ने और उतरने की असुविधा भी नहीं रही और अब प्रश्न से निकल कर प्रसन्न और सम्पन्न बनने के पथ पर चल रहे हैं।

4. अन्तर्युद्ध, कश्मकश अथवा मन में खींचातानी

स्पष्ट रूप से सप्रमाण एवं सिद्धकोटि का ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद जब हम व्यवहार के क्षेत्र में उतरते हैं तो कई प्रकार के लोगों से पाला पड़ता है। जाने-अनजाने ऐसे लोगों से सम्पर्क-सम्बन्ध हो जाता है जिन पर लेबल तो ज्ञानी का लगा होता है और जिन्हें उपाधि तो योगी की मिली होती है, परन्तु जिनके व्यवहार में न्याय, सत्यता, मृदुता और भलमनसाई नहीं होती, बल्कि ईर्ष्या, द्वेष, पदलोलुप्सा, स्वार्थ, पछाड़कर आगे बढ़ने की पैंतरेबाज़ी, दया का अभाव आदि ऐसे देखने को मिलते हैं कि मन में अन्तर्युद्ध, छाया युद्ध या मल्ल युद्ध शुरू हो जाता है जिसमें एक पक्ष यह कहता है कि हम अपनी अच्छाइयों में डटे रहें, श्रेष्ठता में ही बने रहें और साधुता को ही निभाते रहें और दूसरा पक्ष वेगपूर्ण यह कहता है कि — नहीं, इसके साथ थोड़ा इनका भी सीधा सामना कर लें और इनका नकाब हटा दें, या इनके साथ दो-दो हाथ हो लें। इसी द्वन्द्व में प्रश्न उठता है कि न्याय का मूल्य अधिक है या सहनशीलता का? मौन का मूल्य अधिक या स्पष्टवादिता का? किसी द्वारा बिछाए कांटों पर चुप करके चलते रहने में गुणवत्ता है या कांटों का मलियामेट करने में? यदि सहनशीलता अच्छी है तो कितनी और कब तक? यदि कांटों का भी स्वागत करना है तो कितने बड़े और कितने गहरे? इस देवासुर संग्राम में सदा योगबल ही को अपनाना है या छल-बल को और दल-बल को भी? परन्तु अब तो ये प्रश्न भी ऐसे हो गये हैं जिनके उत्तर तो मालूम ही हैं। उन्हें केवल प्रसन्नता-पूर्वक व्यवहार में उतारने की आवश्यकता है। ये कोई ऐसे प्रश्न नहीं हैं जिनका उत्तर मालूम न हो और जो अनअपेक्षित (Unexpected) हों। अत: अब तो इन

प्रश्नों से निकलकर प्रसन्नता की गाड़ी में बैठकर फ़टाफ़ट मंज़िल पर पहुँचने की ज़रूरत है।

5. लाभ और सफ़लता सम्बन्धी प्रश्न

मनुष्य के मन में ऐसे भी प्रश्न उठते हैं कि मेरा भविष्य कैसा होगा? अथवा मुझे सफ़लता मिलेगी या नहीं मिलेगी? अब तो इन प्रश्नों का भी उत्तर हमें मिल चुका है कि हम तो आये ही हैं अपनी तकदीर जगाकर और सफ़लता तो हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है; हम तो लक्की स्टार अथवा 'भाग्यशाली सितारे' हैं और दूसरों का भी भाग्य बनाने वाले हैं; हम भाग्य-विधाता की सन्तान हैं, सफ़लता तो हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है। जब हम स्वयं को भगवान् की सन्तान निश्चय करते हैं तो स्वयं को भाग्यवान निश्चित करना भी स्वभाविक है। अज्ञानकाल में भी व्यक्तियों के मन में यह प्रश्न उठते हैं कि हमने जो लॉटरी की टिकेट ली है, उस पर लॉटरी निकलेगी या नहीं? परन्तु हमने तो टिकेट ही ऐसी ली है कि जिसमें फ़र्स्ट नहीं तो सेकेण्ड; वो भी नहीं तो थर्ड, और वो भी नहीं तो कुछ और इनाम तो मिलेगा ही। इसलिये अब वो भी हमारे प्रश्न नहीं रहे। अज्ञान काल में लोग यह भी सोचते हैं कि "जो धन्धा शुरू कर रहा हूँ इससे लाभ है या नहीं? भाव बढ़ेंगे या घटेंगे? भूमि मिलेगी या नहीं मिलेगी? कोई नई ख़बर निकली है या नहीं निकली?" आदि आदि। परन्तु हममें जब नैतिक मूल्य बढ़ेंगे तो हमारे मन के भाव ऊंचे होंगे ही होंगे और हमारे भाववान भी बढ़ेंगे ही बढ़ेंगे। और भूमि ऐसी मिलेगी कि हम भूपति ही हो जायेंगे और खबर (News) तो हमें नित्य नई और खुशी की मिलती ही रहती है। अतः चिन्ता (Anxiety) से उठने वाले प्रश्न भी अब हमारे लिये समाप्त हो चुके हैं।

6. स्नेह और सम्मान सम्बन्धी प्रश्न

मनुष्य कई बार ये जानना चाहता है कि अन्य व्यक्ति उससे स्नेह करते हैं या नहीं या उसे सम्मान देते हैं या नहीं? उसके मन में प्रश्न उठता है कि मैंने फलां जो कार्य किया उसके बारे में दूसरों के क्या विचार (Opinion) हैं? वह यह जानना चाहता है कि उसके बारे में लोगों के मन में क्या प्रभाव (Image) है? परन्तु अब शिवबाबा के ज्ञान और योग से जब आत्मा की छवि बढ़ रही है और उसमें गुण आते जा रहे हैं तो उसका प्रभाव बढ़ेगा ही। अगर हमने ईश्वरीय याद में रहकर और आत्मिक स्वरूप में स्थित होकर कोई कर्म किया

होगा तो वह ठीक हुआ ही होगा। अब बार-बार ये प्रश्न ही उठाने की ज़रूरत नहीं। यदि हम ईश्वर से स्नेह करते हैं और दूसरों से भी स्नेह करते हैं तो हममें चुम्बक के गुण आ जायेंगे। स्नेह से स्नेह मिलता ही है। अत: अब ऐसे प्रश्न भी निष्प्राण अथवा निर्मूल हो गये हैं। अब तो हमें प्रसन्नता की प्राप्ति है। स्नेह देने और लेने, अच्छा बनने और बनाने की कला हम सीखते ही जा रहे हैं।

7. पूरी जानकारी के लिये प्रश्न

अज्ञानकाल में मनुष्य चारों ओर से ज्ञान बटोरना चाहता है और अपने पाण्डित्य को प्रखर बनाना चाहता है। पाण्डित्य का पोषण कर उसे पुष्ट करना चाहता हे ताकि लोग उसके विषय में यह कहें कि यह बहुत विद्वान है और उसे पूरी जानकारी (Well-informed) है। इस प्रकार के सूक्ष्म अहंकार को और अपने भभके को बनाये रखने के उद्देश्य से वे पत्र-पत्रिकायें और पोथे-पोथियां पढ़ते रहते हैं। परन्तु अब तो हमें सार मिल गया है। जो सब विद्याओं का स्वयं भण्डार है, पारंगत है, ज्ञान का सागर है उसने स्वयं हमें ज्ञान का मक्खन प्रदान किया है। वह नवनीत (मक्खन) ऐसा है जो कि आत्मा को बलवान बनाता है और पाण्डित्य के अहंकार से बचाये रखता है तथा नम्रता और ऋतु (Wisdom) से बुद्धि का प्याला भर देता है। अत: "ये कैसे हुआ?", "वो क्यों हुआ?", "कौन क्या है?", "ऐसा होने से क्या होगा?" — इत्यादि एक करोड़ एक प्रश्नों के उत्तर जानकर हमें एनसाक्लोपीडिया (ज्ञान कोष) बनने की आवश्यकता नहीं है। बल्कि जो अमृत समान ज्ञान है, जो सर्व कामनाओं को एक-साथ सदा के लिये शान्त तथा पूर्ण करने वाला सद्ज्ञान है, जो मनोविकारों को मिटाने वाली संजीवनी बूटी है, जो आत्मा के नेत्र-रोग को दूर करने वाला अंजन के समान ज्ञान है, जो दु:ख, क्लेश आदि को सदा के लिये निवारण करने वाली ज्ञान-औषधि है, जिससे सभी प्रश्न हल हो जाते हैं — ऐसा ज्ञान हमें स्वयं साक्षात् भगवान् दे रहे हैं। अत: हमारे मन में प्रश्न उठने का अब प्रश्न नहीं पैदा होता। बल्कि, अब इस ईश्वरीय ज्ञान को सुनने वाले लोग स्वत: कहते हैं कि इस ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्व-विद्यालय के लोग हर विषय पर कोई नई बात जानते हैं; गोया "सर्वज्ञ मुनि" हैं।

8. शोध-कार्य सम्बन्धी प्रश्न

कुछ लोग इसलिये शोध कार्य करते हैं कि उसके फलस्वरूप उन्हें कोई

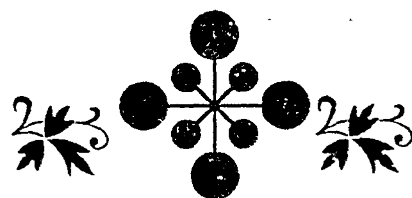
उपाधि प्राप्त होगी या प्रमाण-पत्र मिलेगा तो उनका यश बढ़ जायेगा। शोध-कार्य जिज्ञासा ही का एक रूप हो सकता है। इसके अन्तर्गत भी बहुत से प्रश्न उठना स्वाभाविक हैं क्योंकि उनको हल करने से ही तो शोध-कार्य में सफ़लता होती है। परन्तु हम तो संस्कारों के शुद्धिकरण की ही शोध करते हैं। और इसमें नित्य नये अनुभव स्वत: ही होते रहते हैं। हमारे योग का प्रयोग और ज्ञान तथा गुणों की गवेषणा ही हमारे अन्वेषण अथवा आविष्कार (Invention) हैं। अत: बात प्रमाण-पत्र की नहीं, बल्कि पात्र बनने की है और पवित्र बनने तथा बनाने की है और प्रसिद्धि की नहीं, सिद्धि की है।

9. शक्ति-प्राप्ति सम्बन्धी प्रश्न

कुछ लोग ज्ञान का उपार्जन शक्तिशाली बनने की इच्छा से करते हैं और यह शक्ति कैसे प्राप्त हो? — ये प्रश्न उनके मन में उठते हैं। इसको लेकर वे यन्त्र, मन्त्र और तन्त्र के बखेरे में पड़ते हैं। कोई यंत्री बन जाते हैं, कोई मंत्री और कोई तन्त्री और, बन्दूक चलाना जानकर कई सन्तरी। जो ज्ञान हमें शिवबाबा से प्राप्त हुआ, उसमें इन सबकी शक्ति समाई हुई है। तो जब हमारे यह सब प्रश्न हल हो गये, तब प्रश्नचित्त की बजाय हमारा प्रसन्नचित्त होना स्वाभाविक ही है।

10. पढ़ाई और प्रसन्नता के बारे में प्रश्न

अब तो यदि हमारे कभी कुछ प्रश्न होते हैं तो और अधिक गहराई से जानने और गहरे अनुभव करने और तीव्रगति से पुरुषार्थ करने के बारे में ही होते हैं और ये प्रश्न तो स्वयं भी प्रसन्नता लाने वाले होते हैं। अत: हमारे प्रश्न भी प्रसन्नता के परिचायक या वर्धक होते हैं और या होते ही नहीं।



याद क्यों नहीं आती?

हम लोग अब इस महत्वपूर्ण बात को भली-भांति समझ चुके हैं कि योगी जीवन ही सर्वश्रेष्ठ जीवन है, योगाभ्यास ही सर्वोत्तम पुरुषार्थ है और योग विद्या ही सबसे महान विद्या है। अन्यश्च, हमें यह भी अब मालूम है कि 'ईश्वरीय स्मृति में स्थिति' ही का नाम 'योग' है अथवा 'लगन में मगन होना' ही योग है। और अधिक सरल वाक्य-रचना यह होगी कि प्रेम-विभोर होकर जब आत्मा परमपिता परमात्मा को याद करते हुए उससे मनोमिलन हो रही होती है तो उस मिलन विशेष का या अद्‌भुत स्थिति का नाम 'योग' है। इस याद में इतना अपार सुख है, इस अभ्यास में ऐसा आनन्द-रस है अथवा स्मृति में तल्लीन होने पर ऐसा स्वाद आता है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता। जीवन है तो यही है, प्राप्ति है तो यही है, पाया है तो यही पाया है, वर्ना बाकी या तो खर्च है या व्यर्थ है।

परन्तु ऐसे उत्तम पुरुषार्थ का पता होने के बावजूद भी प्राय: सभी यह कहते हैं कि हम बार-बार परमपिता परमात्मा को भूल जाते हैं और हम ईश्वरीय स्मृति में स्थायित्व प्राप्त नहीं कर पाते। इसके क्या कारण हो सकते हैं?

प्राय: यह अनुभव किया जाता है कि किसी की याद आने के मुख्यत: 9 कारण हैं–

1. प्यार

जिससे जितना प्यार हो, उसकी उतनी याद आती है। जिससे प्यार हो, उससे यदि प्यार का जवाब प्यार में मिलता है तो याद और ज्यादा बढ़ती है।

2. सौन्दर्य

कोई चीज़ बहुत ही सुन्दर, अद्‌भुत और चमत्कारी हो तो उसकी भी याद आती है। मन करता है कि उसे फिर देखें। उसका चित्र बार-बार मन में उभर आता है।

3. रस मिलता हो

यदि कोई वस्तु खाने में बहुत स्वादिष्ट है या सुनने में बहुत पसन्द है या स्पर्श में अच्छी लगती है तो रसदायक, दिलपसन्द चीज़ की भी याद आ जाती है।

4. सुखदायक

कोई व्यक्ति, स्थान या वस्तु दु:ख-दर्द दूर करते हों और सुख-शान्ति, आराम, विश्राम देते हों तो उसकी भी याद आती है। वे मन को अपनी ओर आकर्षित करते हैं।

5. भयानक हो

कोई व्यक्ति, वस्तु या दृश्य बहुत भयानक हो तो उसकी याद आती है। चाहते तो नहीं हैं कि उसकी याद आये क्योंकि उससे कंपकपी आती है, मन डर उठता है, पसीना छूट जाता है। परन्तु न चाहने पर भी भयानक व्यक्ति या दृश्य जागृत अवस्था के अतिरिक्त स्वप्न में भी आ जाता है। ऐसा लगता है कि वह आंखों के सामने है और बड़ा स्पष्ट है।

6. चिन्ता हो

जिस बात की चिन्ता हो, वह बात भी बार-बार मन को कचोटती है। जिस व्यक्ति की सुरक्षा (Safety), स्वास्थ्य, सफ़लता इत्यादि की चिन्ता हो उस व्यक्ति की भी बार-बार याद आती है। चिन्ता एक हल्की या तीव्र अग्नि की तरह मन को लगी रहती है और उसके साथ याद तो अग्नि के ताप या धूम्र की तरह साथ रहती ही है।

7. जो शुभचिन्तक एवं परामर्शक हो

जो हमें समय पर अच्छी राय देता है, कठिनाई के समय पर सहयोग देता है और सदा हमारे लिये शुभ सोचता है, उसकी भी याद आती है। विशेषकर कठिनाई के समय तो उसकी याद आती ही है, परन्तु आगे-पीछे भी वह याद आता है कि वह अच्छा व्यक्ति है, भलाई करता है।

8. जिससे निकट का नाता हो

पति को पत्नी की, माता को बच्चे की, दोस्त को दोस्त की याद आना स्वाभाविक माना जाता है क्योंकि निकटता का नाता है। विशेषकर जिन सम्बन्धियों के साथ रहते हैं, चिरकाल से जिनसे लेन-देन है, उनके साथ मेलजोल, आना-जाना है, उनकी याद तो आती ही है।

9. असम्भव को सम्भव करने वाला अथवा परिवर्तक हो

यदि कोई ऐसा हो कि जो हमारे किसी ऐसे कार्य को, जिसे हमने असम्भव मान रखा था, सम्भव कर दिखाये या हमारे जीवन में ऐसा परिवर्तन लाये कि हम पापों और सन्तापों से छूट जायें और नई आशाओं और उमंगों का जीवन जीने लगें तो उसकी भी याद आती है। यदि हमें कोई ऐसा उपदेश दे, ऐसा नीति वचन बताये कि वह हमारे लिये बहुत ही क्रान्तिकारी सिद्ध हो तो उसकी भी याद आती है।

अब उपरोक्त बातों पर विचार करने से हम देखेंगे कि परमात्मा पर तो ये सभी लक्षण पूरे उतरते हैं।

(1) वह प्यार का सागर है। हमारा भी उससे प्यार है, तभी तो हम योगी बनना चाहते हैं।

(2) मनुष्य का सौन्दर्य तो परिवर्तनशील और क्षणभंगुर है। मनुष्य का शरीर या प्रकृति की वस्तुएं तो जर्जरा हो जाती हैं, रोगी भी होती है, गल-सड़ भी जाती हैं, दुर्घटना ग्रस्त भी होती हैं और उनके सौन्दर्य की कला तो कुछ काल के बाद क्षीण होती जाती है। वे काल के अधीन हैं और व्यक्ति की चमड़ी साफ-सुथरी भी हो तो उसके कर्म भद्दे हो सकते हैं। परन्तु परमात्मा तो सदा चमत्कारी हैं और सौन्दर्य का पुंज तथा कर्मों में अति उज्ज्वल है।

(3) उसकी ओर से, वाणी से तथा संग से रस भी ऐसा मिलता है कि जो रस-राज है। वह तो साक्षात् 'आनन्द रस' है, अमृत है, अवर्णनीय है। और किसी रस से तो तन या मन पर कुछ क्षयकर प्रभाव भी पड़ता है और धीरे-धीरे उनके सेवन से इन्द्रियाँ शिथिल भी हो जाती हैं और उनकी दासी भी। परन्तु ये तो ऐसा रस है कि जिसकी तुलना ही नहीं।

(4) अन्यश्च, सुखदायक तो परमात्मा इतना है कि लोग सुख देने के लिये तो उससे प्रार्थना ही करते हैं। जब वह सुख देने का संकल्प करता है, तब उसे तो कोई रोक भी नहीं सकता और वह तो सदाकाल का सुख देकर ही रहता है। सर्वांगीण तथा अविनाशी सुख तो केवल वही दे सकते है। काल के पंजे से, रोग से, शोक से तो कोई छुड़ा ही नहीं सकते क्योंकि अन्य सभी तो इस मृत्यु लोक के बन्दी हैं, और स्वयं काल-ग्रस्त, रोग-ग्रस्त और शोक-ग्रस्त हैं।

(5) परमात्मा स्वयं भयानक तो नहीं है, परन्तु फिर भी उसे 'रूद्र' कहा गया है क्योंकि जो उसकी मत पर नहीं चलता उसे रोना पड़ता है। जो उसकी मत का उल्लंघन करके पाप करता है, उसे धर्मराज से दण्डित होना पड़ता है। सभी आस्तिक लोगों को यह ख्याल रहता है कि आख़िर हमें भगवान् के दरबार में हाज़िर होना है, वहाँ हमारे कर्मों का दण्ड धर्मराज द्वारा मिलेगा।

(6) इसी बात की चिन्ता भी भक्तों, ज्ञानियों और योगियों को होती है। वे और तो कोई भी चिन्ता नहीं करते परन्तु पाप से बचकर रहने की तथा योग द्वारा जन्म-जन्मान्तर के विकर्म दग्ध करने की चिन्ता तो करते ही हैं। यद्यपि यह चिन्ता दु:खदायक नहीं होती परन्तु 'चिन्ता' तो है ही। इसी का नाम प्रभु-चिन्तन, गुण-

चिन्तन अथवा आत्म-चिन्तन है। ऐसा चिन्तन तो याद का स्वरूप हो जाता है।

(7) परमात्मा सभी का शुभ-चिन्तक तो है ही। इसीलिये ही तो उसे 'कल्याण-कारी' कहते हैं। उसका तो गुणवाचक एवं कर्त्तव्यवाचक नाम ही शिव है। जो परामर्श या राय परमात्मा देता है, वैसी तो कोई भी नहीं दे सकते। इसलिये ही तो उसे 'श्रीमत' कहते हैं।

(8) इसके अतिरिक्त, जितना निकट का नाता परमात्मा से है, उतना तो किसी से भी नहीं है। अन्य नाते तो एकांगी होते हैं परन्तु परमात्मा के साथ तो आत्मा के सभी नाते हैं। इन सभी सम्बन्धों का तो गायन है। इन नातों को जोड़ना ही तो योग है। ये नाते तो ऐसे हैं कि हमें देना कुछ भी नहीं पड़ता, बल्कि प्राप्ति ही प्राप्ति है। क्योंकि परमात्मा तो दाता है।

(9) परमात्मा तो असम्भव को सम्भव करने वाला है और जीवन में सुगन्धि भर देने वाला है। वह तो जीवन में ऐसा परिवर्तन लाता है कि नर को श्रीनारायण, नारी को श्रीलक्ष्मी और रंक को राव बना देता है। वह पुजारी से पूज्य, विकारी से निर्विकारी और दुःखी से सदा सुखी बनाने वाला है। वह किसी व्यक्ति या गाँव का नक्शा नहीं पलटता बल्कि सारे संसार को ही बदलकर रख देता है। उसे तो विश्व-परिवर्तक कहा गया है। उसका तो कर्त्तव्यवाचक नाम ही रचयिता अथवा 'कर्त्ता-पुरुख' है क्योंकि वह तो कलियुग को बदलकर सतयुग ला देता है। बदलने के लिये अन्य किसी में न तो इतनी शक्ति है, न ज्ञान कि जिससे कलियुग का विनाश किया जा सके और सतयुग की स्थापना का कार्य सम्पन्न किया जाए। इतनी सामर्थ्य तो उस एक ही में है। वह बदला तो लेता नहीं, बदलकर रख देता है। अजामिल और गणिका-जैसों को भी वही बदल सकते हैं। जिन मनोविकारों पर विजय प्राप्त करना भक्त लोग असम्भव मान लेते हैं, उन पर विजय प्राप्त करने का कार्य भी वह सम्भव करा देते हैं।

इस प्रकार, परमात्मा में सभी विशेषताएं हैं। उसकी याद तो कभी भूलनी भी नहीं चाहिये। तब थोड़ा सोचिये कि उसकी याद क्यों नहीं आती? इनमें से कौन-सा कारण कमज़ोर है? इनमें से किस बात का पूरा विश्वास नहीं है?

ओम् शान्ति